उत्तर प्रदेश
राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय

MAPS – 02
प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन

खंड
1

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन के विभिन्न उपागम

इकाई 1

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की अवधारणा 5

इकाई 2

प्रकृति और विशेषताएं 23

इकाई 3

प्राचीन भारत में गणतन्त्र 44

इकाई 4

दक्षिण भारत की राजनीतिक संस्थाएं 62

विशेषज्ञ समिति

प्रो. देवेन्द्र प्रताप सिंह कुलपति उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद	अध्यक्ष
डॉ. आर.के. मणि त्रिपाठी अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय गोरखपुर	विषय विशेषज्ञ
डॉ. एल.डी. ठाकुर अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष राजनीतिशास्त्र विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	विषय विशेषज्ञ
प्रो. एस.एम. सईद राजनीतिशास्त्र विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	विषय विशेषज्ञ
डॉ. मंजूलिका श्रीवास्तव रीडर, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय नई दिल्ली	दूरस्थ शिक्षा विशेषज्ञ
डॉ. आर.के. बसलस कुलसचिव उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद	सचिव

कार्यक्रम संयोजक : डॉ. हरीश चन्द्र जायसवाल, परामर्शदाता, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सम्पादन : प्रो. एस. के. द्विवेदी, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

PGPS-02 :– *प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन*

लेखक मण्डल

खण्ड एकः	डॉ. मुकुल अस्थाना, रीडर,राजनीतिशास्त्र विभाग, सेन्ट एन्ड्रूज पी.जी. कालेज, गोरखपुर	2 इकाई
खण्ड एकः	डॉ. कार्तिकिय, राजनीतिशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद	2 इकाई
खण्ड दोः	प्रो. राकेश कुमार मिश्र, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	4 इकाई
खण्ड तीनः	डॉ. बी.के. राय, राजनीतिशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद	4 इकाई
खण्ड चारः	डॉ. कमल कुमार रीडर, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	4 इकाई
खण्ड पाँचः	डॉ. के.सी. पाण्डेय, राजनीतिशास्त्र विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी	4 इकाई

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य का कोई भी अंश उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुति अनुमन्य नहीं है।

दूरस्थ शिक्षा परिषद, नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित।

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के अनुमति से पुनः मुद्रित। उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से डॉ. अरूण कुमार गुप्ता कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित, 2019

मुद्रक : चन्द्रकला यूनिवर्सल प्र0लि0 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड प्रयागराज 211002

खण्ड 1 का परिचय : प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन के विभिन्न उपागम

यह खण्ड प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की समझ पैदा करने के लिए उसके विभिन्न आयामों एवं तत्कालीन चिन्तकों की दृष्टिओं पर पड़ने वाले पर्यावरणीय अन्तर्प्रभावों की हमें जानकारी उपलब्ध कराती है। सम्पूर्ण खण्ड चार इकाईयों में विभक्त है। जिसकी प्रत्येक इकाई स्वतन्त्र सोच रखती हुयी एक-दूसरे से अर्थ निष्पादन की दृष्टि से अर्न्तसम्बन्धित है। जिससे प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की वैभित्पताओं एवं विशिष्टओं से हम परिचित होते हैं, साथ ही प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की प्रणालियों पर प्रकाश पड़ता है एवं राजनीतिक परिवेश आकार ग्रहण करता है।

इस खण्ड की प्रथम इकाई इस तथ्य को उजागर करती है कि प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन का अध्ययन अध्येताओं द्वारा किन-किन दृष्टियों से किया गया है। यह इकाई प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन की प्रमुखतया साम्राज्यवादी उपनिवेशवादी, पौर्वोत्यवादी, राष्ट्रवादी, मार्क्सवादी, ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय, नृतत्त्वकेन्द्रित एवं परम्परा मूलक उपागमों पर हमारा ध्यान आकर्षित करती है। साथ ही इन उपागमों का प्रयोग करने वाले विविध चिन्तकों के निष्कर्षों से हमें परिचित कराती है। इस इकाई का मूल ध्येय इन उपागमों की सम्यक् जानकारी उपलब्ध कराना है। जिसमें इसमें अन्तर्निहीन कमजोरियों एवं विशिष्टताओं को ज्ञातव्य कर ही हम प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की समझ पैदा कर सकते हैं।

प्रथम खण्ड की दूसरी इकाई के अध्ययन से हम प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की प्रकृति या स्वभाव एवं उसकी प्रमुख विशेषताओं से परिचित होते हैं। इस इकाई में प्राचीन राजनीतिक चिन्तन की मान्यताओं अथवा मूल्यों को हिन्दू राजनीतिक चिन्तन एवं बौद्ध तथा जैन राजनीतिक चिन्तन शीर्षकों में अलग-अलग प्रस्तुत करने का उद्देश्य यह नहीं है कि इनमें कोई मौलिक भेद था, अपितु ऐसा आपके अध्ययन की सुविधा के लिए किया गया है। इनकी विशिष्टाओं को स्पष्ट करने के प्रयास में इस दार्शनिक परम्परा का पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन से भेद प्रस्तुत करके प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की एक समालोचना प्रस्तुत करना, इस इकाई का प्रधान उद्देश्य है, जिससे आपकी दृष्टि में उपजने वाले भ्रम का निवारण किया जा सके जो हमारे चिन्तन के सम्बन्ध में पाश्चात्य विचारकों के दृष्टिकोणों से पैदा होने का खतरा रहता है।

तीसरी इकाई प्राचीन भारतीय राजनीतिक प्रक्रिया के विनिर्माण में गणों की भूमिका से हमें परिचित कराती है। प्राय: विद्वानों में इस बात को लेकर भ्रम की स्थिति रही है कि प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन राजनीति विहीन या शून्य चिन्तन है। इसका केन्द्रीभूत तत्त्व धर्म है अतएव प्राचीन भारत में राजनीतिक चिन्तन का अभाव रहा एवं राजनीतिक प्रक्रिया प्राय: ठप्प रही है। इस इकाई का उद्देश्य इस भ्रम को दूर करने में हमारी सहायता करेगा क्योंकि इसमें राजनीतिक प्रक्रिया के आकार में संबंध में गणतन्त्रों की स्थापना, उनके विकास एवं पतन के साथ-साथ हम तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक संगठनों की भूमिका एवं क्रिया व्यापार से परिचित हो सकेंगे। साथ ही इस बात पर भी प्रकाश पड़ेगा कि प्राचीन भारतीय चिन्तन का मूल ध्येय एक सभ्य समाज का विनिर्माण करना था जिसका आधार जनकेन्द्रीत अवधारणा थी और उद्देश्य सम्पूर्ण, मानवजाति का कल्याण था—'सर्वे भवन्तु सुखिन:'।

चौथी एवं अन्तिम इकाई विशाल भारत के दक्षिणी राज्यों की राजनीतिक प्रक्रिया एवं संस्थाओं से हमें परिचित कराती है। जिसमें दक्षिणी भारत की भौगोलिक, ऐतिहासिक वर्णन के साथ ही सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक संस्थाओं का विवेचन विभिन्न राजवंशों की व्यवस्था एवं

जीवन पद्धति के माध्यम से कराने पर उसमें बल है। तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक संरचना के प्रमुख वर्ग (अभिजन) एवं सामान्य जनों के मध्य किस प्रकार सन्तुलन पैदा किया गया था एवं साथ ही सैन्य संगठन, प्रशासन, प्रतिनिधि, संस्थाओं, राजस्व प्रणालियों एवं शैक्षिक तथा साहित्यिक संगठनों के माध्यम से राज्य एक समुन्नत प्रणाली एवं परिवेश विनिर्मित कर सके थे। इन तत्वों के आलोक में ही दक्षिणी राज्यों की राजनीतिक प्रणाली का अध्ययन सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की सम्यकता का द्योतक है। यही इस इकाई के अध्ययन की संरचना का मूल ध्येय है।

इकाई 1 : प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की अवधारणा

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 साम्राज्यवादी उपनिवेशवादी-पौर्वात्यवादी उपागम
1.3 राष्ट्रवादी उपागम
 1.3.1 मार्क्सवादी ऐतिहासिक उपागम
 1.3.2 समाजशास्त्रीय एवं नृतत्त्व केन्द्रित उपागम
 1.3.3 परम्परामूलक उपागम
1.4 सारांश
1.5 उपयोगी पुस्तकें
1.6 संबंधित प्रश्न
1.7 प्रश्नोत्तर

1.0 उद्देश्य

इस अध्याय को लिखने का प्रयोजन यह है कि आप इस बात से परिचित हो सकें कि प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन का अध्ययन अध्येताओं द्वारा किन-किन दृष्टियों से किया गया है। इस अध्याय को पढ़ लेने के उपरान्त आप यह जान सकेंगे कि—

- प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन के मुख्यतया पांच उपागम हैं।
- साम्राज्यवादी उपनिवेशवादी, पौर्वात्यवादी उपागम, राष्ट्रवादी उपागम, मार्क्सवादी, ऐतिहासिक उपागम, समाजशास्त्रीय एवं नृतत्त्व केन्द्रित उपागम, परम्परामूलक उपागम।
- इन उपागमों का प्रयोग करने वाले भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भारतीय राजनीतिक चिन्तन के सम्बन्ध में किस प्रकार अलग-अलग निष्कर्षों को नियोजित किया है।
- इन उपागमों की कमजोरियां या कमियां क्या हैं, और क्यों इनका प्रयोग कर वियोजित किए गए निष्कर्षों को सम्यक् नहीं माना जा सकता है।

1.1 प्रस्तावना

प्राचीन भारत का राजनीतिक चिन्तन विद्वानों (विशेषकर पाश्चात्य विद्वानों) के लिए कभी बहुत आकर्षण का विषय नहीं रहा। इसका कारण था कि इस चिन्तन परम्परा का स्वभाव पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन की परम्परा के लक्षणों को प्रदर्शित नहीं करता। कुछ विद्वानों ने तो यह मानने से इन्कार ही कर दिया है कि प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन का कोई अस्तित्व भी है। कुछ इसे मिथकीय मान कर इसकी आलोचना करते हैं, तो दूसरी ओर, कुछ विद्वानों के लिए प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन से कम मूल्यवान नहीं है। इतिहास के प्रति एक खास प्रकार की दृष्टि अपनाते हुए कुछ दूसरे विद्वान यथार्थ निष्कर्ष प्रस्तुत करने का दावा करते है। परन्तु विद्वानों का एक समूह भारतीय राजनीतिक चिन्तन को भारतीय सांस्कृतिक परम्परा की परिधि में ही समझे जाने पर बल देता है। ऐसी स्थिति में प्राचीन भारत की राजनीतिक धारणाओं का अध्ययन करने के लिये विद्वानों द्वारा भिन्न-भिन्न उपागमों का प्रयोग किया गया है।

प्राचीन भारत के राजनीतिक सिद्धांतों और विचारों का अध्ययन जिन विभिन्न दृष्टियों या उपागमों के द्वारा किया गया है वे मुख्यतया पांच हैं—पहला, साम्राज्यवादी उपनिवेशवादी पौर्वात्यवादी उपागम; इसकी प्रतिक्रिया में जो दूसरा उपागम है वह है राष्ट्रीय स्वाभिमान और चेतना से अभिप्रेरित राष्ट्रवादी उपागम; तीसरा, मार्क्सवादी ऐतिहासिक उपागम; चौथा, योरूपीय मनीषा द्वारा प्रदर्शित समाजशास्त्रीय

एवं नृतत्व केन्द्रित उपागम; पांचवाँ, परम्परामूलक उपागम एक छठा उपागम भी मनीषियों ने स्वीकार किया है। इसे निम्न वर्गीय, प्रसंग केन्द्रित उपागम कहा जा सकता है, किन्तु प्राचीन भारत के इतिहास लेखन और राजनीतिक विचारों के निरूपण में अधिकृत रूप से इसकी कोई पहल दीख नहीं पड़ती। भले ही आधुनिक भारत के इतिहास और विचारों की व्याख्या में इसने महत्वपूर्ण संवाद का श्री गणेश किया हो। इस प्रकार केवल पांच ही उपागम हैं जिन्होंने प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारों की अपने ढंग से प्रस्तुति और उसका निरूपण किया है।

1.2 साम्राज्यवादी-उपनिवेशवादी-पौवत्यिवादी उपागम

भारत के सम्बन्ध में पश्चिमी जगत को प्रारम्भ में विदेशी पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखो और संस्मरणों से जानकारी प्राप्त होती रही। इस आधार पर भारत के सम्बन्ध में उनकी धारणाएं बद्धमूल होती चली गयीं जिसे पश्चिमी विद्वानों ने अपने पांडित्य के आधार पर व्यवस्थित रूप देने का प्रयास किया। चूंकि भारत पर विदेशी सत्ता स्थापित होती गयी इसलिए उन विद्वानों ने विदेशी सत्ता, उसकी संस्कृति, उसके ज्ञान विज्ञान, नैतिक आदेश और अपने धर्म की श्रेष्ठता को प्रमाणित करने की दृष्टि से भारतीय संस्कृति सभ्यता, प्राचीन भारतीय कृतियों और उसके राजनीतिक विचारों की तदनुरूप व्याख्या प्रस्तुत की इस प्रकार उन्होंने भारतीय सभ्यता का एक मन:कल्पित चित्र प्रस्तुत किया।

महात्मा गाँधी ने 'हिन्द स्वराज' में भारत को समझाने की अंग्रेज शासकों की दृष्टि का बड़ा खंडन किया है। उनके अनुसार ये साम्राज्यवादी अहंकार की उपज है। इसी बात को सन् 1977 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'ओरियण्टलिज्म' में एडवर्ड सईद ने भी कहा है। सईद के लिये ओरियण्टलिज्म वह योरुपीय दृष्टि है जो योरुपीय संस्कृति को श्रेष्ठ मानने वाले विचारकों ने एशियाई, इस्लामी और अफ्रिकी संस्कृतियों के अध्ययन के लिये स्वीकार की है। यह योरुपीय मानस में गैर योरुपीय संस्कृतियों की एक काल्पनिक संरचना है। इसी काल्पनिक संरचना के संदर्भ में उनकी साम्राज्यवादी शासन की नीतियों में संशोधन और परिवर्तन होता रहा है।

भारत के प्रति इनकी धारणाएं वही हैं जो गैर योरुपीय संस्कृतियों के सम्बन्ध में थीं। इन धारणाओं की प्रमुख मान्यताएं इस प्रकार हैं—

साम्राज्यवादी शासक और उसकी सत्ता को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रुप से समर्थन प्रदान करने वाले मनीषियों की धारणा थी कि भारतवर्ष में शताब्दियों से निरंकुश राजतंत्र का ही शासन रहा है। इस बात का सर्वप्रथम उल्लेख जिस प्रसिद्ध विचारक की कृति में होता है वह है फ्रान्सीसी दार्शनिक बोंदा। उसके अनुसार गर्म जलवायु के प्रदेशों में शासनतंत्र निरंकुश होता ही है। यही बात बाद में मांटेस्क्यू ने भी कही है, और उसकी बात का आधार भी जलवायु है। हेगल ने भी इस बात का समर्थन किया है कि भारत में निरंकुश शासनतंत्र ही विद्यमान था, और इस शासनतंत्र में केवल एक व्यक्ति ही स्वतंत्र था और वह था निरंकुश शासक हेगल के द्वंद्वात्मक तर्कशास्त्र के अनुसार इस स्थापना में कि भारत में एक मात्र निरंकुश शासक ही स्वतंत्र था और सारी जनता गुलाम, उसका निषेध भी निहित था कि जिस समाज में अकेले शासक ही स्वतंत्रता का बोध कर रहा है उसमें शासक निरन्तर सामान्य जनता से भयाक्रान्त रहता है। इसलिए भयान्वित होने के नाते वह अपनी स्वतंत्रता का बोध नहीं कर पाता। अन्ततोगत्वा वह भी स्वतंत्र नहीं रह पाता है। फलस्वरूप निरंकुश शासनतंत्र में व्यवहारत: कोई भी स्वतंत्र नहीं होता—शासक जनता से भयाक्रान्त होने के नाते, और जनता विधानत: शासक की गुलामी के नाते।

हेगल के उपरान्त जर्मन दार्शनिक कार्ल मार्क्स, जो हेगल के विचारों से अत्यधिक प्रभावित था, ने भारत समेत सारे एशिया को एशियाई उत्पादन व्यवस्था का क्षेत्र माना है। इस उत्पादन व्यवस्था का लक्षण है कि शासक निरंकुश है, और वह जनता से कर वसूलता है। जनता कर दे सके इसके लिए वह कृषि को प्रोत्साहित करता है। कृषि के प्रोत्साहन के लिये वह सिंचाई की व्यवस्था करता है। इसी को जल अभियांत्रिकी भी कहा गया है। मार्क्स के अनुसार एशिया में शताब्दियों तक यही व्यवस्था प्रचलित थी भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि से विकसित नहीं हो सके वे आलसी, अकर्मण्य और

प्रमादी थे। बौद्धिक परिश्रम न करने के कारण उनकी धारणाएं अन्धविश्वास, जादू-टोना और प्रकृति पूजा इत्यादि में केन्द्रित रह गयी। कुल मिलाकर भारतीय समाज शताब्दियों से ठहरा हुआ एक सड़ता समाज रहा है।

इसके अतिरिक्त कार्ल मार्क्स ने यह भी कहा है कि अंग्रेजों के शासन के कारण भारत की अर्थव्यवस्था नष्ट हो गयी, और भारत का पारम्परकि समाज बिखर गया किन्तु अंग्रेजी शासन के प्रभाव में ही भारत को आधुनिक बनने का अवसर भी प्राप्त हो रहा है। अंग्रेजी शासन की लूट और शोषण के बावजूद अंग्रेज ही भारत को इतिहास की मुख्यधारा से जोड़ने का काम कर रहा है। मार्क्स किसी भी प्रकार के शोषण का समर्थक नहीं था किन्तु योरुपीय विचारक होने के नाते उसने योरुपीय सभ्यता व संस्कृति की श्रेष्ठता को स्वीकार कियां था। इसलिए साम्राज्यवादियों की भांति वह भी योरूप से इतर सभ्यताओं को विज्ञान और चिन्तन की दृष्टि से अविकसित मानता था।

साम्राज्यवादी दृष्टिकोण के अनुसार भारतीय चिन्तन रहस्यवादी, धर्म केन्द्रित और स्वप्निल था। लौकिक जीवन के सम्बन्ध में उनकी दृष्टि यथार्थवादी नहीं थी। इसीलिए पाश्चात्य चिन्तकों और विचारकों के अनुसार भारतवर्ष में राजनीतिक चिन्तन था ही नहीं। इस सम्बन्ध में उनका सारा चिन्तन बस इस बात तक सीमित था कि राजा को क्या करना चाहिए और प्रजा का क्या कर्तव्य है। भारत में राज्य सम्बन्धी प्रश्नों पर सिद्धान्त चर्चा की ही नहीं गई है। बार्कर के अनुसार राजनीतिक चिन्तन यूनानियों से प्रारम्भ होता है। भारत और यूनान की तुलना करते हुए उसने लिखा है कि भारतवर्ष धर्म के क्षेत्र में ही अधिक चिन्तनशील है। श्रद्धा व विश्वास के आधार पर ही इनका धर्म सम्बन्धी चिन्तन विकसित हुआ है। इसके विपरीत यूनानी बुद्धि और तर्क के सहारे दृश्यजगत की व्याख्या करते हैं। इस प्रकार यूनानीयों के लिए दार्शनिक चिन्तन बुद्धि प्रसूत है और भारतीय चिन्तन श्रद्धाप्रसूत। यही बार्कर का निष्कर्ष है। विलोबी का मत है कि पौर्वात्य देशों के निवासी धर्म और विधि का अनमोल मिश्रण करते थे। इसलिए उन्होंने राजनीति विज्ञान को ज्ञान की एक शाखा के रूप में विकसित ही नहीं किया। कुछ इसी तरह की मिलती-जुलती बात इनिंग ने भी कही है। उसका मानना है कि सही अर्थों में यदि कोई राजनीतिक है तो वह योरूप निवासी ही है। पूर्व के देशों ने धर्मशास्त्र और तत्वशास्त्र के संदर्भ में ही राजनीति का विश्लेषण किया है, इसलिए राजनीतिक चिन्तन का कोई स्वतंत्र अस्तित्व इन देशों में नहीं है।

योरुपीय चिन्तन परम्परा को कसौटी मानकर भारतीय राजनीतिक चिन्तन को रहस्यवादी, धर्ममय और परलोक उन्मुख बनाने की ही प्रवृत्ति साम्राज्यवादी प्रभाव के अन्तर्गत विकसित हुई थी। इसमें संदेह नहीं है कि साम्राज्यवाद के प्रसार के साथ ही साथ भारत में योरुपीय शोध अध्येताओं का आगमन प्रारम्भ हुआ, और उन्होंने प्राचीन भारत की कृतियों का सम्पादन व प्रकाशन प्रारम्भ किया। किन्तु इस अनुदान के बावजूद उनकी दृष्टि भारतीय मनीषा को समझने में असफल रही। मैक्समूलर ने सन् 1859 में लिखा था कि भारतीय मनीषा राजनीतिक और लौकिक चिन्तन से वंचित है इसलिए उनमें राष्ट्रीयता की धारणा का अभाव है। मैक्समूलर की यह धारणा भारत के सम्बन्ध में रूढ़ योरूपीय दृष्टि का प्रतीक थी। अरस्तू ने भी इस बात की ओर संकेत किया था कि पूरब के राज्यों में स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश शासनतंत्र है। यही बात निरन्तर दुहराई जाती रही, और इसी क्रम में मैक्समूलर ने भी इसी तरह की धारणा को प्रस्तुत किया था।

प्राचीन भारतीय चिन्तन से सम्बन्धित योरुपीय मनीषीयों की कृतियों में सामान्यतया इसी प्रकार के आकलन उपलब्ध हैं।

1.3 राष्ट्रवादी उपागम

भारत के प्रति साम्राज्यवादी दृष्टिकोण का विरोध उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों से प्रारम्भ हुआ। बहुत से विद्वानों के नाम इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। राम शरण शर्मा ने भगवान लाल इन्द्र जी, आर०जी० भंडारकर, आ०एल० मित्र और बाल गंगाधर तिलक का उल्लेख किया है। इन मनीषियों ने न केवल राजनीतिक व सांस्कृतिक आन्दोलनों में सक्रिय भाग लिया, बल्कि अपने शोध अध्ययनों

द्वारा भारत के अतीत की समानान्तर व्याख्या भी प्रस्तुत की। राष्ट्रीय आन्दोलन की स्पष्ट छाया इस प्रकार के ऐतिहासिक अध्ययनों पर दीख पड़ती है। अंग्रेजी सरकार की निरंकुशता के विरोध में प्राचीन भारत के न्यायप्रिय सम्राट् की अवधारणा प्रस्तुत की गयी। उमेश चन्द्र दत्त ने सन् 1887 में एक लेख लिखा जिसका शीर्षक था 'सिविलाईजेशन इन ब्रह्मिन पीरियड'। उनका निष्कर्ष था कि प्राचीन भारत में राजा का शासन धर्मानुकूल था, और वह सब के प्रति समान रूप से न्यायप्रिय था। अंग्रेज यह मानते थे कि उन्हीं से भारतीयों ने यह सीख ग्रहण की कि राजा का उद्देश्य जनता का कल्याण है। इस सम्बन्ध में रामशरण शर्मा ने सरआकलैण्ड कल्विन का नाम उद्धृत किया है। उसकी यही धारणा थी। पर काल्विन तो ऐसे अनेक विद्वानों में से एक है। जेम्स मिल की पुस्तक 'हिस्ट्रीआफ ब्रिटिश इण्डिया' और चार्ल्स ग्राण्ट के लेख इस बात को पहले भी रेखांकित कर चुके थे।

इस दृष्टि के समानान्तर पुर्णनेन्दु नारायण सिंह ने दूसरी स्थापना प्रस्तुत की। यह लेख सन् 1824 में लिखा गया। उनके अनुसार योरुपीय दृष्टि भारतीय शासन व्यवस्था के प्रति पाश्चात्य विद्वानों के अज्ञान की सूचक है। वस्तुत: प्राचीन भारत में सीमित राजतंत्र था। उनकी इस स्थापना का निहित अर्थ था कि राजा निरंकुश ही है, और वह अपने अधिकार का प्रयोग धर्म द्वारा स्थापित मर्यादाओं के अनुसार ही करता है। राष्ट्रवादी आन्दोलन को गति प्रदान करने के लिए इस प्रकार के विचार बड़े ही सहायक थे। अंग्रेजों की निरंकुशता पर वैचारिक प्रहार आवश्यक था। इस प्रकार के लेखों से राष्ट्रीय आन्दोलन के इस लक्ष्य की पुष्टि हुई कि भारतवर्ष में गर्वनर जनरल की सत्ता को संकुचित या सीमित किया जाय। उसे स्वेच्छाचारी शक्ति का प्रयोग करने से रोका जाय।

इन लेखकों ने इस बहस का सूत्रपात किया कि प्राचीन भारत में राजतंत्र सीमित था, और इसकी सीमाएं धर्म, नीति और प्रतिनिधि संस्थाओं द्वारा निर्धारित की जाती थीं, यदि धर्म को परलोकोन्मुखी मानें तो कम से कम नीति और प्रतिनिधि संस्थाएं तो लौकिक ही हैं। इनके द्वारा राजतंत्र को सीमित करने का अर्थ है कि राज्य पर लौकिक प्रतिबन्ध लगाए गए थे। साथ ही साथ इन प्रतिबन्धों से यह भी सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत में राज्य सम्बन्धी चिन्तन मूलत: शक्ति को मर्यादित करने के पक्ष में था। इस तरह की चर्चाएं तभी हो सकती हैं जब राज्य, शासन, राजा और प्रजा के सम्बन्ध में प्रश्न उठें और उनका समाधान खोजा जाय। यह प्राचीन भारत में राजनीतिक चिन्तन के अस्तित्व का प्रमाण है। अत: पाश्चात्य विद्वानों की यह बात निराधार है कि भारतीयों ने राजनीतिक चिन्तन को विकसित ही नहीं किया।

इस दिशा में एक महत्वपूर्ण उप्लब्धि है डा० काशी प्रसाद जायसवाल की पुस्तक 'हिन्दू पॉलिटी'। इस पुस्तक ने परवर्तीकाल के शोध अध्येताओं को प्रभावित भी किया। डा० जायसवाल ने इस बात पर संतोष भी व्यक्त किया था कि प्राचीन भारत सम्बन्धी उनके शोध के निष्कर्ष दूसरों द्वारा अपनाए और उद्धृत किए जा रहे हैं। पुस्तक प्रकाशित होने के पहले से ही डा० जायसवाल ने अपने निष्कर्षों को 'मार्डन रीव्यू' में प्रकाशित किया था। इसके अतिरिक्त 'कैलकटा वीकली नोट्स' और 'हिन्दीलिटरेरी कानफरेंस', 1912 में उन्होंने अपने विचार प्रस्तुत किए थे। उनके इस चिन्तन को व्यवस्थित स्वरूप प्राप्त हुआ सन् 1924 में जब उनकी पुस्तक 'हिन्दू पॉलिटी' का प्रकाशन हुआ। इस पुस्तक में उन्होंने यह प्रमाणित किया है कि प्राचीन भारत में संवैधानिक संस्थाएं थीं। वे राजा की शक्तियों को सीमित करती थीं। इन संस्थाओं के निर्णय विचार विनिमय के उपरान्त लिए जाते थे। इन संस्थाओं की प्रक्रिया लोकतांत्रिक थी। इस प्रकार उन्होंने प्रकारान्तर से अंग्रेजों की इस धारणा पर प्रहार किया कि प्राचीन भारत में राज्य सम्बन्धी चिन्तन का अभाव था। जायसवाल की पुस्तक अंग्रेजों के विचारों का खण्डन करते हुए यह स्थापित करती है कि भारत में न केवल राज्य सम्बन्धी चिंतन था बल्कि लोकतांत्रिक संस्थाएं भी जीवन्त थीं। निष्कर्षत: भारतीय ऐसे शासन के लिये सक्षम हैं जिसका आधार आत्मनिर्णय है।

के०पी० जायसवाल की पुस्तक इतिहासकारों की आने वाली पीढ़ी के लिये मील का पत्थर सिद्ध हुई। अल्टेकर और बी०के० सरकार आदि बहुत से विद्वानों ने इस पुस्तक की महत्ता को स्वीकार किया। स्वत: जायसवाल के लिए यह पुस्तक भारत का अतीत नहीं भारत का भविष्य है। जायसवाल की इस धारणा में राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम की गूंज भी सुनाई पड़ती है, और शायद उनके विचारों में

निहित सिद्धान्तों और धारणाओं के नाते उन्हें ब्रिटिश सरकार का कोपभाजन बनना पड़ा। सर आशुतोष मुखर्जी, कुलपति, कलकत्ता विश्वविद्यालय ने डा० जायसवाल को उनके प्रोफेसर पद से खेद के साथ पदमुक्त किया।

जायसवाल के समकालीन बहुत से लेखकों ने प्राचीन भारत में शासन व्यवस्था का व्यवस्थित अध्ययन प्रारम्भ किया। रामशरण शर्मा ने अपनी पुस्तक 'एस्पेक्ट्स आफ पोलिटिकल आईडियाज इन एन्शियन्ट इण्डिया' में इस प्रकार के साहित्य का संक्षिप्त विवरण उपस्थित किया है। जायसवाल के शोध निष्कर्षों से प्रभावित होकर 'मार्डन रीव्यू', 'हिन्दुस्तान रीव्यू' और 'इण्डियन एन्टीक्वेरी' में इन अध्येताओं ने लेख पर लेख प्रकाशित किए। सन् 1916 और सन् 1925 के बीच प्राचीन भारत पर, शर्मा के अनुसार, जितने लेख प्रकाशित हुए उतने किसी भी काल में नहीं हुए। इनमें उल्लेखनीय है पी०एन०बनर्जी की पुस्तक 'पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन एन्शियन्ट इण्डिया'। बनर्जी का यह निष्कर्ष था कि प्राचीन भारतीय राजनीतिक प्रणाली संवैधानिक राजतंत्र थी। इसे सचिव तंत्र भी कहा जा सकता है। राजतंत्र और गणतंत्र दोनों शासन प्रणालियो में सार्वजनिक सभा और समितियों का विशेष महत्त्व था। उसी वर्ष के०पी० रंगास्वामी अयंगर की पुस्तक 'सम एस्पेक्ट्स आफ इण्डियन पॉलिटी' भी प्रकाशित हुई। अयंगर का विचार समकालीन इतिहासकारों की मुख्य धारा से थोड़ा भिन्न था। उनकी धारणा थी कि सामयिक सामाजिक-राजनीतिक विवादों को सुलझाने के लिए प्राचीन भारत के राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। पर वे यह भी मानते थे कि जब तक यह धारणा बद्धमूल रहेगी कि प्राचीन भारतीय अप्रगतिशील थे तब तक प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में शोध की अत्यधिक आवश्यकता पड़ेगी।

अंग्रेजी शासकों का यह दुष्प्रचार था कि भारतीय स्वभावतः स्वार्थी और व्यक्तिवादी हैं। उनमें सहकारित्व का भाव नहीं है। इसका खण्डन किया है रमेश चन्द्र मजूमदार ने। उन्होंने एक पुस्तक लिखी जिसका शीर्षक था ' कारपोरेट लाइफ एन एन्शियन्ट इण्डिया' यह पुस्तक सन् 1918 में प्रकाशित हुई थी। उनके अनुसार आज भारतीयों की जो स्थिति है वैसी प्राचीन भारत में नहीं थी। उस समय भारतीयों में सहयोग और सहकारिता की भावना थी। वे समष्टि के प्रति निष्ठावान थे। मजूमदार के अनुसार उनकी समकालीन सभ्यता में जो सहयोग की धारणा है उसी से प्रभावित होकर उन्होंने प्राचीन भारत में सार्वजनिक जीवन में सहकारिता और सहयोग को निरूपित करने का प्रयास किया। उनके अनुसार यह बड़े दुख की बात है कि जिन राजनीतिक संस्थाओं को हम पाश्चात्य सभ्यता की उत्पत्ति मानते हैं प्राचीन भारत में उनके अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए अधिक परिश्रम की आवश्यकता होती है। यह एक आधुनिक भ्रान्ति है कि प्राचीन भारत में केवल धर्म चिन्तन का विषय था। प्राचीन भारतीयों ने धर्म से इतर बातों पर भी ध्यान दिया है।

शामशस्त्री की पुस्तक 'इबोल्यूशन आफ इण्डियन पॉलिटी' जो सन् 1920 में प्रकाशित हुई वह मजूमदार की धारणाओं का ही निरूपण और समर्थन है। सन् 1921 में एन०एन० लॉ की पुस्तक 'अस्पेक्टस आफ एन्शियन्ट इण्डियन पॉलिटी' प्रकाशित हुई। उसकी प्रस्तावना में लॉ ने यह लिखा है कि यह पुस्तक कुछ महत्वपूर्ण योरुपीय पूर्वाग्रहों पर प्रहार करने के उद्देश्य से लिखी गयी है। ये पूर्वाग्रह हेगल, कजे, मैक्समूलर, मेन, जेनेट, स्मिथ, विलोबी और हरिंग्टन की कृतियों में सन्निहित हैं। लॉ के अनुसार आज के गुलाम एशिया की तुलना प्राचीन एशिया से करना एक बड़ी भूल है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि धर्म राजनीति पर पूरी तरह कभी भी हावी नहीं था। वस्तुतः हिन्दू राज्य पूर्णतया पंथनिरपेक्ष थे, ये राज्य अपनी सार्वजनिक नीतियों के निर्माण में धर्म का अनुसरण नहीं करते थे। इनकी नीतियां जनकल्याणकारी होती थीं, और इसी उद्देश्य से ये बनाई जाती थीं।

इसी क्रम में सन् 1923 में एक पुस्तक प्रकाशित हुई जो आज तक प्राचीन भारतीय चिन्तन के अध्येताओं के लिये मील का पत्थर बनी हुयी है। यह पुस्तक है डा० यू०एन० घोषाल की 'ए हिस्ट्री आफ हिन्दू पोलिटिकल थियरी'। बाद में सन् 1959 में इसी पुस्तक का आकार बढ़ा कर इसे 'ए हिस्ट्री आफ इण्डियन पोलिटिकल आईडियाज' शीर्षक से डा० घोषाल ने प्रकाशित किया। इसकी सामान्य भूमिका में डा० घोषाल ने जेनेट, इनिंग, और बिलोबी की इस धारणा का खण्डन किया कि प्राचीन भारत में राज्य की कोई अवधारणा ही नहीं थी। घोषाल ने इस बात पर भी जोर दिया कि

भारतीयों ने अपनी संस्थाओं के औचित्य की विवेकसम्मत एवं युक्तितर्क मूलक व्याख्या प्रस्तुत की है। जो पाश्चात्य समीक्षक यह मानते हैं कि भारतीय अपनी आस्था और विश्वास के नाते अपनी संस्थाओं के सम्बन्ध में प्रश्न नहीं उठाते हैं और न उनका समाधान करते हैं वे इस बात को भूल जाते हैं कि बहुत से ग्रन्थों में प्राचीन भारत में बुद्धि अथवा विवेक को विधि का स्रोत माना गया है। घोषाल ने अपनी पुस्तक के माध्यम से प्रचुरमात्रा में साक्ष्य देकर पाश्चात्य समीक्षकों की धारणाओं का बहुत मजबूती के साथ खण्डन किया है।

राष्ट्रवादी भावनाओं से प्रभावित होकर आधुनिक भारतीय मनीषियों ने प्राचीन भारत में राजनीतिक चिन्तन, राज्य की उत्पत्ति और व्याख्या और राजनीतिक संस्थाओं के सम्बन्ध में शोध और उनके निरूपण का जो सिलसिला प्रारम्भ किया था वह घोषाल की पुस्तक के प्रकाशन के बाद भी चलता रहा। इसी क्रम में कुछ ऐसी भी पुस्तकें प्रकाशित हुईं जिन्होंने प्राचीन भारत में अन्तर्राष्ट्रीय विधि और उसके द्वारा राज्यों के नियमन की भी चर्चा की। पी०ए० बनर्जी की पुस्तक 'इन्टरनेशनल लॉ एण्ड कस्टम इन एन्शियन्ट इण्डिया' और एस०बी० विश्वनाथ की पुस्तक 'इन्टरनेशनल लॉ इन एन्शियन्ट इण्डिया' प्रकाशित हुई। अन्तर्राष्ट्रीय विधान के अतिरिक्त प्राचीन भारत में लोकप्रशासन से भी सम्बन्धित पुस्तकों का प्रकाशन हुआ। इनमें उल्लेखनीय हैं एस०के० अयंगर की पुस्तक 'इवोल्यूशन आफ हिन्दू एण्डमिनिस्ट्रेटिव इन्सटीट्यूशन्स इन साउथ इण्डिया', दिक्षित्पर की पुस्तक 'हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इन्सटीट्यूशन्स' और आर०के० मुखर्जी की पुस्तक 'लोकल गर्वनमेन्ट इन एन्शियन्ट इण्डिया'। इन पुस्तकों में विस्तार से प्राचीन भारत की लोक प्रशासनिक व्यवस्था का वर्णन किया गया है, और उसकी संरचना का अध्ययन किया गया है।

योरुपीय धारणा के समानान्तर प्राचीन भारत की श्रेष्ठता प्रमाणित करने की दृष्टि से ये पुस्तकें राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के संचालन में वैचारिक अस्त्र बन गयीं। इन्होंने निश्चित रूप से कुछ भ्रान्तियों का खण्डन किया—पर अतिरेक के साथ उत्साह में वे भूल गये कि योरुपीय धारणाओं को प्राचीन भारत में तलाशना स्वत: अपने आप में एक प्रकार का पूर्वाग्रह है। डा० बेनी प्रसाद ने अपनी दो पुस्तकों—'स्टेट इन एन्शियन्ट इण्डिया' और 'स्टेट एण्ड गर्वन्मेन्ट इन एन्शियन्ट इण्डिया' में इस बात की ओर संकेत किया है कि आधुनिक योरुपीय सिद्धान्तों को प्राचीन भारत में ढूंढ़ना उचित नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि राष्ट्रवादी कृति ने बौद्धिक अतिरेक का परिचय दिया, पर यह अतिरेक भी योरुपीय पूर्वाग्रहों के अतिरेक का उत्तर था।

1.3.1 मार्क्सवादी-ऐतिहासिक उपागम

प्राचीन भारतीय इतिहास और चिन्तन के मूल्यांकन का तीसरा उपागम है मार्क्सवादी-ऐतिहासिक उपागम। इस उपागम के अनुसार चिन्तन या विचार, सामाजिक संरचना—सभी कुछ मूलत: उत्पाद की प्रणाली के अनुरूप रहता है। उत्पादन की प्रणाली समाज की आर्थिक संरचना का सूचक है और यही समाज का मूलाधार भी है। मार्क्सवादियों के अनुसार जैसे-जैसे समाज की उत्पादन प्रणाली परिवर्तित होती है उसी प्रकार उन परिवर्तनों के अनुरूप राज्य की संरचना, कानून, नीतियां और चिन्तन भी परिवर्तित होता है। इसलिए मार्क्सवादियों के लिए राजनीतिक विचार की स्वतंत्र सत्ता नहीं है। मार्क्स के कुछ अनुयायी जैसे ग्राम ची, लूकाच का मानना है कि विचार भौतिक परिस्थितियों के दर्पण नहीं हैं, और न ही उनकी प्रतिक्रिया विचारों की स्वतंत्र सत्ता है। कभी-कभी उनके परिवर्तित होने से उत्पादन की शक्तियां परिवर्तित होती हैं, और फलस्वरूप उत्पादन की प्रणाली भी प्रभावित होती है। किन्तु मार्क्सवाद के सम्बन्ध में जो धारणा अत्यन्त रूढ़ हुई वह यही थी कि आर्थिक संरचना की छाया ही विचारों का जगत है। सामान्यतया प्राचीन भारतीय चिन्तन की मार्क्सवादी व्याख्याएं इसी धारणा से प्रभावित हैं। इस संदर्भ में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के भूतपूर्व महामंत्री श्री पाद अमृत डांगे की पुस्तक 'इण्डिया : फ्राम प्रिमिटव कम्युनिज्म टू स्लेबरी' उल्लेखनीय है। इस पुस्तक में उन्होंने मार्क्स द्वारा प्रस्तुत पाश्चात्य सामाजिक इतिहास की विभिन्न अवस्थाओं को सार्वभौम ऐतिहासिक सत्य मान कर भारतवर्ष पर भी लागू किया है।

श्रीपाद अमृत डांगे द्वारा प्रस्तुत रूप-रेखा से एक दूसरे मार्क्सवादी विचारक डी०डी० कोशाम्बी ने

अपनी पुस्तक 'द कल्चर एण्ड सिविलाईजेशन आफ एन्शियन्ट इण्डिया इन हिस्टारिकल आउटलाइन' में अपना मतभेद व्यक्त किया है। इसी क्रम में उनकी दूसरी पुस्तक है 'इन्ट्रोड्क्शन टू इण्डियन हिस्ट्री'। कोशाम्बी मार्क्स की धारणाओं से प्रभावित थे किन्तु रूढ़ मार्क्सवादी नहीं थे। वह यह मानते थे कि उनकी स्थिति आर्थिक नियंत्रणवाद से नितांत भिन्न है। विशेषकर भारत के संदर्भ में जहां प्रारूप विषयवस्तु की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। उनका कहना है कि आर्थिक नियंत्रण वाद को स्वीकार कर कुछ भी नहीं समझा जा सकता है। यह न अनिवार्य है और न सत्य है कि एक निश्चित मात्रा की समृद्धि किसी खास प्रकार के विचार को सम्भव बनाएगी। फिर भी उन्होंने सामान्यतया यह स्वीकार किया है कि उत्पादन शक्तियों के परिवर्तन—जैसे प्रविधि का विकास, नये-नये औजारों का अविष्कार—उत्पादन सम्बन्धों को परिवर्तित करते हैं। फलस्वरूप अतिरिक्त उत्पादन प्रभुत्वशाली वर्ग द्वारा नियंत्रित होता है। उसकी सुरक्षा के निमित्त राजनीतिक धारणाएं बनती हैं। इसीलिए इन समाजों में सम्पत्ति का संरक्षण और उसकी समृद्धि को राजा का आवश्यक धर्म बताया गया है। राजधर्म के अन्तर्गत समाज में स्थापित उत्पादन सम्बन्धों का व्यवस्थापन सन्निहित किया गया है। इसी के अनुरूप आचरण की पद्धतियां निर्धारित की गयी हैं, और दण्ड विधान की व्यवस्था की गयी है।

अपनी पुस्तक 'द कल्चर एण्ड सिविलाईजेशन आफ एन्शियण्ट इण्डिया इन हिस्टारिकल आउट लाइन' की भूमिका में कोशाम्बी ने यह मत व्यक्त किया है कि कुछ अध्येता यह मानते है कि संस्कृति धर्म, दर्शन, विधि व्यवस्था, साहित्य, कला और संगीत के रूप में बौद्धिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का समुच्चय है, उनकी यह धारणा इतिहास को समझने में बड़ी कठिनाइयां उत्पन्न करती है। कोशाम्बी की दृष्टि में संस्कृति और सभ्यता की उप्लब्धियां सम्भव ही नहीं थीं। यदि अतिरिक्त उत्पादन और उसका संचय किसी प्रभुत्वशाली वर्ग के स्वामित्व में न होता। इसीलिए कोशाम्बी की दृष्टि में इतिहास उत्पादन के साधनों और सम्बन्धों के क्रमानुसार परिवर्तनों के कालानुक्रम की प्रस्तुति है। यह उनकी इतिहास सम्बन्धी परिभाषा है। इसीलिए वह रूढ़ मार्क्सवादी तो नहीं हैं, किन्तु मार्क्सवादी जरूर हैं। इसी आधार पर उन्होंने भगवद्‌गीता की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया है कि गीता में भक्ति का आदेश सामन्तवादी विचारधारा के अनुकुल था। कोशाम्बी का संकेत इस ओर है कि जिस प्रकार भक्ति के आदेशों के अनुसार भगवान के प्रति भक्त का सर्मपण भक्त के जीवन की चरम उपलब्धि है उसी प्रकार सामन्तवादी सम्बन्धों में सामन्त के प्रति कृषक का समर्पण उसके जीवन का उद्देश्य होना चाहिए अथवा राजा के प्रति प्रजा का समर्पण प्रजा के जीवन का उद्देश्य होना चाहिए। समर्पण की यह धारणा सम्भवत: इस बात पर आधारित है कि राजा को स्वामी भी कहा गया है, अथवा कहीं-कहीं उसे पिता-तुल्य भी माना जाता है। स्वामित्व और पितृत्व दोनों का संयोग राजधर्म के अन्तर्गत है, और जिस समाज में इस धारणा को स्वीकार किया गया है उसमें मूलत: वर्ग विभाजन है और जिस वर्ग का प्रतिनिधि राजा है वह प्रभुत्वशाली वर्ग है, और वही अतिरिक्त उत्पादन का स्वामी।

गोविन्द चन्द्र पाण्डेय ने अपनी पुस्तक 'ऐन एप्रोचटू इण्डियन कल्चर एण्ड सिविलाजेशन' में डांगे और कोशाम्बी की उपर्युक्त पुस्तकों की तुलनात्मक विवेचना करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि डांगे की पुस्तक कोशाम्बी की तुलना में अधिक मौलिक है। कोशाम्बी ने सामान्यतया उन्हीं तथ्यों को प्रस्तुत किया है—ऐतिहासिक परिवर्तनों के संदर्भ में—जो सर्वमान्य हैं, जैसे जनजतीय समाजों का टूटना और कृषक समाजों का अर्विभाव और उन्हीं समाजों से किसी प्रकार की सामन्तवादी व्यवस्था के कुछ लक्षणों का विकास। वैसे, डांगे की पुस्तक रूढ़ मार्क्सवाद की शैली में भारतीय समाज के विकास की व्याख्या प्रस्तुत करती है। इसलिए मार्क्सवादी व्याख्या की अन्तर्निहित विसंगतियां डांगे की पुस्तक पर भी लागू होती है। पांडे के अनुसार कोशाम्बी का यह प्रदर्शित करने का प्रयास कि सामाजिक परिवर्तनों से विचारों का भी परिवर्तन होता है युक्ति तर्क मूलक न होकर सतही है।

प्राचीन भारत की सामाजिक संरचना और उसके दर्शन, धर्म और राजनीतिक विचार को समझने का कटिबद्ध प्रयास किया है एक दूसरे प्रतिबद्ध मार्क्सवादी इतिहासकार रामशरण शर्मा ने। इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं उनकी पुस्तकें 'अस्पेक्ट्स आफ पोलिटिकल आईडियाज एण्ड इन्सटिट्यूशन्स इन एन्शियन्ट इण्डिया' और 'मेटिरियल कल्चर एण्ड सोशल फारमेशन्स इन एन्शियन्ट इण्डिया'। उनके अनुसार प्राचीन भारत के राजनीतिक विचारों को समझने में राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने बड़ी भूलें की

हैं, और इसीलिए उनके निष्कर्ष भी दोषपूर्ण हैं।

शर्मा के अनुसार सर्वप्रथम उन्होंने उन बुद्धिजीवियों को जो किसानों और मजदूरों की वास्तविक परिस्थिति में दिलचस्पी रखते थे प्रभावित नहीं किया। इसके विपरीत प्राचीन हिन्दू सभ्यता और संस्थाओं की अत्यधिक प्रशंसा कर इन्होंने मुसलमानों को राष्ट्रीय धारा से अलग कर दिया। उनकी दूसरी भूल थी कि उन्होंने प्राचीन भारत के गौरव के सम्बन्ध में भ्रान्ति उत्पन्न की। उसके मूल्यों और उसके सिद्धान्तों का स्वर्णिम चित्र उपस्थित कर उन्होंने सामाजिक यथार्थ पर पर्दा डाल दिया। उन्होंने यह बताने का कष्ट नहीं किया कि क्यों वस्तुत: समाज के पहले दो श्रेष्ठ वर्ण ही शासन करते रहे चाहे शासन का रूप राजतंत्र हो या गणतंत्र। समाज के दो निम्न वर्ण हमेशा सत्ता से बहिष्कृत थे। फलस्वरूप इस तथ्य को भी इन्होंने अनदेखा किया कि प्राचीन विधियों और विधान का मुख्य लक्षण था कि वे निरन्तर उच्च वर्गों के स्वार्थों को संरक्षित करते थे। ये प्रभुत्वशाली वर्ण धर्म के सहारे अपने राजनीतिक और आर्थिक हितों की सम्वृद्धि करते थे। राष्ट्रवादी विचारकों की तीसरी भूल यह थी कि इन्हें प्राचीन भारतीय राज्य के धार्मिक स्वरूप को स्वीकार करने में लज्जा महसूस होती थी। इसीलिए ये निरन्तर उसके धर्म निरपेक्ष स्वरूप को रेखांकित करते रहे, और इस बात को भूल गए कि पाश्चात्य जगत में सन् 1783 के पहले कोई धर्म निरपेक्ष राज्य था ही नहीं। पश्चिम में धर्म निरपेक्ष राजनीति का क्रमश: विकास हुआ है।

इन्हीं बातों को ध्यान में रख कर रामशरण शर्मा ने अपनी दृष्टि से—अथवा मार्क्सवादी दृष्टि से—प्राचीन भारत के राज्य और उसकी संस्थाओं और उससे सम्बन्धित राजनीतिक विचारों की व्याख्या प्रस्तुत की है। अपनी पुस्तक 'मेटीरियल कल्चर एण्ड सोशल फारमेशन्स एन एन्शियन्ट इण्डिया' की भूमिका में उन्होंने यह प्रश्न उठाया है कि इतिहास की मूल चालक शक्ति क्या है। उनके अनुसार समाज वैज्ञानिकों ने अपनी सामाजिक स्थिति, बौद्धिक विरासत और व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर ऐतिहासिक विकास की कई अमूर्त व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं। शर्मा की दृष्टि में इतिहास को प्रभावित करने वाली शक्ति को समझने के लिए उत्पादन की प्रणाली और अतिरिक्त उत्पादन के स्वामित्व पर स्थापित वर्ग विभाजन के सिद्धान्त को ही सर्वाधिक उपयोगी परिकल्पना के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। इसी का प्रयोग कर प्राचीन भारतीय राज्य, समाज और संस्थाओं का सही अध्ययन किया जा सकता है। अत: उन्होंने इस प्रयास को अस्वीकार कर दिया कि वर्ग और अतिरिक्त उत्पादन के स्वामित्व की व्याख्या को अभिजन पद सोपान, सोपान क्रम ओर निर्णय की प्रक्रिया इत्यादि ऐसे अमूर्त सिद्धान्तों के सहारे समझा जाए जैसे कि कुछ समाजशास्त्रीयों ने किया है। अपनी बात की पुष्टि के लिए उन्होंने कुछ तथ्यों की ओर संकेत किया है, जैसे अतिरिक्त उत्पादन से ही यह सम्भव है कि प्रशासन, सैनिक, पुरोहित और कारीगरों की व्यवस्था बनाई जा सके ताकि इन लोगों को अपनी जीविका के साधनों के लिये परिश्रम न करके समाज द्वारा उपलब्ध साधनों पर रखा जा सके। अगर इन वर्गों को रखना आवश्यक है तो इनको जीविका का साधन उपलब्ध कराना भी आवश्यक है। फलस्वरूप अतिरिक्त उत्पादन के बिना सैनिक, पुरोहित, प्रशासक इत्यादि की व्यवस्था सम्भव नहीं होगी।

दूसरा तथ्य यह है कि अतिरिक्त उत्पादन के लिए एक ऐसी दंण्डात्मक सत्ता की अपेक्षा है जो लोगों को प्रेरित करे कि अतिरिक्त उत्पादन के लिये श्रम करें। इसी संदर्भ में जनजातियों के समाज में उस समाज के मुखिया को या उस समाज के सरदारों को आपसी सम्बन्धों में जो उपहार और प्रतिउपहार मिला करते थे उसे दण्डात्मक सत्ता की स्थापना के उपरान्त अनिवार्य कर के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। यह तब तक सम्भव नहीं है जब तक कर देने की क्षमता का विकास न हो और जब तक कोई दण्डात्मक सत्ता न हो। अत: यह अपेक्षित है कि जो प्रशासकीय और जीविकोपार्जन की क्रियाओं इतर कार्यो से सम्बद्ध हैं उन्हें शारीरिक श्रम से मुक्ति मिलनी चाहिए। अत: समाज के जिस वर्ग ने सभ्यता, संस्कृति और विचारों की सृष्टि की वह उस समाज का शारीरिक परिश्रम करने वाला वर्ग नहीं था बल्कि उसे इससे मुक्ति प्राप्त थी। इस प्रकार शर्मा के अनुसार राजनीतिक विचारों और संस्थाओं का आकलन करने के लिए यह जानना आवश्यक है कि अतिरिक्त उत्पादन और परिश्रम से मुक्ति की भूमिका सभ्यता, संस्कृति और राजनीतिक विचारों के विकास में क्या है।

रामशरण शर्मा एक रूढ़िवादी मार्क्सवादी है। उन्होंने एक स्थल पर यह स्वीकार किया है कि अमूर्त परिष्कृत व्याख्याओं की अपेक्षा ठेठ मार्क्सवाद या यांत्रिक भौतिकवाद स्वीकार्य है। कम से कम ठेठ मार्क्सवाद जनता से सम्बन्धित है और भौतिकवादी है। इसी आधार पर उन्होंने प्राचीन भारत के राजनीतिक विचारों की व्याख्या की है। सर्वप्रथम यह उल्लेखनीय है कि शर्मा ने पाश्चात्य विचारकों द्वारा प्रतिपादित पौर्वात्य निरंकुशतावाद की विधिवत आलोचना की। किन्तु कार्लमार्क्स को इस लांछन से बचाने का प्रयास किया है कि वह व्यवस्थित रूप से पौर्वात्य निरंकुशवाद का समर्थन नहीं करता है हालांकि मार्क्स की कृतियों में यत्र-तत्र पौर्वात्य निरंकुशतावाद और उसकी व्याख्या के निमित्त प्रतिपादित उत्पादन की एशियाई पद्धति की चर्चा दृष्टिगत होती है। पाश्चात्य विचारकों में प्लेटो, अरस्तू, मान्टेस्क्यू, एडमस्मिथ, हेगल, रिर्चड जोन्स ने यह माना है कि एशिया (इसलिए भारत में भी) में सभी शासनतंत्र पौर्वात्य निरंकुशतावाद के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। मात्र इतना ही नहीं इन विचारकों ने यह भी माना था कि शताब्दियों तक एशिया (जिसमें भारत भी सम्मलित है) की सामाजिक व्यवस्था अपरिर्वतनशील रही है। हेगल ने परिवर्तन विहीन हिन्दूओं, निरन्तर बने हुए अन्धविश्वास, स्थिर चीन और स्थिर भारतवर्ष की चर्चा की है।

कार्लमार्क्स की कृतियों में भी इसकी चर्चा है, किन्तु मार्क्स ने एशियाई उत्पादन व्यवस्था की विधिवत व्याख्या नहीं की है, और वह इस व्यवस्था के तत्वों के सम्बन्ध में अपने विचार परिवर्तित भी करता रहा। मार्क्स की धारणा थी—(और यह धारणा प्रारम्भिक उन्नींसवी शताब्दी के अंग्रेज अधिकारियों के प्रत्यावेदनों पर आधारित थी) कि भारतीय ग्राम आत्मनिर्भर और अपने में ही सीमित थे। उनके कारीगरों द्वारा बनायी हुई चीजें और कृषि का उत्पाद गांव में ही खपत के लिए रह जाता है। इन छोटे-छोटे गांवों का जीवन निष्क्रिय एवं संकुचित था। उनका सम्बन्ध ऊपर किसी संस्था से नहीं था। इसलिए निरंकुश शासन का पूरा नियंत्रण उन पर था। रामशरण शर्मा का मत है कि मार्क्स ने पौर्वात्य निरंकुशतावाद की व्याख्या उत्पादन व्यवस्था के संदर्भ में की है न कि हिन्दुओं की मनोवैज्ञानिक संरचना के संदर्भ में जो मांटेस्क्यू और हेगल की व्याख्याओं में प्रधान है। इस प्रकार मार्क्स ने एशियाई उत्पादन व्यवस्था की समस्या को आर्थिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है, और प्राच्य विद्या विशारदों को निरंकुशतावाद को इस व्यापक परिप्रेक्ष्य में रखना चाहिए। इससे स्पष्ट होता है कि शर्मा की मार्क्सवादी दृष्टि पाश्चात्य समीक्षकों की आलोचना भी है और प्राचीन भारत के राजनीतिक विचारों को समझने का एक साधन भी।

भारतीय राजनीतिक चिन्तन परम्परा की दो मुख्य धाराएं है— धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र। शर्मा के अनुसार धर्मशास्त्र का सम्बन्ध धर्म से है, और अर्थशास्त्र का अर्थ से। धर्मशास्त्र का उद्देश्य ब्राह्मणों की सत्ता को संवर्धित करना है और उन नियमों को रेखांकित करना है जो सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था को अनुशासित करते हैं। अर्थशास्त्र राजा की सत्ता का संवर्धन करता है, और उन नियमों को रेखांकित करता है जो राजनीतिक और आर्थिक ढांचे का नियमन करते हैं। पहले प्रकार का साहित्य सैद्धान्तिक है, और दूसरे प्रकार का व्यावहारिक किन्तु मूलत: दोनों धाराओं में इससे अधिक अन्तर नहीं है क्योंकि दोनों एक ही दृष्टिकोण और विचारधारा से प्रभावित हैं। वह विचारधारा है वर्ग विभाजित समाज और उसके नियामक के रूप में राजा का समर्थन। मार्क्सवादी दृष्टि में वर्ण विभाजन भारतीय संदर्भ में वर्ग विभाजन है। मार्क्स का यह सिद्धान्त कि राज्य वर्ग शासन का एक माध्यम है भारत के संदर्भ में यह अर्थ प्रकट करता है कि यह वर्ण शासन का माध्यम है। इसलिए रामशरण शर्मा ने सामान्यतया कार्लमार्क्स के सिद्धान्त को अपनी व्याख्या का आधार बनाया है।

इसी प्रकार शर्मा की कृत्तियों में अर्थव्यवस्था का प्रभाव प्राचीन भारतीय राजनितिक विचारों की व्याख्या में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। अपनी पुस्तक 'मेटीरियल कल्चर एण्ड सोशल फारमेशन्स इन एन्शियन्ट इण्डिया' के सातवें अध्याय 'मेटीरियल मिल्युआफ द बर्थ आफ बुद्धिज्म (बौद्धधर्म के उद्भव का भौतिक परिवेश) शर्मा ने बुद्ध के विचारों पर बदलती हुई आर्थिक परिस्थितियों के प्रभाव को चित्रांकित किया है। जिस मार्क्सवादी दृष्टि को शर्मा ने स्वीकार किया है उसकी यह कमजोरी है कि वह उत्पादन की व्यवस्था को विचार जगत का कारक मानती है। इस मूलभूत विचार को न तो पाश्चात्य इतिहास के संदर्भ में और न तो युक्ति तर्क की दृष्टि से निर्विवाद रूप से स्थापित किया गया

है। बहुत से मार्क्सवादियों ने इसे संशोधित भी किया है। लूकाच और ग्रामची इस संदर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ऐसी स्थिति में प्राचीन भारतीय विचारों के उद्भव और विकास के अध्ययन पर इसे लागू करना अध्ययन को एक आयामी बनाता है, और संदिग्ध भी।

शर्मा की भांति प्रोफेसर रोमिला थापर ने भी यह स्वीकार किया है कि भले ही मार्क्स ने पौर्वात्य निरंकुशतावाद और उत्पादन की एशियाई व्यवस्था का उल्लेख किया हो पर उसने इसकी विधिवत व्याख्या नहीं की है। डा० थापर की सामान्य दृष्टि यह है कि प्राचीन भारत को समझने के लिए मार्क्सवादी दृष्टि अन्य दृष्टियों के समानान्तर प्रस्तुत की गयी है, और यह अन्य दृष्टियों की अपेक्षा व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्राचीन भारत के अध्ययन के लिये सुविधापूर्ण है।

विभिन्न भारतीय मार्क्सवादी दृष्टियों के लिये प्रोफेसर देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय द्वारा लिखित पुस्तक लोकामत: स्टडी इन एन्शियन्ट इण्डियन मेटीरियल्ज़्म' को एक आधार ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। चट्टोपाध्याय ने इस पुस्तक की भूमिका में यह स्वीकार किया है कि प्राचीन भारत को समझने के लिये मार्क्सवादी दृष्टिकोण अपेक्षाकृत वस्तुनिष्ठ है। इस संदर्भ में उन्होंने प्रोफेसर जार्ज टामसन की पुस्तक 'एसाइलस एण्ड एथेंस' को उद्धृत किया है। टामसन ने ग्रीक चिन्तन को मार्क्सवादी दृष्टि से समझने का प्रयास किया था। चट्टोपाध्याय ने उसी दृष्टि का अनुसरण करते हुए मार्क्स और एंजिल्स की विस्तार से चर्चा की है। उनका यह मानना है कि भौतिक परिस्थितियों के दबाव में ही प्राचीन चिन्तन प्रभावित हुआ है। इसलिए चिन्तन, उनके अनुसार मिथ्या चेतना है, और प्राचीन सामाजिक व राजनीतिक संगठन वर्ग विभाजन के यथार्थ से अनुशासित है।

1.3.2 समाजशास्त्रीय एवं नृतत्व केन्द्रित उपागम

समाजशास्त्रीय दृष्टि मुख्य रूप से एक योरुपीय दृष्टि है, और यह इस बात का प्रयास करती हैं कि पाश्चात्य समाजशास्त्रीय प्रारूपों को भारतीय अतीत में प्रक्षेपित करे। इसी नाते योरुपीय समाजशास्त्रियों और नृतत्व शास्त्रियों द्वारा आदिम समाजों के अध्ययन पर आधारित गोत्र और प्रजाति की धारणाओ को प्राचीन भारत की सामाजिक एवं राजनीतिक संरचना और उनसे सम्बन्धित विचारों के अध्ययन में प्रयुक्त किया गया है। उनके अनुसार प्राचीन भारत के राजनीतिक चिन्तन को समझने के लिये प्रारम्भिक गोत्र पर आधारित समूह महत्वपूर्ण है। यह सम्बन्ध रक्त सम्बन्ध है। इन समूहों के अध्ययन में अभिजन का सिद्धान्त, स्टेट्स थियरी, और पदानुक्रम के सिद्धान्त का सहारा लिया गया है। इन समाजशास्त्रियों की धारणा है कि प्राचीन समाज में श्रेणीबद्धता होगी, उसका एक अभिजन वर्ग होगा, और वह समाज पदों में विभाजित होगा। भारतीय संदर्भ में अभिजन हैं ब्राह्मण और क्षत्रिय, श्रेणी बद्धता है वर्णो में विभाजित समाज, और स्टेट्स हैं वर्ण। श्रेणीबद्धता में निहित है उच्च और निम्न का भेद। प्राचीन भारतीय समाज में ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ है, और शूद्र और अन्त्यज सबसे निम्न। बीच के वर्ण, क्षत्रिय और वैश्य, ऊपर के वर्ण/वर्णों की अपेक्षा निम्न हैं और नीचे के वर्ण/वर्णों की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। चार्ल्स ड्रेकमीयर ने इन समाजशास्त्रीय प्रारूपों को भारतीय राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन पर लागू किया है। उसकी पुस्तक अर्ली किंगशिप एण्ड कम्युनिटी इन एन्शियन्ट इण्डिया' में रक्त सम्बन्धों के आधार पर राजनीतिक संरचना को स्वीकार किया गया है। उसके मतानुसार प्राचीन भारतीय राज्य रक्त सम्बन्धों पर आधारित गोत्र समूह है। भारत की वर्ण और जाति व्यवस्था का एक विस्तृत अध्ययन फ्रान्सीसी समाजशास्त्री एल० दूमां ने भी अपनी पुस्तक 'होमो हाथरारकिकस' में किया है। विद्वानों के मध्य यह पुस्तक बहुत सम्मानित मानी गयी है।

जे०गोंडा ने अपनी पुस्तक 'एन्शियन्ट इण्डियन किंगशिप:फ्राम द रेलिजस प्वाइंटआफ व्यू' में धर्म को राजत्व की संरचना में अनिवार्य तत्व माना है। उसने संस्कृत शब्दों का भाषाशास्त्रीय एवं व्युत्पत्ति मूलक अर्थ निर्धारण करके धर्म की तुलनात्मक व्याख्या की, और इस ओर संकेत किया कि जो सम्मान देवताओं को प्राप्त है वही राजा को भी प्राप्त था। उसने इस बात को भी रेखांकित किया कि राजा के देवत्व को सामान्य जन स्वीकार करते थे। चूंकि समाजशास्त्री सामाजिक संरचना और सामाजिक पविर्तनों में आर्थिक कारकों का महत्व अपेक्षाकृत कम मानते थे इसलिए उनकी दृष्टि में सामाजिक संरचना में आर्थिक परिस्थितियों की निर्णायक भूमिका नहीं है। वे सामाजिक सम्बन्धों में

सत्ता और उसके अनुपालन को महत्वपूर्ण मानते थे, और किस प्रकार वह विभिन्न सामाजिक स्तरों में दृष्टिगत होती है यह उनके अध्ययन का विषय था।

इसी सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि कुछ समाजशास्त्रियों ने वृहत् और लघु परम्परा के अन्तर स्वीकार किया है। वृहत् परम्परा सत्ता द्वारा स्थापित और समर्थित है, और यह शास्त्रों द्वारा निरूपित है, इस दृष्टि से प्राचीन भारत में वृहत परम्परा वेद व स्मृति द्वारा समर्थित है, और इसे राज्य की सत्ता सुरक्षित करती है। इससे इतर सामान्य जन की लघु परम्परा है जो जनजीवन में प्रचलित है। सामान्य जन की विभिन्न गति विधियों को लघु परम्परा अनुशासित करती है। कुछ दूसरे समाजशास्त्रियों ने भारतीय समाज को समझने के लिये संस्कृतीकरण के प्रारूप को स्वीकार किया है। संस्कृतिकरण का अर्थ है की सामान्य जन विशिष्ट अभिजनों के लक्षणों को अनुकरणीय मान कर अपनाने का प्रयास करते हैं। तदुनरूप वे अपने को ढालते हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि जो अभिजन है वह प्रारूप है इसलिए उसका अनुकरण किया जाना चाहिए। अभिजन को प्रारूप मानने के फलस्वरूप सामान्य जन अभिजन की सत्ता को स्वीकार करते हैं। इसी नाते वे समाज के वर्ण विभाजन पर कोई प्रश्न नहीं उठाते। यह इस बात की समाजशास्त्रीय व्याख्या है कि क्यों शताब्दियों तक लोगों ने वर्ण विभाजन को स्वीकार किया।

जे०सी० हिस्टर मैन ने अपनी पुस्तक 'इनर कानफ्लिक्ट आफ ट्रैडिशन इन एन्शियन्ट इण्डिया' में कर्मकांड और परम्परा को राज्य की संरचना में निर्णायक माना है। उसके अनुसार इनमें विश्वास राज्य सत्ता का आधार है। इसी सम्बन्ध में राज्यारोहण से सम्बन्धित कर्मकांण्डों का वह वर्णन करता है। सामान्य जन का सत्ता के साथ कोई संघर्ष नहीं था। वह मानता है कि राजा को सत्ता ब्राह्मणों से प्राप्त होती थी और ब्राह्मण मूलतः संन्यस्त थे। अपेक्षा की जाती है कि राजा भी संन्यस्त रहा होगा, किन्तु ऐसा था नहीं। पर हिस्टरमैन इन आदेशों को समाज में प्रचलित प्रतीकों में अभिव्यक्त पाता है।

भारत में वर्ण एवं जाति व्यवस्था के अध्ययन में रूचि मार्क्सवादी इतिहासकारों, नृतत्व शास्त्रियों और समाजशास्त्रियों सभी ने प्रदर्शित की है। किन्तु इनके अध्ययन के निष्कर्ष अलग-अलग रहे हैं। कुछ विद्वानों के लिये वर्ण वर्ग हैं तो कुछ दूसरे विद्वानों के लिये ये स्टेट्स समूह हैं जिनको पारिभाषित करती है इनकी अलग-अलग जीवनशैलियां न कि उत्पादन व्यवस्था में इनका स्थान (वर्ण को स्टेट्स समूह मानने वाले विद्वानों पर प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैक्सवेबर का स्पष्ट प्रभाव दीख पड़ता है)। लेकिन सामान्य तौर पर मार्क्सवादी और गैर मार्क्सवादी दोनों ही प्रकार के समाजशास्त्रियों ने वर्ण और वर्ग में एक निकट सम्बन्ध स्वीकार किया है। उदाहरण के लिए एक गैर मार्क्सवादी समाजशास्त्री एम०एन० श्रीनिवास भी यह स्वीकार करते हैं कि वर्ण व्यवस्था में वर्ग व्यवस्था सन्निहित है, और उच्च वर्ण की प्रभुता का कारण यह नहीं था कि उन्हें अनुष्ठानिक पवित्रता प्राप्त थी बल्कि यह था कि बड़े-बड़े भूभागों के वे स्वामी थे। किन्तु प्राचीन भारत का नृतत्वशास्त्रीय और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोणों से अभी इतना पर्याप्त अध्ययन नहीं किया गया है कि हम भारतीय सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था की जटिल संरचनाओं का अध्ययन इनके सहारे कर सकें।

1.3.3 परम्परा मूलक उपागम

भारतीय राजनीतिक चिन्तन की उपर्युक्त पद्धतियों से कुछ मनीषियों को असंतोष हुआ। ये मनीषी विदेशी भी थे और भारतीय भी। इन्होंने यह मौलिक प्रश्न उठाया कि पश्चिम के चिन्तन की अवधारणाओं को प्राचीन भारत के राजनीतिक चिन्तन पर आरोपित करना भारतीय चिन्तन के स्वभाव और प्रकृति के अनुकूल है या नहीं? इन मनीषियों का यह मानना था कि परम्परागत चिन्तन में कुछ ऐसे प्रत्यय और अवधारणाएं हैं जिनके प्रयोग से ही हम उस चिन्तन को अच्छी तरह समझ सकते हैं। इसलिए यह मान कर चलना कि पश्चिम को जो अनुभव है वह सार्वकालिक और सार्वभौम है भ्रन्तिपूर्ण है। इसी कारण वे भारतीय राजनीतिक चिन्तन अथवा पूरी परम्परा के सैद्धान्तिक आलोक में सामाजिक संरचना, संस्कृति, उसकी सभ्यता और उसके राजनीतिक चिन्तन को समझने के लिए परम्परा में ही निहित प्रत्यय और अवधारणाओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया। इस दिशा में आनन्द कुमार स्वामी और गोविन्द चन्द्र पांडे ने उल्लेखनीय कार्य किया है।

कुमार स्वामी ने सनातन दर्शन को प्रचीन सभ्यता, संस्कृति, चिन्तन, कला, सामाजिक संरचना और राजनीतिक संगठन का आधार माना है। उनकी जितनी भी व्याख्याएं हैं वे मूलत: सनातन परम्परा की स्थापनाओं को स्वीकार कर प्रस्तुत की गयी हैं। पर उन्होंने उन स्थापनाओं को आँख मूंद कर स्वीकार नहीं किया है। बल्कि आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता में अनुस्यूत अन्तर्दृष्टि की तुलनात्मक समीक्षा के उपरान्त समर्थित किया है। कुमार स्वामी के अनुसार आधुनिक पाश्चात्य परम्परा व्यक्ति के मांसल पक्ष को महत्व देती है। मांसलता के साथ सम्पृक्त हैं उसके संवेग, परिस्थितिजन्य प्रतिक्रियाएं, ऐंद्रिक अनुभव और राग-द्वेष। आधुनिक पश्चिमी चिन्तन के केन्द्र में इहलौकिकता प्रतिष्ठित है। यह कुमार स्वामी का मूल निष्कर्ष है। इसी निष्कर्ष के आधार पर उन्होंने भारतीय राजनीतिक चिन्तन मात्र की ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति, दर्शन, सामाजिक संरचना और राजनीतिक संगठन की व्याख्या सनातन दर्शन के मूलसिद्धान्तों के आलोक में प्रस्तुत की है। उनके मतानुसार भारतीय जीवन दृष्टि इन्हीं सिद्धान्तों से अनुप्राणित है, और उसी की अभिव्यक्ति जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में परिलक्षित होती है।

इस प्रकार आनन्द कुमार स्वामी ने यह आग्रह प्रस्तुत किया है कि भारतीय चिन्तन—दार्शनिक अथवा राजनीतिक—पश्चिमी सिद्धान्तों के आलोक में बोधगम्य नहीं हो सकता। इसीलिए पश्चिमी चिन्तन के सैद्धान्तिक प्रारूप जैसे प्राकृतिक अवस्था, अनुबन्ध सिद्धान्त, राजाओं के दैवी अधिकार आदि को प्राचीन भारतीय राजनीतिक सिद्धान्त को समझने के लिए लागू नहीं करना चाहिए। जिन योरूपीय अथवा भारतीय मनीषियों ने ऐसा किया है उन्होंने प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की समुचित व्याख्या नहीं की। उन्होंने केवल यही किया कि इसके सिर्फ ऊपरी आकार को पाश्चात्य राजनीतिक प्रत्ययों में बांध दिया। इस प्रकार वे भारतीय राजनीतिक चिन्तन की मूल अभिप्रेरणाओं की व्याख्या नहीं कर पाए। यह अभाव राष्ट्रवादी उपागम द्वारा प्रस्तुत भारतीय राजनीतिक चिन्तन की व्याख्याओं में दृष्टिगत है। पश्चिमी विद्वानों ने भारतीय सभ्यता, संस्कृति और चिन्तन को अविकसित माना था। उनके लिए पश्चिमी चिन्तन और उसके प्रत्यय विकसित समाज के मानक हैं। ऐसे विचारकों को चुनौती देने की दृष्टि से राष्ट्रवादी मनीषियों ने ये सिद्ध करने का प्रयास किया कि योरूपीय राजनीतिक प्रत्ययों या सिद्धान्तों का बोध प्राचीन भारतीयों को था और उसी दृष्टि से उन्होंने अपनी राजनीतिक संस्थायें संरक्षित की थी। प्राचीन भारत में इन सिद्धान्तों के अनुसार राजनीतिक जीवन संगठित किया गया था। उन्होंने चुनौती का जवाब देने की कोशिश तो की किन्तु वे भूल गये कि अनजाने में उन्होंने योरूपीय राजनीति प्रत्ययों की श्रेष्ठता स्वीकार कर ली है।

आनन्द कुमार स्वामी और अन्य परम्परावादी मनीषियों ने इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया है कि प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन आध्यात्मिक और नैतिक सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति है। उसकी चर्चा न कर सिर्फ योरूपीय प्रत्ययों पर ही अधिकांश ध्यान केन्द्रित करना प्राचीन भारतीय राजनीति की चर्चा को प्राणहीन बना देता है। इसके अतिरिक्त जिन योरूपीय राजनीतिक प्रत्ययों को लागू किया जाता है वे उन ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों की उपज हैं जो सार्वजनिक जीवन में आध्यात्मिकता और नैतिकता को निषेधित करती है।

इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर कुमार स्वामी ने परम्परानिष्ठ राजनीतिक चिन्तन की मूलभूत अभिप्रेरणाओं को निरूपित किया है। उनकी पुस्तक 'स्पिरिचुअल अथार्टी एण्ड टेम्पोरल पावर इन इण्डियन थियरी आफ गवर्नमेंट' सनातन दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों का निरूपण है। उनके अनुसार पाणिग्रहण संस्कार का मंत्र सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन की तात्विक अभिव्यक्ति है। इस मंत्र के अनुसार पत्नी और पति एक दूसरे से अविच्छिन्न सम्बन्ध में बंध जाते हैं। पति और पत्नी एक दूसरे के पूरक हैं। पति आकाश है तो पत्नी पृथ्वी। आकाश पुल्लिग और पृथ्वी स्त्रीलिंग है। इसी रूपक को प्राचीन ग्रन्थों में कई प्रकार से प्रस्तुत किया गया है। राजा अथवा राज्य स्त्रीलिंग है, तो पुरोहित अथवा धर्मगुरु पुल्लिग है। प्राचीन राजनीतिक चिन्तन में इन्हीं अर्थो में ब्रह्म और क्षत्र का सम्बन्ध निरूपित किया गया है। ब्रह्म सत्य और धर्म का प्रतीक है, और विवेक इसका गुण है। क्षत्र राज्यसत्ता का प्रतीक है। इस रूपक की बाह्य अभिव्यक्ति राजनीतिक संरचना में ब्राह्मण और क्षत्रिय के रूप में हुई है। जो आदर्श है उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति तो सम्भव नहीं। इसीलिए लौकिक ब्राह्मणों और क्षत्रियों या राजाओं को देखकर ब्रह्म और क्षत्र का सैद्धान्तिक लक्षण निर्धारित नहीं किया जा सकता है। यह

बात वैसी ही है जैसे पश्चिम के लोकतांत्रिक देशों में निर्वाचित राजनेताओं को देखकर पश्चिमी लोकतांत्रिक सिद्धान्तों का लक्षण निर्धारित नहीं किया जा सकता। आदर्श की अभिव्यक्ति इतिहास में कभी भी पूर्ण नहीं होती। वह होती है खण्डित ही, किन्तु उसके सहारे हम उस आदर्श की गरिमा को पहचान सकते हैं। ब्रह्म और क्षत्र की लौकिक अभिव्यक्तियां भी अपूर्ण ही हैं पर सैद्धान्तिक रूप से यह कहा जा सकता है 'राजन्, सत्यम् परम ब्रह्म..... सत्यम् संगतम् स्तुते' (महाभारत I 69, 25)।

इसी संदर्भ में उल्लेखनीय है कि आनन्द कुमार स्वामी ने प्राचीन भारतीय जीवन दृष्टि के अनुसार मनुष्य के स्वरूप की भी व्याख्या की है। उसके स्वरूप के अनुसार लौकिक संस्थाओं की संरचना की जाती है। ये संस्थाएं मनुष्य के आत्म विकास में सहायक है और उसकी क्षमता के सम्यक् विकास के अनुकूल हैं। सनातन दृष्टि में मनुष्य की अवधारणा मात्र शरीर के रूप में नहीं की गयी है। वह इससे इतर भी कुछ है, जो इतर है वह उसका अन्त:स्थ स्वरूप है। वह आत्म-सम्पन्न है, और उसका आत्मिक स्वरूप न शरीर के सहारे जाना जा सकता है और न शारीरिकता में बांधा जा सकता है। उसका बोध सनातन संस्कृतियों ने साधन सुलभ माना है किन्तु जिनके लिये वह साधन सुलभ नहीं है उनके लिये आर्षवाणी और ऋषियों, सन्तों ओर योगियों की अनुभूति ही प्रमाण्य है। आध्यात्मिकता का उत्स मनुष्य की आत्मिकता है। उसके जीवन का लक्ष्य शारीरिक अथवा ऐन्द्रिक तृप्ति नहीं है, बल्कि सर्वोच्च ज्ञान की उपलब्धि है। यह उपलब्धि अपने मूल स्वाभाव का बोध है। इसे ही आत्म-साक्षात्कार के रूप में विहित किया गया है। इस आत्म-साक्षात्कार के लिए अपेक्षित है— आत्मानुशासन इसे ही राजनीतिशास्त्र के ग्रन्थों में आत्मजय कहा गया है। जो इन्द्रियों की दासता से मुक्त है वही अपना स्वामी है, और सही अर्थों में उसने स्वराज को प्राप्त कर लिया है। जो इन्द्रियों का दास है वह बंधन में है, मुक्त नहीं है।

मनुष्य की अवधारणा को दृष्टि में रखकर समाज और राज्य का विधान प्राचीन भारत में निर्धारित किया गया था। इसीलिए प्राचीन भारत की राजनीतिक अवधारणाओं में धर्मानुशासन की महत्वपूर्ण भूमिका है। धर्मशास्त्रीय परम्पराओं में तो है ही, आनन्द कुमार स्वामी की दृष्टि में, कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इसका महत्व है। न तो योरूप के मनीषियों ने और न उनसे प्रभावित विद्वानों ने प्राचीन भारतीय राजदर्शन को इस संदर्भ में व्यवस्थित ढंग से देखने की कोशिश की है। कुमार स्वामी की यह व्याख्या पारम्परिक दृष्टि की कसौटी पर परम्परानिष्ठ राजदर्शन को कसने की एक कोशिश है।

इतना स्पष्ट करना अपेक्षित है कि आनन्द कुमार स्वामी जब सनातनता और परम्परा को समझने का प्रयास करते हैं तो उनके लिए न तो परम्परा रुढ़ है और न सनातनता। वे कठमुल्ले नहीं थे जैसे परम्परा के नाम पर आज-कल दीख पड़ते है। परम्परा उनके लिए मूर्तिपूजा का विषय नहीं है, वह शिथिल नहीं है, वह एक ही साथ सनातन भी है और सम्वर्धनशील भी। यास्क का यह वचन 'सनातनो नित्यनूतन:' उनकी दृष्टिको रेखांकित करता है। वे मानते थे कि परम्पराओं में निहित सनातन सत्य की अभिव्यक्ति युग-धर्मानुरूप होती है। इस प्रक्रिया में परम्परा का अद्यतन संस्करण रूपायित होता है। यह रूपायन संशोधन और सम्वर्धन है। आधुनिक भारत में उनकी दृष्टि में गांधी ने सनातनता के सत्य को अक्षुण्ण रखते हुए अपेक्षित संशोधनों का साहस किया है।

परम्परानिष्ठ दृष्टि के आलोक में गोविन्द चन्द्र पांडे ने आनन्द कुमार स्वामी की तरह प्राचीन भारतीय चिन्तन, संस्कृति, साहित्य, संगीत, कला और सामाजिक व राजनीतिक संरचना की व्याख्या प्रस्तुत की है। आनन्द कुमार स्वामी और गोविन्द चन्द्र पांडे में अन्तर बस इतना है कि कुमार स्वामी ने चिन्तन की समुचित व्याख्या और प्राचीन भारतीय जीवन के विविध क्षेत्रों में उनके रूपायन को प्रस्तुत किया है किन्तु उस रूपायन के इतिहास और उसके परिवर्तनों की ओर दृष्टि नहीं डाली है, अर्थात कालानुक्रम में जो ऐतिहासिक यथार्थ उपलब्ध होता है उसके विस्तार को समझने की चेष्टा उन्होंने नहीं की है। मूलभूत स्थापनाएं, विचार और सिद्धान्त और उनकी अभिव्यक्ति में युक्ति तर्कमूलक संगति उनकी जिज्ञासा का केन्द्र था। गोविन्द चन्द्र पांडे इतिहासकार ही नहीं, समर्थ इतिहासकार हैं, साथ ही साथ गहरी दार्शनिक अनुभूति से भी सम्पन्न। इसके अतिरिक्त साहित्य, कला, संगीत और सौंदर्य शास्त्र उनके अध्ययन व जिज्ञासा के केन्द्र हैं। पाश्चात्य चिन्तन—प्राचीन, मध्ययुगीन, आधुनिक और अर्वाचीन, और भारतीय चिन्तन और इतिहास—प्राचीन, मध्ययुगीन और आधुनिक

उनके अध्ययन विस्तार का अविच्छिन्न अंग है। वे बहुभाषाविद् हैं—इसलिए बहुज्ञ भी अध्ययन, तीक्ष्ण समीक्षात्मक दृष्टि और विवेक का अदभुत संयोग उनकी कृतियों में दिखाई पड़ता है। इतिहासकार के रूप में वे मात्र तथ्यों का परिगणन नहीं करते, उन तथ्यों को सैद्धान्तिक विधान में बांधने का प्रयास भी वे करते हैं। इस प्रयास की प्रक्रिया में इतिहासकार की कल्पनाशक्ति, दार्शनिक का गाम्भीर्य और रचनाकार की सृजनशीलता का मणिकांचन संयोग दृष्टिगत होता है। ऐसा सम्भव हुआ गोविन्द चन्द्र पांडे की परिष्कृत अनुभूति और प्रखर बौद्धिक प्रतिभा के नाते उनकी कृतियों में व्यापक रचना संसार का साक्ष्य उपलब्ध है। वे हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत, पालि, प्राकृत बंगला और तिब्बती भाषा के ज्ञाता हैं। साथ ही साथ उर्दू, फारसी, ग्रीक और जर्मन भाषाओं की पुस्तकों का उन्होंने मूल पाठ में गहरा अध्ययन किया है। इसीलिए उनकी कृतियों में जितना जीवन्त इतिहासकार है, उतना ही प्राणवान दार्शनिक और अनुभूतिप्रवण रचनाकार भी।

गोविन्द चन्द्र पांडे ने प्राचीन भारतीय राजदर्शन को भारतीय संस्कृति की एक अभिव्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है। भारतीय संस्कृति अथवा किसी भी देश की संस्कृति को समझने के लिए उनके अनुसार यह आवश्यक है कि उस संस्कृति की मूल अभिप्रेरणाओं से परिचित हों। जिन पद्धतियों ने इन मूल अभिप्रेरणाओं का निषेध किया अथवा उन्हें मूल अभिप्रेरणा न मान कर अधिरचना माना है वे पद्धतियाँ किसी भी संस्कृति को सतही ढंग से व्याख्यायित करती हैं। उदाहरण के लिए मार्क्सवादी भारतीय संस्कृति के मोक्ष नामक पुरुषार्थ का या तो निषेध करते हैं या उसे आर्थिक उत्पादन व्यवस्था को बरकरार रखने के लिये अधिरचना का अंग मानते हैं। यह बात मान लेने पर मोक्षाभिलाषा संस्कृति को परिचालित करने वाली शक्ति नहीं रह जाती बल्कि वह स्वत: आर्थिक कारणों से परिचालित होती है। इसीलिये गोविन्द चन्द्र पांडे का यह आग्रह है कि किसी भी संस्कृति का बोध तब तक अधूरा है जब तक हम उस मूल विधान से परिचित न हों जिसे मनुष्य अपने जीवन में उतारने पर कृतार्थता अनुभव करे। गोविन्द चन्द्र पांडे की संस्कृति सम्बन्धी दृष्टि विभिन्न विषयों पर उनके विचारों को एक सूत्र में बांधती है। अत: संक्षेप में उसका वर्णन नीचे प्रस्तुत है—प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन पर उनकी परम्परानिष्ठ दृष्टि को समझने के लिए।

पांडे के अनुसार संस्कृतियों की पहचान उनके मूल विधान से होती है। उनके बाह्य रूप में बहुत कुछ ऐसा है जो दूसरी संस्कृतियों के बाह्य रूपों के समान है। जीवन यापन के लिये कृषिकर्म, वस्तुओं को गढ़ने-बनाने के लिये औजारों का प्रयोग, यातायात के साधन से सब विभिन्न संस्कृतियों में समान दीख पड़ेंगे। पर जहां ये संस्कृतियां असमान हैं वह है उनका मूल विधान। पांडे के अनुसार मनुष्य मात्र शरीर ही नहीं है उन्होंने मनुष्य के स्वरूप को समझने के लिए प्राचीन भारतीय दृष्टि को स्वीकार किया है। मनुष्य मूलत: आत्मा सम्पन्न है। आध्यात्मिकता उसके स्वरूप की आदर्श अभिव्यक्ति है। अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोष—ये पाँच कोष हैं अर्थात् मानवीय जीवन के पांच धरातल आनन्दमय कोष मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य है। यह उसकी मुक्ति का धरातल है—उन सभी बन्धनों से मुक्ति जो संस्कारों से निर्मित थे। यह गुणातीत अवस्था है। इसे शंकराचार्य ने आत्मजय की अवस्था कहा है। यह आत्मोप्लब्धि है। इसका साक्ष्य विज्ञान के साक्ष्य की तरह साधारणीकृत नहीं है। पर वह इसलिए प्रामाणिक है कि वह योगियों, संन्यसियों और सन्तों की स्वानुभूति है। उनका साक्ष्य ही प्रमाण है। यह उन सभी लोगों के लिये भी प्रामाणिक हो सकता है जो इस लक्ष्य के अनुरूप साधनारूढ़ हों।

आत्मोप्लब्धि मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य है। इसे केन्द्र में रखकर भारतीय संस्कृति ने इस लक्ष्य के अनुकलू मूल्य शृंखला सृजित की है। मूल्य कोई भी हो उसे बाह्य जीवन में सांकेतिक अभिव्यक्ति ही प्राप्त होती है। इसलिए संस्कृति का पूरा विधान सांकेतिक विधान है। मनुष्य प्रतीकों की रचना करता है। ये प्रतीक मूल्यों के संकेत हैं। पांडे जर्मन विचारक अर्नेस्ट काजरेयर की यह बात स्वीकार करते हैं कि मनुष्य मूलत: होमोसिम्बालिस (प्रतीक गढ़ने वाला प्राणी) है। इसलिए उसके प्रतीकों का अध्ययन भौतिक वस्तु मान कर नहीं किया जा सकता। पांडे के अनुसार समाज जड़ पदार्थ की तरह ठोस वस्तु नहीं है। यह विचारों और मूल्यों से सज्जित विधान है। उदाहरण के लिए विश्वविद्यालय भवन, कमरे, कार्यालय, कुलपति, अध्यापक और छात्रों का मात्र समूह नहीं है, यह एक विचार की अभिव्यक्ति है, और यह विचार है अध्ययन और अध्यापन की क्रिया। इस क्रिया को

सम्पन्न करने के लिए भवन, अध्ययन कक्ष, कुलपति, कार्यालय, अध्यापक और छात्र बाह्य उपकरण हैं। ये विश्वविद्यालय के मूल तत्व नहीं हैं। अध्ययन और अध्यापन के अभाव में इन बाह्य उपकरणों के रहते हुए भी विश्वविद्यालय निष्प्राण और निस्पंद रहेगा—एक पत्रविहीन ठूंठ की तरह।

ठीक यही बात समाज पर भी लागू होती है। पांडे के अनुसार समाज एक प्रत्यय है—एक मूल्यनिष्ठ प्रत्यय, यही स्थिति संस्कृतियों की भी है। यह मनुष्य का स्वभाव है कि वह मात्र जीने के लिये नहीं जीता, बल्कि किसी लक्ष्य को जीवन में उतारने के लिये सचेष्ट प्रयास करता है। इस प्रकार मनुष्य का एक पैर तो काल की सीमाओं में बंधा है और दूसरा पैर काल की सीमाओं के अतिक्रमण के लिए प्रयासरत है। इस प्रयास में मनुष्य इतिहास में कभी पूर्णता प्राप्त नहीं कर पाता—बहुत से बाह्य दबाबों और बन्धनों के नाते। पर इतने मात्र से संस्कृतियां हताश नहीं होती, वे नयी ऐतिहासिक चुनौतियों में नयी शैली से अपने मूल्यों का निर्वचन करती हैं और उनके परिवर्तित और संशोधित संस्करण प्रस्तुत करती हैं। समाज विधान का तदनुरूप परिवर्तन होता है। यह क्रिया अनवरत चलती है—आदर्श और यथार्थ के अन्तराल को पाटने की क्रिया। पर आदर्श है कि वह काल में बंधता नहीं। पांडे के अनुसार यह क्षितिज की तरह है कि जितना हम अपनी बांहों में समेटने के लिये उसकी ओर बढ़ते हैं उतना ही वह पीछे खिसकता जाता है। पर न तो आगे बढ़ने की क्रिया रुकती है और न पीछे क्षितिज का सरकना।

यह सांस्कृतिक दृष्टि किसी भी संस्कृति को समझने में सहायक है—इसीलिए भारतीय संस्कृति को भी इसी को ध्यान में रखकर पांडे ने प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की व्याख्या अपने ग्रन्थों में यत्र-यत्र की है, पर अपनी पुस्तक 'जैन पोलिटिकल थाट' में तो विधिवत व्याख्या की है। उनके अनुसार इस राजनीतिक चिन्तन को समझने के लिए जितनी पश्चिमी पद्धतियां हैं वे सभी अक्षम हैं। ये प्रचलित पद्धतियां राजनीति की उस अवधारणा को स्वीकार करती हैं जो मूल्य निरपेक्ष हैं। वे या तो निरंकुश सत्ता को सामाजिक शांति और व्यवस्था के लिये अनिवार्य मानती हैं अथवा व्यक्तियों के निजी स्वार्थों के सम्मुच्चय और संतुलन पर टिकी हुई राज्य व्यवस्था को विधि और व्यवस्था के लिए स्वीकार करती हैं। इन दोनों दृष्टियों में राजनीति अथवा सार्वजनिक जीवन उन मूल्यों पर प्रतिष्ठित नहीं हैं जो मनुष्य के लोभ, भय और स्वार्थ के अतिक्रमण को सीमित, संयमित और अनुशासित करता है। पाश्चात्य पद्धतियों के लिए राजनीति के मूल्य साधन हैं, साध्य नहीं। यह सही है कि आधुनिक पाश्चात्य चिन्तन में इस प्रवृत्ति के कुछ बड़े विशिष्ट अपवाद भी हैं, वे हैं कान्ट, हेगल, ग्रीव, ब्रैडले और बोसांके। पर ये अपवाद आधुनिक राजनीतिक चिन्तन की मूल्य निरपेक्ष मुख्य धारा को ओर भी उजागर करते हैं।

पांडे के अनुसार आधुनिक पाश्चात्य चिन्तन ने ज्ञान के समाजशास्त्र (सोशियालोजी आफ नालेज) में अनुस्यूत स्थापनाओं को बद्धमूल मान लिया है। इन स्थापनाओं के नाते पाश्चात्य विचारकों के लिए ज्ञान परिवर्तनशील प्रक्रिया का अंग है। सामाजिक, ऐतिहासिक और आर्थिक दबावों के नाते इसका स्वरूप निर्धारित होता है। यह काल सापेक्ष और देश सापेक्ष है। यह विकासशील है। इस धारणा पर डार्विन के विकास सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रभाव भी दीख पड़ता है। विज्ञान के प्रभाव से अभिसिंचित वस्तुनिष्ठतावाद के दायरे में जितना ज्ञान समाता है वही ज्ञान है, और इस दायरे में वही ज्ञान समाएगा जो या तो समाजशास्त्रीय पद्धति से ज्ञात हुआ है अथवा शुद्ध वैज्ञानिक पद्धतियों से। ज्ञान के समाजशास्त्र के लिये कोई ज्ञान अन्तिम रूप से प्रामाणिक नहीं है।

जिन सैद्धान्तिक स्थापनाओं पर भारतीय राजनीतिक चिन्तन आधारित है वे ज्ञान के समाजशास्त्र की स्थापनाओं से भिन्न हैं। भारतीय स्थापनाएं शाश्वत और सनातन की सत्ता को स्वीकार करती हैं। ज्ञान के समाजशास्त्र के लिए इहलौकिकता ही अत्यन्त प्रामाणिक है। भारतीय चिन्तन सनातन और शाश्वत को दृष्टि में रखकर सार्वकालिक मूल्य विधान की सृष्टि करता है। ज्ञान के समाजशास्त्र के लिए कोई सार्वकालिक मूल्य विधान नहीं है, जो भी मूल्य विधान है वह तदर्थ है, संचरणशील है, देश-काल सापेक्ष है। भारतीय चिन्तन यथार्थ और आदर्श के अन्तराल को स्वीकार करता है और जो तदर्थ है उसके अतिक्रमण की अनुशंसा करता है। ज्ञान का समाजशास्त्र यथार्थ का ही लेखा-जोखा रखता है। आदर्श और यथार्थ के अन्तराल का बोध करते हुए भी यथार्थ के आधार पर ही व्यावहारिक निष्कर्ष

रेखांकित करता है। इसी दृष्टि को वह प्रासंगिक और प्रयोजनवादी मानता है।

पांडे के अनुसार शाश्वत नैतिक मूल्यों पर ही समाज का विधान निर्मित है। यह विधान परिवर्तनशील है पर परिवर्तन शाश्वत और सनातन को दृष्टि में रख कर ही ग्राह्य है। इसीलिये सत्ताधारी कोई भी हो—राजा अथवा जनता के प्रतिनिधि—किसी को भी लक्ष्मण रेखा का अतिक्रमण नहीं करना है। यह लक्ष्मण रेखा धर्म का दायरा है। राजधर्म से अपेक्षा है कि वह मर्यादित और संयमित हो, इसीलिए राजा की शिक्षा का व्यापक विधान किया गया है, और इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि राजा की सर्वोत्तम विजय राजा का आत्मजय है। अर्थात राजा सबसे पहले अपने ऊपर विजय प्राप्त करे। अपनी आकांक्षाओं और अपनी चित्तवृत्तियों का निरोध करे। इसके अभाव में सत्ता—चाहे इसका स्वरूप राजतंत्रात्मक हो या लोकतांत्रिक—उच्छृंखल ही होगी। डा० पांडे का यह विश्वास है कि परम्परानिष्ठ उपागम प्राचीन राजदर्शन के सम्यक् मूल्यांकन के लिए तो अपेक्षित है ही यह आधुनिक पाश्चात्य दृष्टियों के अन्तर्विरोधों और सीमाओं की समीक्षा के लिए भी सहायक है।

1.4 सारांश

प्राचीन भारत के राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन के लिए प्रयोग किए गए विभिन्न उपागमों की एक संक्षिप्त चर्चा आपके समक्ष प्रस्तुत की गयी है। इनके अध्ययन से आपको यह ज्ञात हुआ होगा कि इतिहासकारों और विद्वानों ने भारतीय राजनीतिक चिन्तन को विभिन्न दृष्टियों से देखने-परखने का प्रयास किया है। कुछ मनीषियों के लिए पाश्चात्य चिन्तन की अवधारणाएं ही वे मान्य कसौटी उपलब्ध कराती हैं जिन पर भारत के राजनीतिक चिन्तन को कसा जा सकता है, और यदि यह इन कसौटियों पर खरा नहीं उतरता तो अवश्य इसमें खोट है। दूसरे विद्वान इसके प्रत्युत्तर में प्राचीन भारत की राजनीतिक परम्परा में उन सभी संकल्पनाओं और संस्थाओं को खोज निकालने का प्रयत्न करते हैं जिन संकल्पनाओं और संस्थाओं के नाते पाश्चात्य चिन्तन अपनी श्रेष्ठता का दावा करता है। मार्क्सवादी इतिहासकार उत्पादन की पद्धति को एक ऐसी जादुई छड़ी के रूप में प्रयोग करते हैं जिससे भारतीय सामाजिक राजनीतिक संरचना पर पड़े हुए रहस्य के पर्दे को उठा कर उसके वास्तविक रूप को सामने लाया जा सकता है। दूसरी ओर समाजशास्त्रीय पद्धति का अनुसरण करने वाले विद्वान प्राचीन भारत की जटिल सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था की व्याख्या जाति, गोत्र और रक्त-सम्बन्ध आदि के आधारों पर प्रस्तुत करते हैं। इन सभी उपर्युक्त दृष्टियों में जो एक सामान्य बात है वह यह है कि ये सभी दृष्टियां पश्चिमी जगत की वैचारिक या दार्शनिक मान्यताओं से जाने-अनजाने प्रभावित हैं। इन सबसे अलग पारम्परिक दृष्टि भारतीय राजनीतिक चिन्तन को भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के बृहद् परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयास करती है। इस दृष्टि के अनुसार सांस्कृतिक परम्परा से अलग कर भारतीय राजनीतिक चिन्तन केवल इस चिन्तन के आवरण को समझाना है, उसकी आत्मा को नहीं। आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्य व्यवस्था का संदर्भ ग्रहण किए बिना हम इसकी आत्मा में प्रवेश नहीं कर सकते। एक प्रश्न तो यह है कि जब हम पश्चिम के दार्शनिकों एवं विचारकों का अध्ययन पश्चिम की दार्शनिक और ऐतिहासिक परम्परा के संदर्भ में करते हैं तो क्यों हम भारतीय राजनीतिक चिन्तन का अध्ययन भारत की आध्यात्मिक दार्शनिक और ऐतिहासिक परम्परा के संदर्भ में नहीं कर सकते? क्यों हमें इस अध्ययन के लिए पश्चिमी संकल्पनाओं को आयातित करना आवश्यक है?

उपर्युक्त सभी पद्धतियों में, हम यह कह सकते हैं कि, परम्परामूलक पद्धति का दार्शनिक आधार सबसे सशक्त है, किन्तु इसे सशक्त मानने का यह अर्थ नहीं है कि भारत को उसकी प्राचीन अवस्था में लौटा ले चलना चाहिए। यह बात भी सही है कि सभी प्रश्नों के उत्तर या सभी शंकाओं के समाधान इस पद्धति में उपलब्ध नहीं हैं। लेकिन इससे कोई निराशा की स्थिति नहीं उत्पन्न होती है। आनन्द कुमार स्वामी ने भी यह कहा था कि हर पीढ़ी को अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं खोजना पड़ता है। ऐसा नहीं है कि वर्तमान भारत में राजनीतिक और नैतिक मूल्यों का जो संकट दिखाई पड़ रहा है, उसका कोई पका-पकाया हल हमें भारत की सांस्कृतिक परम्परा में प्राप्त हो

जाएगा, और हम आज के भारत की समस्याओं को हल कर लेंगे। ऐसा नहीं है, और ऐसा हो नहीं सकता, सिर्फ यह हो सकता है कि हम अपनी सांस्कृतिक परम्परा के आलोक में चीजों को देखने की अपनी दृष्टि संशोधित कर सकते है। जब दृष्टि का परिमार्जन होगा तब हम अपनी समस्याओं को बेहतर तरीके से समझ सकेंगे, और सम्भव है कि उनका हल भी निकाल सकेंगे। अपनी परम्परा को छोड़ना अपनी उस विरासत को ही छोड़ देना होगा जो हमें हमारी पहचान देती है। ऐसी स्थिति में हमारा केवल एक जैविकीय जीवन ही रह जाएगा। परम्परा की परिधि में बने रहकर ही हम अप संस्कृति और वैश्वीकरण के नाम पर प्रसारित उपभोक्ता संस्कृति के निरन्तर प्रहार से भारतीय सामाजिक जीवन की रक्षा कर सकते हैं।

1.5 उपयोगी पुस्तकें

1. Asthana, M; 'Tradition and Society' : The Hindu View (an article published in The Modern Review, Casutta, June 1976)
2. Coomaraswamy, A.K.; Essays in National Idealisn
3. " Spiritual Authority and Temporal Power in the Indian Thery of Government
4. Ghoshal, U.N.; A History of Indian Political Ideas
5. Jayaswal, K.P.; Hindu Polity
6. Kane, P.V.; History of Dharmasastra
7. Pande, G. C.; An Aproach to Indian Culture and Civilization
8. " Foundations of Indian Culture (Vol I+II)
9. Sharma, R.S; Material Culture and Social formasions in Ancient India
10. " Aspeets of Political Ideas and Institutuions in Ancient India
11. Thaper, R: Ancient Indian Social History
12. Verma, V.P.; Studies in Hindu Political Thought and its Metaphysical Foundations

1.6 सम्बन्धित प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

(i) प्राचीन भारत की सामाजिक राजनीतिक व्यवस्था के सम्बन्ध में कार्ल मार्क्स का क्या मत था?

(ii) भारतीय राजनीतिक चिन्तन के प्रति डी० डी० कौशाम्बी के विचारों को स्पष्ट कीजिए?

(iii) समाजशास्त्रीय उपागम के मुख्य लक्षणों को संक्षेप में प्रस्तुत कीजिए?

(iv) भारतीय दार्शनिक एवं राजनीतिक चिन्तन के सम्बन्ध में आनन्द कुमार स्वामी की क्या दृष्टि थी?

(v) राष्ट्रवादी उपागम के अन्तर्विरोधों को रेखांकित कीजिए?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(i) प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के सम्बन्ध में साम्राज्यवादी-उपनिवेशवादी पौर्वात्यवादी दृष्टिकोण क्या है?

(ii) राष्ट्रवादी उपागम के प्रमुख लक्षणों का वर्णन कीजिए।

(iii) प्राचीन भारत के सम्बन्ध में रामशरण शर्मा के विचारों को प्रस्तुत कीजिए। मार्क्सवादी

ऐतिहासिक उपागम की क्या कमियां हैं?

(iv) समाजशास्त्रीय एवं नृतत्व केन्द्रित उपागम की प्रमुख मान्यताएं क्या हैं? क्या इस उपागम के द्वारा प्राचीन भारत के सामाजिक राजनीतिक संगठन का संतोषजनक अध्ययन किया जा सका है?

(v) डा० गोविन्द चन्द्र पांडे की परम्परामूलक दृष्टि को प्रस्तुत कीजिए?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(i) निम्नलिखित में से कौन सी पुस्तक डा० काशी प्रसाद जायसवाल ने लिखी है?

(अ) हिन्दू पॉलिटी (ब) इवोल्यूशन आफ इण्डियन पॉलिटी

(स) ए हिस्ट्री आफ इण्डियन पोलिटिकल आईडियाज

(ii) 'मेटीरियल कल्चर एण्ड सोशल फारमेशन्स इन एन्शियन्ट इण्डिया' नामक पुस्तक के लेखक का क्या नाम है?

(अ) डी० डी० कोशाम्बी (ब) राम शरण शर्मा

(स) रोमिला थापर

(iii) निम्नलिखित में से कौन सा उपागम भारतीय राजनीतिक चिन्तन को समझने के लिये उत्पादन पद्धति को वरीयता देता है?

(अ) राष्ट्रवादी उपागम (ब) समाजशास्त्रीय एवं नृतत्व केन्द्रित उपागम

(स) मार्क्सवादी ऐतिहासिक उपागम

(iv) डा० गोविन्द चन्द्र पांडे का नाम आप किस उपागम के साथ जोड़ेंगे?

(अ) परम्परामूलक उपागम (ब) राष्ट्रवादी उपागम

(स) मार्क्सवादी-ऐतिहासिक उपागम

(v) किसके अनुसार पाणिग्रहण संस्कार का मंत्र सम्पूर्ण भारतीय राजनीतिक चिन्तन की तात्विक अभिव्यक्ति है?

(अ) गोविन्द चन्द्र पांडे (ब) आनन्द कुमार स्वामी

(स) यू० एन० घोषाल

1.7 प्रश्नोत्तर

i. (अ) ii. (ब) iii. (स) iv. (अ) v. (ब)

इकाई 2 : प्रकृति और विशेषताएं

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 चिन्तन की प्रकृति
2.3 प्रमुख विशेषताएं
2.4 आध्यत्मिकता
2.5 बौद्धिकता
2.6 तेजस्विता
2.7 बौद्ध राजनीतिक दर्शन
2.8 जैन राजनीतिक दर्शन
2.9 कुछ आलोचनाओं पर विचार
2.10 सारांश
2.11 उपयोगी पुस्तकें
2.12 सम्बन्धित प्रश्न
2.13 प्रश्नोत्तर

2.0 उद्देश्य

इस अध्याय का उद्देश्य आपको प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की प्रकृति या स्वभाव और उसकी प्रमुख विशेषताओं से परिचित कराना है, इस अध्याय का अध्ययन करने के उपरान्त आप यह जान सकेंगे कि—

- प्राचीन भारतीय राजनीतिक दर्शन (विशेषकर हिन्दू राजनीतिक दर्शन) किन मान्यताओं या मूल्य व्यवस्था पर आधारित था। बौद्ध एवं जैन राजनीतिक दर्शन को अलग-अलग शीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत करने का कारण यह नहीं है कि हिन्दू दृष्टि से इनका कोई मौलिक मतभेद था, बल्कि ऐसा केवल आपके अध्ययन की सुविधा के लिए किया गया है।
- प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख विशेषताएं क्या हैं स्पष्ट है कि इन विशेषताओं की खोजकर करने के प्रयास में हमें इस दार्शनिक परम्परा का पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन की परम्परा से जो भेद है उसे जगह-जगह रेखांकित करना होगा।
- अनेक भारतीय एवं पाश्चात्य लेखकों ने प्राचीन भारतीय राजनीतिक व्यवस्था एवं दर्शन के सम्बन्ध में अपनी समालोचनाएं और अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण टिप्पणियों से आपको अवगत कराते हुए इन पर विचार किया जाएगा।

2.1 प्रस्तावना

प्राचीन संस्कृतियों में सांस्कृतिक परम्परा एक भिन्न अर्थ लिए हुए दिखाई देती है। संस्कृति की आधुनिक धारणा में संस्कृति विवरणात्मक है और अनुभव पर आधारित है। किन्तु संस्कृति के बारे में प्राचीन समझ इसे अनुभवातीत मानती है, इसे एक ऐसे बौद्धिक ज्ञान से परिपूर्ण मानती है जो मनुष्य के समक्ष एक मूल्य व्यवस्था की स्थापना करता है। मनुष्य का आध्यात्मिक जीवन इस मूल्य व्यवस्था का अनुसरण करने या अपने जीवन में आत्मसात करने में निहित है। भारतवर्ष में हमेशा आध्यात्मिकता व्यवहार की चीज रही है। यह किसी धर्मग्रंथ, किसी विद्वान के भाष्य या लेखों में नहीं है, और न ही अकेले एक व्यक्ति को ईश्वर ने आध्यात्मिक सत्य को प्रदान किया है। वास्तव में आध्यात्मिक जीवन दृष्टि एक जीवंत दृष्टि है जो साधना के फलस्वरूप किसी को प्राप्त हो सकती है, और जो एक बार प्राप्त हो जाने पर व्यक्ति के आन्तरिक एवं बाह्य जीवन को सम्पूर्ण रूप से परिवर्तित कर देती है। आध्यात्मिक जगत् में ऐसे ही व्यक्ति की सत्ता स्वीकार की जाती है। इसे सिद्ध या सन्त

या ऋषि या योगी आदि कहा जाता है।

प्राचीन भारत में सांस्कृतिक परम्परा निगम और आगम दो शाखाओं में प्रकट होती है। निगम शाखा का आधार वेद है। दूसरी ओर आगम शाखा न केवल शैव, शाक्त, वैष्णव आदि सम्प्रदायों को अपने में सम्मलित करती है बल्कि यह व्याकरण, दण्डनीति, आयुर्वेद और यहाँ तक कि नामशास्त्र को भी सम्मलित करती हैं। किन्तु मान्यता यही रही है कि ये सभी शास्त्र एक अनुभवातीत स्रोत से जन्म लेते हैं, ये मनुष्य के परिवर्तन शील अनुभवों पर आश्रित नहीं हैं, ये बुद्धि द्वारा समझे जा सकते हैं, और ये आचरण में लाए जा सकते हैं। अत: स्पष्ट है कि भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में बुद्धि और अनुभव या ज्ञान और व्यवहार में कोई तीखा भेद नहीं किया गया है। इस परम्परा में अनुभव, बुद्धि और विदित ज्ञान का एक श्रेणीबद्ध संगठन है जो मनुष्य को जीवन की विभिन्न गतिविधियों के लिए ज्ञान रूपी प्रकाश देता है, और उसे आध्यात्मिक जीवन की सीढ़ियां चढ़ने में सहायता प्रदान करता है। अन्तिम शिखर पर पहुंचने वाला व्यक्ति अनुभव पर आधारित अपनी पहचान या अपनी ऐतिहासिक पहचान को छोड़ कर अपनी एक अनुभवातीत या दैवी पहचान को प्राप्त करता है, वही मुक्त कहा जाता है।

2.2 चिन्तन की प्रकृति

उपर्युक्त प्रस्तावना इस बात की ओर स्पष्ट संकेत करती है कि हिन्दू राजनीतिक चिन्तन एक बृहत् आध्यात्मिक दार्शनिक दृष्टि की उपज है। यह अपने आप में स्वतंत्र या स्वायत्त नहीं है यह चिन्तन उसी अनुभवातीत स्रोत से अपनी जीवन शक्ति प्राप्त करता है जिस स्रोत से प्राचीन भारत की सांस्कृतिक परम्परा। अत: प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन को भारत की सांस्कृतिक परम्परा से अलग करके नहीं देखा जा सकता है। यह चिन्तन उसी परम्परा का एक अंग है, और एक अंग के रूप में हा इसे मान्यता प्रदान की जाती रही है। पाश्चात्य जगत् में यदि प्लेटो से न भी मानें तो अरस्तू से तो निश्चित तौर पर राजनीतिक चिन्तन एक स्वतंत्र धरातल प्राप्त कर लेता है। मध्य युग में मनुष्य के जीवन पर ईसाई धर्म का वर्चस्व तो था किन्तु राजनीतिक चिन्तन को ईसाई धर्म और दर्शन के दायरे में बांध कर रखना बहुत दिनों तक सम्भव नहीं हो सका। चर्च और राज्य और उनके प्रतिनिधियों पोप और राजा के बीच होने वाले लम्बे संघर्ष में अन्त में विजय राज्य और राजा की हुई। भारतवर्ष में ऐसे किसी संघर्ष की सम्भावना ही नहीं बनती थी क्योंकि यहां पर लौकिक एवं पारलौकिक के बीच कोई दीवार नहीं खड़ी की गयी थी, यहां पर धरती के नगर और ईश्वर के नगर के बीच कोई गहरी खाई नहीं खोदी गयी थी। लौकिक एवं आध्यात्मिक जीवन में एक द्वंद्वात्मक एकता थी जो सर्वव्यापी और सार्वभौम थी।

हिन्दुओं की आध्यात्मिक-दार्शनिक दृष्टि और उनका राजनीतिक चिन्तन एक दूसरे से सम्बद्ध तो है, किन्तु यह एक आश्चर्य की बात है कि जहां एक ओर उनके दर्शन की एक सुदृढ़ व्यवस्था है, उसमें सुखदविविधता है, और उर्वराशक्ति है, वहीं दूसरी आंर, उनका राजनीतिक चिन्तन वेदों के समय से लेकर चौदहवीं शताब्दी में मुस्लिम शासन के सुदृढ़ होने तक लगभग अपरिवर्तनशील रहा। यह चिन्तन सीधा, सरल और एक उबाऊ एकरूपता लिए हुए है। नवीन दार्शनिक मान्यताओं और धार्मिक आन्दोलनों के द्वारा समय-समय पर उत्पन्न की जाने वाली सैद्धान्तिक और व्यावहारिक चुनौतियों ने राजनीतिक चिन्तन में थोड़ा बहुत परिवर्तन तो अवश्य किया, किन्तु ऐसा कोई परिवर्तन नहीं किया जिसे रेखांकित करना अनिवार्य हो। नये जाति समूहों का उदय, नये स्वरूप के नियमों की स्थापना, विदेशी आक्रमण और विदेशियों के भारत में बसने जैसी घटनाओं ने भी इस इस चिन्तन परम्परा में परिवर्तन किया किन्तु फिर भी चिन्तन की मूल श्रेणियों में कोई बदलाव नहीं आया। न ही नये राजनीतिक प्रश्न उठाए गए और न ही समस्याओं का समाधान खोजने में कोई नयी तरह की पहल की गयी। हिन्दू राजनीतिक चिन्तन की एकता एक बड़ा कारण थी जिससे विद्वान इस चिन्तन परम्परा की ओर आकर्षित नहीं हुए। इसकी तुलना में ग्रीक और रोमन राजनीतिक चिन्तन दार्शनिक दृष्टि से कहीं अधिक धनी माना गया।

हिन्दू राजनीतिक विचारक यह मानते हैं कि समूचे ब्रह्मांड में एक व्यवस्था है। यह व्यवस्था ऋत्, जो एक अनुलंघनीय सार्वभौम विधान है के द्वारा स्थापित की गयी है। ऋत् ईश्वरीय बुद्धि का प्रतिनिधित्व

तो करता है किन्तु इसे ईश्वर की इच्छा भी परिवर्तित नहीं कर सकती है। यह सदा स्थिर रहने वाली एक सनातन वैधानिक व्यवस्था है जो स्वभाव से बौद्धिक और नैतिक दोनों है। इस ब्रह्मांड में सभी का स्थान और कर्तव्य निर्धारित है, और इस ब्रह्मांड की व्यवस्था इसी बात पर निर्भर करती है सभी अपने स्थान पर रहते हुए अपने कर्तव्यों का पालन करें। मानवीय समाज भी इसी ब्रह्मांड का एक अनिवार्य अंग है, यह समाज ब्रह्मांड की व्यवस्था को प्रतिबिम्बित करता है लेकिन ऐसा वह तभी करता है जब इस समाज में रहने वाले व्यक्ति अपने पदों या स्थानों पर रहते हुए अपने निर्धारित दायित्व या कर्तव्य का निर्वहन करें। विपरीत स्थिति में सामाजिक व्यवस्था भंग हो जाएगी और ब्रह्मांड से इसका सनातन का सम्बन्ध भी विघाटित हो जाएगा इसीलिये हिन्दू चिन्तन में कर्तव्य पालन पर आत्यधिक बल दिया गया है। यही व्यक्ति और समाज दोनों को संरक्षित करता है, और इन्हें एक दैवी व्यवस्था से संयुक्त करता है।

मानव समाज के प्रति ऐसा दृष्टिकोण अपनाते हुए हिन्दू राजनीतिक चिन्तन दो महत्वपूर्ण संकल्पनाओं को प्रस्तुत करता है ये हैं धर्म और दंड। हिन्दू राजनीतिक व्यवस्था इन्हीं दो केन्द्रीय संकल्पनाओं पर आधारित है। यह माना गया था कि क्षेत्रीय आधार पर गठित किसी समाज या जन समूह को शासित करने का अर्थ यही है कि किस प्रकार दण्ड का प्रयोग कर धर्म की व्यवस्था को बनाए रखा जाय। प्रारम्भ में तो धर्म और दण्ड को एक दूसरे का पूरक माना गया था (बाद में भी एक हद तक ऐसा ही माना जाता रहा), किन्तु आगे चल कर विचारकों ने राजनीतिक जीवन की चर्चा एक दूसरी संकल्पना को दृष्टि में रख कर करना प्रारम्भ कर दिया। इसी कारण हिन्दू राजनीतिक चिन्तन की दो शाखाएं दिखाई पड़ने लगी। धर्म को प्रधानता देने वाली शाखा धर्मशास्त्रीय और दण्ड को प्रधानता देने वाली शाखा अर्थशास्त्रीय शाखा कहलाई। धर्मशास्त्रीय शाखा में व्यक्ति, सामाजिक समूह, राजा (या सरकार) के धर्म या कर्तव्य की चर्चा विस्तार से की गयी है। धर्म का अर्थ है कर्तव्य, और सभी के कर्तव्यों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत की गयी है। यह सूची आचरण के नियमों को बताती है, और मनुष्य के पूरे जीवन को अपने दायरे में रखती है। राजनीतिक धर्म को अलग से कोई विशिष्टता नहीं प्रदान की गयी है बल्कि इसे भी उन्हीं कर्तव्यों की सूची में सम्मलित किया गया है जो मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन पर लागू होते हैं। इस बात की भी चर्चा की गयी है कि यदि विभिन्न कर्तव्यों में अन्तर्विरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाए तो ऐसी स्थिति में समाधान कैसे प्राप्त किया जा सकता है। धर्म शास्त्रों के रचयिता उतने नैतिक दार्शनिक नहीं प्रतीत होते जितने कि विधिदाता प्रतीत होते हैं, धर्मशास्त्र व्यवस्थित ग्रन्थ हैं जो शुद्ध या सही आचरण के सामान्य सिद्धान्तों को प्रस्तुत करते हैं, शास्त्र शब्द का प्रयोग अधिकार सम्पन्नता के अर्थ में भी किया जाता है अत: इस अर्थ में शास्त्रों में बताए गए आचरण के नियमों में एक अनिवार्यता होती है। उनका पालन व्यक्ति या समूह की इच्छा पर निर्भर नहीं करता है।

धर्मशास्त्रों की तुलना में अर्थशास्त्र के लेखकों की रुचि दण्ड की व्यवस्था और संगठन में अधिक दिखाई पड़ती है। दण्ड नीति राजनीतिक जीवन का व्यवस्थित अध्ययन करती है। यह नीति इस बात का अध्ययन करती है कि सरकार, जो दंड देने का अधिकार रखती है, को किस प्रकार संगठित किया जा सकता है और सरकार की दण्ड देने की शक्ति या अवपीड़क शक्ति सबसे अच्छे तरीके से कैसे प्रयोग की जा सकती है। अर्थशास्त्र के रचयिता शक्ति के स्वभाव व उसकी यांत्रिकी को समझने का प्रयास करते है। वे इस बात का अध्ययन करते है कि शक्ति कैसे प्राप्त की जाती है, कैसे यह शिथिल या कमजोर पड़ जाती है, और किन परिस्थितियों में यह शासक के हाथ से निकल जाती है। चूंकि अर्थशास्त्र के लेखक प्रमुख रूप से सरकार का अध्ययन करते हैं अत: यह कहा जा सकता है कि उनका दृष्टिकोण धर्मशास्त्रों के लेखकों की तुलना में अधिक राजनीतिक है। यहां तक कहा जा सकता है कि वे राजनीतिक जीवन की स्वायत्तता को स्वीकार करते हैं।

राजनीति के प्रति धर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण और अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण के बीच एक कठोर विभाजन रेखा खींचने की भूल नहीं की जानी चाहिए। यह सही है कि धर्मशास्त्रों का दृष्टिकोण आदेशात्मक एवं नैतिक है, जबकि अर्थशास्त्रों की रचना यथार्थ और व्यवहार के धरातल को दृष्टि में रख कर की गयी है, किन्तु यह बात भी सही है कि धर्मशास्त्र के लेखक भी यह मानते हैं कि ऐसी परिस्थितियां भी हो सकती हैं कि राजनीतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए नैतिक नियमों व मूल्यों को अनदेखा

किया जा सकता है। परिस्थितियों के अनुसार शक्ति का प्रयोग करने से उन्हें कोई परहेज नहीं था। दूसरी ओर अर्थशास्त्र के लेखक, कभी-कभी शक्ति को अपने आप में एक साध्य मानते हुए भी, इस बात को स्वीकार करते थे कि धर्म का पालन किया जाना चाहिए, और यह कि सरकार एक नैतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये गठित की जाती है। अतः यह कहना गलत होगा कि राजनीति के प्रति धर्मशास्त्रीय और अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण हिन्दू राजनीतिक चिन्तन की दो अलग-अलग परम्पराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। दोनों के अध्ययन की विषय-वस्तु में तो अन्तर है किन्तु दोनों में विचारों का कोई मौलिक मतभेद नहीं है। वास्तव में, व्यक्ति, समाज और इन दोनों के सम्बन्धों के बारे में इनकी धारणाएं एक आन्तरिक वैचारिक एकता को प्रदर्शित करती हैं। सतह पर दिखने वाला भेद या अन्तर वास्तविक नहीं है।

धर्म की दृष्टि से राजनीतिक जीवन का अध्ययन और दण्ड की दृष्टि से इसका अध्ययन स्वाभाविक रूप से बलाघात और सम्मान का अन्तर उत्पन्न करता है। चूंकि धर्मशास्त्र कर्तव्यों की व्यवस्था निर्मित करने में रुचि रखते थे अतः उनके अध्ययन का सम्मान वैधानिक एवं धार्मिक था। इसके विपरीत अर्थशास्त्री सरकार के संगठन और कार्य प्रणाली, उसकी संस्थाओं और नीतियों का अध्ययन करते हैं, और इसी कारण उनका सम्मान गैर धार्मिक एवं गैर नैतिक है। लेकिन इस कारण से उनके बीच पारलौकिक और लौकिक का भेद करना उचित नहीं है। दोनों ही अध्ययन अपने आप में पूर्ण नहीं हैं, और न ही दोनों शाखाओं के अनुयायियों ने ऐसा माना था। दोनों शाखाएं एक दूसरे को पूरित करती हैं और दोनों मिल कर हिन्दू राजनीतिक चिन्तन की परम्परा को निर्मित करती हैं। हिन्दू राजनीतिक चिन्तन की आत्मा बीच से खंडित नहीं है। यह एक व्यापक समन्वयवादी दृष्टि को प्रस्तुत करती है।

धर्म हिन्दू संस्कृति की एक सम्प्रभु संकल्पना है। लौकिक जगत् का समूचा इतिहास धर्म और अधर्म के बीच निरन्तर चलने वाले संघर्ष का इतिहास है। विजय अन्ततोगत्वा धर्म की होती है। ब्रह्मांड का कोई हिस्सा धर्म से अछूता नहीं है। यह सनातन है, सर्वव्यापी है, और सर्वश्रेष्ठ है। इस संकल्पना की भव्यता, इसकी गहराई और इसकी पहुंच का विश्लेषण करना न केवल हिन्दू राजनीतिक चिन्तन को समझने के लिए बल्कि सम्पूर्ण हिन्दू संस्कृति को समझने के लिए अनिवार्य है। किन्तु धर्म की सम्पूर्ण चर्चा यहाँ न तो आवश्यक है और न ही सम्भव, राजनीतिक दृष्टि से भारतीय चिन्तन में इस संकल्पना का क्या महत्व है और क्या भूमिका है इन बातों की चर्चा संक्षेप में यहां पर की जा रही है।

धर्मशब्द का अंग्रेजी अनुवाद 'रेलिजन' धर्म के सही अर्थ को नहीं प्रकट करता है। संस्कृत भाषा के धृ धातु से यह शब्द वियोजित हुआ है। 'धृ' का अर्थ है धारण करना अर्थात, धर्म वह है जो चीजों को धारण करता है। ऋग्वेद में यह शब्द इसी अर्थ में कई बार प्रयोग हुआ है लेकिन ऋग्वेद में ही यह शब्द वैधानिक आदेश या वैधानिक व्यवस्था के अर्थ में भी प्रयोग हुआ है। विशेष बात यह है कि वैदिक काल में यह शब्द किसी नैतिक अर्थ को नहीं प्रकट करता है। ऋत्, जो धर्म के समानान्तर प्रतीत होता है, वेदों में आंशिक रूप से नैतिक अर्थ रखता है। ऋत् का उल्लंघन एक पाप माना गया था, और उल्लंघनकर्ता को अपने को क्षमा किए जाने के लिए वरुण की उपासना करनी होती थी किन्तु ऋत् शब्द का प्रयोग भी, धर्म के समान, विधान के रूप में किया गया है। वैदिक युग में ऋत् और धर्म का भेद दिखाई पड़ता है, किन्तु आगे चल कर दोनों संकल्पनाएं एक दूसरे से संयुक्त हो गयीं जिसका फल यह हुआ कि धर्म को नैतिक प्रत्यय या सद्गुण के अर्थ में भी ग्रहण किया जाने लगा। उपनिषदों में धर्म की अवधारणा को और विस्तार दिया गया। इसे सत्य का पर्यायवाची माना गया, और इसे शास्त्र से शक्तिशाली समझा गया। उपनिषदों के समय में धर्म व्यक्ति के सम्पूर्ण निजी और सामाजिक जीवन का सर्वोच्च निदेशक सिद्धान्त हो गया।

हिन्दू चिन्तकों के लिए कुछ व्यक्तियों का किसी कारण से एक स्थान पर एकत्रित हो जाना समाज के निर्माण का पर्याप्त कारण नहीं होता है। मानव समाज, ब्रह्मांड के एक अंग के रूप में एक दैवीय धरातल पर स्थापित है। इस समाज के सभी हिस्से धर्म की एक विस्तृत व्यवस्था से बंधे हुए हैं। समाज जाति और वर्ण एक श्रेणीबद्ध संगठन है जिसमें सभी व्यक्तियों के धर्म पूर्व निर्धारित हैं। हिन्दू मान्यता के अनुसार किसी व्यक्ति का धर्म उसके जन्म की जाति द्वारा निर्धारित होता है। कोई व्यक्ति किस जाति में जन्म लेता है, यह मात्र संयोग की बात नहीं है बल्कि पूर्वजन्म में किए गए कर्म हमारे

जन्म की जाति निर्धारित करते हैं, अर्थात, धर्म एवं कर्म में एक महत्वपूर्ण अनिवार्य सम्बन्ध है। हमारे कर्म से हमारी जाति निर्धारित होती है, और हमारी जाति से हमारा धर्म, लेकिन कोई व्यक्ति केवल अपनी जाति का सदस्य नहीं होता, समाज में उसके विभिन्न सम्बन्ध होते हैं, और वह विभिन्न पदों पर काम करता है उसी के अनुरूप उसकी विभिन्न भूमिकाएं भी होती हैं। इन भूमिकाओं के भली-भाँति निर्वहन के लिए अलग-अलग धर्म की व्यवस्था की गयी है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति का पिता के रूप में एक धर्म होगा, तो अध्यापक के रूप में उसी व्यक्ति का दूसरा धर्म होगा। इस प्रकार व्यक्ति के जीवन की समूची गतिविधियों को धर्म के दायरे में सीमित कर दिया गया है। हिन्दू मनीषीयों ने व्यक्ति के जीवन को क्रम से चार आश्रमों में विभाजित किया है। सभी आश्रमों के अलग-अलग धर्म हैं, और ज्यों-ज्यों मनुष्य एक आश्रम से निकल कर अगले आश्रम में प्रवेश करता है उसका आश्रम धर्म परिवर्तित होता जाता है। ब्रह्मचर्य से प्रारम्भ होकर क्रमशः गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमों से होते हुए संन्यास में व्यक्ति की जीवन यात्रा समाप्त होती है।

धर्म व्यक्ति को, समाज को, और समूचे ब्रहांड को धारित करता है। इसका उल्लंघन प्रत्येक स्तर पर व्यापक अराजकता और अव्यवस्था उत्पन्न कर देता है। धर्म का पालन करने से ही समाज टिका रहता है, और इसका उल्लंघन होने पर समाज का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। सम्भवतः समय-समय पर होने वाले विदेशी आक्रमणों ने हिन्दू चिन्तकों को सामाजिक अराजकता के प्रति बहुत चिन्तित कर दिया था। वे इस बात से भी भयभीत रहे होंगे कि हिन्दू समाज की व्यवस्था जो दो उच्च जातियों के प्रभुत्व पर आधारित थी निम्न जातियों में असंतोष उत्पन्न करने का कारण बन जाएगी और विघटनकारी शक्तियों को जन्म देने लगेगी। ऐसा प्रतीत होता है कि सामाजिक विघटन के भय ने ही धर्म को इतना उच्च स्थान प्रदान करने के लिए हिन्दू चिन्तकों को प्रेरित किया, और उन्होंने व्यक्ति और समाज को हर स्तर पर धर्म की व्यापक सीमा में बांध दिया। सभी व्यक्तियों के लिए यह अनिवार्य था कि वे अपने आश्रम धर्म, अपने जाति धर्म और अपने पद धर्म का पालन करें। दूसरी जाति के कार्यों को करना अधर्म माना गया, गीता में यहां तक कहा गया है कि स्वधर्म का पालन करने में ही सुख है, इसका पालन न करने में विनाश है, अपने धर्म का पालन करते हुए मर जाना श्रेयस्कर है। दूसरे के धर्म के अनुसार आचरण करना किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं किया गया है। अपने धर्म का पालन न करने वाला व्यक्ति अपने पद, अपनी प्रतिष्ठा, अपने सम्मान को खो देता है। ऐसे व्यक्ति को जाति से बहिष्कृत कर उसके सभी अधिकार छीने जा सकते है।

एक आदर्श समाज में सभी व्यक्ति अपने धर्म का पालन करते हैं, अतः ऐसे समाज में कोई अराजकता या अव्यवस्था नहीं होती है। अतः शक्ति या दंड की भी आवश्यकता नहीं होती, दूसरे शब्दों में, सरकार की आवश्यकता नहीं होती। कुछ हिन्दू चिन्तक यह मानते थे कि मनुष्य कभी ऐसे आदर्श समाज में निवास करता था जहां सरकार नहीं थी किन्तु कुछ यह मानते हैं कि, चतुर्युग के सिद्धान्त के अनुसार, ऐसी अवस्थाएं आती हैं और फिर समाप्त हो जाती हैं। सतयुग से कलियुग की मनुष्य की यात्रा मनुष्यों में बढ़ते हुए व्याभिचार और भ्रष्टाचार की कहानी है। भ्रष्ट मनुष्य स्वशासन कें योग्य नहीं होता, और अपने धर्म को अनदेखा करता है। यह स्थिति सामाजिक आराजकता उत्पन्न करती है, जाति व्यवस्था में दोष उत्पन्न करती है, और धर्म के स्थान पर मत्स्य न्याय की स्थापना करती है। कुछ हिन्दू चिन्तक यह मानते हैं कि पूर्व में ऐसी ही स्थिति थी, लेकिन कुछ यह मानते हैं कि यह केवल एक भयावह सम्भावना है। लेकिन जो भी हो ऐसी स्थिति से बचाव ही श्रेयस्कर है। इसीलिए सरकार की आवश्यकता है।

प्राचीन भारत के कुछ क्षेत्रों में गणतांत्रिक व्यवस्था का प्रचलन था, इसकी पुष्टि तमाम स्रोतो से होती है। अतः वे पाश्चात्य चिन्तन जो ओरियण्टल डिसपाटिज्म के सिद्धान्त का सर्मथन करते हैं वे निश्चित रूप से पूरी तौर पर सही नहीं हैं। संस्कृत भाषा के दो शब्द संघ एवं गण राजविहीन गणतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं। संघ शब्द कई गणतांत्रिक व्यवस्थाओं के शिथिल संगठन के अर्थ में प्रयोग हुआ है। गण एक राजविहीन गणतांत्रिक व्यवस्था के अर्थ को प्रकट करता है। संघ और गण के अर्थों को लेकर विद्वानों में बहुत सी चर्चाएं हुई हैं। डा० जायसवाल बहुत जोर देते हुए यह मत प्रस्तुत करते हैं कि गण का अर्थ वही है जिसे आधुनिक युग में गणतंत्र कहा जाता है। वेदों में और महाभारत में भी गणतांत्रिक व्यवस्थाओं की चर्चा दिखाई पड़ती है, लेकिन जो भी हो गुप्त

साम्राज्य स्थापित होने के पश्चात से प्राचीन भारतवर्ष की गणतांत्रिक व्यवस्थाएं हमेशा के लिए समाप्त हो गईं, हिन्दू चिन्तकों ने गणतांत्रिक व्यवस्था को नहीं बल्कि राजतंत्रीय व्यवस्था को विशेषरूप से महत्व प्रदान किया है। अत: राजतंत्र पर ही हम अपना ध्यान केन्द्रित रखते हुए इसी संदर्भ में धर्म का अध्ययन करेंगे।

राजा का धर्म के साथ नया सम्बन्ध है? कहीं राजा को धर्म का 'रक्षक' कहा गया है, और कहीं उसका 'समर्थक' लेकिन धर्म के सम्बन्ध में राजा के व्यापक कार्यों को देखते हुए उसे धर्म का रक्षक कहना ही उचित प्रतीत होता है। राजा का सर्वोपरि कर्तव्य है राज्य अथवा स्थापित सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखना लेकिन ऐसा करने के लिए उसे समाज के प्रत्येक व्यक्ति से धर्म का पालन सुनिश्चित कराना अनिवार्य है। अत: राजा का प्राथमिक कर्तव्य है धर्म का शासन सुनिश्चित करना। इसी बात को विस्तार से बताते हुए कहा गया है कि यह राजा का कर्तव्य है कि वह वेदों के पठन-पाठन की व्यवस्था करे, उद्योग एवं व्यापार के विकास को प्रोत्साहित करे, जातियों के बीच उचित सम्बन्ध व संतुलन बनाए रखे, और समाज के प्रत्येक सदस्य से उसकी जाति और उसके पद के अनुरूप उसके कर्तव्यों को सम्पादित कराए। राजा की सत्ता का औचित्य इसी बात में निहित है कि वह धर्म की व्यवस्था को बनाए रखता है। यदि वह अपनी सत्ता का प्रयोग किसी अन्य लाभ के उद्‌देश्य से करता है तो वह एक विधर्मी शासक है, वह एक आततायी है। कुछ हिन्दू चिन्तकों ने ऐसे राजा की आज्ञा का पालन न करना उचित बताया है, कुछ ने सीमित विरोध को उचित बताया है, और कुछ ने किसी प्रकार के विरोध का समर्थन नहीं किया है। हिन्दू चिन्तक, एक राजकीय व्यवस्था में विरोध एवं असहमति का उचित स्थान कहां है इस बात का पता लगाने में कोई रुचि लेते हुए नहीं दिखाई पड़ते।

धर्म की व्यवस्था लागू करने का अधिकार राजा को प्राप्त था। किन्तु इस व्यवस्था का निर्माण करने का अधिकार उसके पास नहीं था। धर्म का स्रोत वेद, स्मृतियां और व्यवहार माने गए थे। इनमें से वेद नीतिशास्त्र पर लिखे गये ग्रन्थ नहीं हैं और यदि नैतिक सिद्धान्तों का उनमें उल्लेख है भी तो बहुत ही सामान्य तरीके से। स्मृतियां अधिकतर प्रचलित सामाजिक प्रथाओं का ही उल्लेख करती हैं। ऐसी स्थिति में व्यवहार धर्म के सर्वाधिक सशक्त स्रोत बन जाते हैं। भारत में जातियां एक लम्बे समय से थीं, और इन जाति समूहों ने अपने-अपने रीति-रिवाज और व्यवहार के नियमों को धीरे-धीरे विकसित कर लिया था। जहां तक ये रीति-रिवाज और व्यवहार वैदिक मान्यताओं का उल्लंघन नहीं करते थे वहां तक इन्हें धर्म के रूप में स्वीकार कर लिया गया था। यहां तक कि विभिन्न परिवारों के भी अपने धर्म होते थे जो कुल धर्म के नाम से जाने जाते थे। हिन्दू विधानशास्त्रियों ने समय-समय पर व्यवहार पर आधारित धर्म का विस्तार से अध्ययन किया है।

हिन्दू समाज में होने वाले अनेक परिवर्तनों ने इस समाज की सामाजिक राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित किया था। नयी जातियों का उदय, बड़ी संख्या में विदेशियों का भारत में बसना, स्वयं हिन्दू समाज में बौद्ध और जैन धर्मावलम्बियों का आगमन नयी समस्याएं उत्पन्न करने लगा था। इसके अलावा व्यापारिक गतिविधियां नये प्रकार के कामगीर पेशे पर आधारित नये जाति समूहों को जन्म देने लगी थी। अर्न्तजातीय विवाह से भी नयी जातियां हिन्दू समाज में प्रवेश कर रही थीं। राजनीतिक दृष्टि से इन्हें मान्यता प्रदान करना और स्वायत्तता देना आवश्यक था। अन्तत: स्वशासित समूहों के रूप में इन्हें स्वीकार किया गया। ऐसी स्वीकृति इसलिए भी आवश्यक थी कि बड़े साम्राज्यों की इस अवधि में (विशेषकर मौर्य व गुप्त वंश के शासन काल में) दूरस्थ क्षेत्रों में शासन करना तभी सम्भव हो सकता था। राजा नागरिक कानूनों के माध्यम से केवल वहीं हस्तक्षेप करता था जहां लोक शुभ की रक्षा करने के लिये ऐसा करना अनिवार्य हो। धर्म की संकल्पना का विस्तार होते हुए स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ रहा है। व्यवहार के साथ-साथ श्रेष्ठ मनुष्य का आचरण, नागरिक कानून, राजकीय आदेश सभी धर्म के वैध स्रोत हो गए।

वेदों में राजा को देवरूप में कई स्थानों पर प्रस्तुत किया गया है। वरुण, मित्र, इंद्र आदि से राजा की तुलना की गयी है। बाद में यज्ञ की धारणा में राजा के देवत्व को और अधिक महत्व प्रदान किया गया। यज्ञ से राजा को दैवी शक्ति प्राप्त होती है और उसकी सत्ता को दैवी आधार किन्तु इन सबके बावजूद हिन्दुओं ने कभी राजा को ईश्वर के दूत या प्रतिनिधि के रूप में नहीं देखा। उन्होंने यह भी

नहीं माना कि राजतंत्र को कोई दैवी अनुमोदन प्राप्त है। राजा की शक्ति असीमित या अमर्यादित नहीं थी। धर्म द्वारा इसका सीमांकन किया गया था। स्वायत्त जाति समूहों और निगमों में विभाजित विकेंद्रीकृत समाज के सावयवी संगठन में राजा एक अनिवार्य एवं महत्वपूर्ण अंग था। जाति समूहों के स्वायत्त संगठन, धनी व्यवसायियों के निगम और गाँवों की स्वशासित सरकारों की सत्ता का उल्लंघन करना किसी राजा के लिए सम्भव नहीं था। राजा का पद महत्वपूर्ण होते हुए भी समाज के ऊपर नहीं था। उसे भी अन्य लोगों की भांति अपने निर्धारित कर्तव्यों को पूरा करना होता था, और धर्म की मर्यादा में ही काम करना होता था। वह न तो स्वेच्छाचारी ढंग से कर वसूल कर सकता था, और न अनावश्यक रूप से बर्बर दण्ड दे सकता था। बहुत से सामाजिक संगठनों को राजा के अनुमोदन की आवश्यकता नहीं थी, वे स्वतंत्र रूप से सत्ता में थे। राजा को परामर्श देने वाली समिति एवं सभा—''प्रजापति की दो पुत्रियां''—भी राजा की शक्ति पर पर्याप्त नियंत्रण रखने में सक्षम थीं, हालांकि यह सही है कि आगे चल कर मगध साम्राज्यवाद के विस्तार के समय से समितियों एवं सभाओं का प्रभाव निरन्तर कम होता गया। समय बीतने के साथ जमीन पर राजा का एकाधिकार भी उसे शक्तिशाली बनाने में बहुत सहायक नहीं हो सका। कारण कि तीन शताब्दी ईसापूर्व से बढ़ती हुई व्यापारिक एवं व्यावसायिक गतिविधियों ने सम्पत्ति एकत्रित करने के दूसरे मार्गों को खोल दिया था। भारतवर्ष में राजतंत्र तो था किन्तु, जैसा कि हम पहले कह चुके है, ओरियन्टल डिसपाटिज्म नामक कोई चीज नहीं थी। कुछ राजाओं के अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने का उदाहरण इस प्रकार के अधिनायकवाद को सैद्धान्तिक रूप से पुष्ट करने के लिये पर्याप्त नहीं है।

यह हम आपको पहले ही बता चुके हैं कि हिन्दू राजनीतिक चिन्तन की अर्थशास्त्रीय परम्परा उसकी धर्मशास्त्रीय परम्परा से किस प्रकार भिन्न है, और क्यों दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं स्वीकार किया जा सकता है। धर्म और दण्ड दो महत्वपूर्ण संकल्पनाओं में से धर्म की संक्षिप्त चर्चा करने के पश्चात हम दण्ड की संकल्पना पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे। राजनीति की अर्थशास्त्रीय परम्परा में कौटिल्य का अर्थशास्त्र एक बहुत महत्वपूर्ण ग्रंथ है। कौटिल्य ने तो इसे एक वेद माना है। इस बात पर विद्वानो में मतभेद रहा है कि इस ग्रंथ को राजनीतिक दर्शन का ग्रंथ माना जाय या केवल राजनीतिक प्रशासन का। इस ग्रंथ की तुलना मेक्यावेली की 'प्रिंस' नामक पुस्तक से भी की गयी है जिसमें मेक्यावेली शासक को राजनीति में सफलता प्राप्त करने के लिए बहुत सारे उपदेश देता है। वास्तव में कुछ विद्वानों के लिए तो कौटिल्य ''भारतीय मेक्यावेली'' ही था। अर्थशास्त्र में दण्ड की संकल्पना का बहुत विस्तार से और बहुत बारीकी से अध्ययन किया गया है। कई अर्थों में यह शब्द प्रयोग किया गया है। किन्तु इस शब्द का सबसे मौलिक अर्थ यह है कि यह एक अवपीड़क शक्ति है, और इस शक्ति का प्रयोग धर्म की रक्षा के लिए राजा द्वारा किया जाता है। दण्डनीति अपने विस्तृत अर्थों में शक्ति के विज्ञान का भी अर्थ प्रकट करती है। आधुनिक शब्दावली में कहें तो दण्डनीति के अनुसार राजनीतिशास्त्र शक्ति का शास्त्र है। शक्ति को प्राप्त करने और बनाए रखने की एक कला है।

कौटिल्य ने दण्डनीति को चौथी विद्या के रूप में स्वीकार किया है। लेकिन यह चौथी विद्या इस मायने में सर्वाधिक महत्वपूर्ण हो जाती है कि यह पहली तीन विद्याओं—आन्वीक्षिकी, वेद और वार्ता—की रक्षा करती है। इसकी इस महत्ता के कारण ही कौटिल्य यह मानता है कि दण्डनीति पर ही विश्व का विकास निर्भर करता है। लेकिन इसके साथ ही साथ चारों विद्याओं के आन्तरिक सम्बन्ध और उनकी एक दूसरे पर निर्भरता को स्वीकार कर वह राजनीति को अपने आप में एक साध्य के रूप में देखना अस्वीकार कर देता है। डा० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा ने इस संदर्भ में लिखा है कि कौटिल्य के चिन्तन में ''पारलौकिकता को मूल स्वीकृति'' प्रदान की गयी है। ऐसा इसलिए कि वह हमेशा वैदिक सामाजिक व्यवस्था और इससे जुड़ी हुई जाति एवं आश्रम व्यवस्था को स्वीकार करता है; वह स्वर्ग और मुक्ति की धारणाओं को स्वीकार करता है। अत: यह कहना सही नहीं है कि कौटिल्य का अर्थशास्त्र हिन्दू राजनीति के पारलौकिक आयाम को समाप्त कर उसे केवल लौकिक जगत का विज्ञान बना देता है। हां वह राजनीति के अध्ययन को बौद्धिक, विश्लेषणात्मक और ऐतिहासिक अवश्य बनाता है जिससे कि राजनीति की समस्याओं को स्पष्टता के साथ समझा जा सके और इन समस्याओं का समाधान सही तरीके से खोजा जा सके।

दण्ड अनुशासन स्थापित करने का एक साधन है। अर्थशास्त्री परम्परा के कुछ चिन्तक इसे सबसे

प्रभावशाली साधन मानते है। कौटिल्य के अनुसार दण्ड सम्यक् होना चाहिए—न तो बहुत कड़ा और न बहुत मामूली। कड़ा दंड मनुष्यों को अनावश्यक रूप से विचलित करता है, और मामूली दंड का कोई असर नही होता। ऐसी स्थिति में दण्ड हमेशा अपराध के अनुपात में होना चाहिए। जब राजा किसी को गलत ढंग से दंण्डित करता है तो राजा के प्रति न केवल गृहस्थों में बल्कि संन्यासियों में भी दुर्भावना का संचार होता है, और यह राज्य के लिए खतरनाक है। दूसरी स्थिति यह है जब राजा दण्ड का प्रयोग ही नहीं करता है यह स्थिति अराजकता उत्पन्न करती है, और यह भी राज्य के लिए खतरनाक है। केवल सम्यक् दंड ही राज्य में अर्थ का विकास करता है और धर्म की स्थापना करता है। ऐसे ही राज्य में मनुष्य एक शान्तिप्रिय और आनन्दमय जीवन व्यतीत करता है। यदि राजा ने किसी को गलत दण्ड दे दिया है तो उसे वरुण देवता की पूजा करने का विधान है जिससे वह गलत दण्ड दिये जाने के फलस्वरूप जिस पाप का भागी हुआ है उससे वह मुक्त हो सके। कौटिल्य ने दण्ड को केवल अवपीड़क शक्ति के संकुचित अर्थों में स्वीकार नहीं किया है, वह दण्ड को व्यापक अर्थों में ग्रहण करते हुए यह भी कहता है कि यह सामाजिक एवं राजनीतिक अन्त:संबंधों को निर्धारित करता है, और वितरणात्मक न्याय को सुनिश्चित कर समाज को कलह से बचाता है।

धर्म की रक्षा के लिए दण्ड का प्रयोग करने वाले राजा को विद्वानों से परामर्श की आवश्यकता पड़ती है। ये विद्वान वे ही हो सकते हैं जो वेदों एवं शास्त्रों का ज्ञान रखते हैं। हिन्दू समाज में इस ज्ञान पर ब्राह्मणों का एकाधिकार माना गया था। इसी कारण ब्राह्मण वर्ग सम्माननीय एवं पूजनीय समझा जाता था। शताब्दियों तक हिन्दू राजनीतिक व्यवस्था ब्राह्मणों और क्षत्रियों के गठबंधन पर आधारित थी। (डा० भिक्खु पारिख इस गठबंधन पर यह संदेह व्यक्त करते हैं कि इसे 'पवित्र' माना जाय या 'अपवित्र')। राजनीतिक व्यवस्था पर दो उच्च जातियों या दो सवर्ण जातियों का वर्चस्व इसी बात को प्रमाणित करता है कि राजनीति के प्रति हिन्दू दृष्टि एक कुलीनतंत्रीय दृष्टि थी। हिन्दू चिन्तकों ने राजनीतिक व्यवस्था का विश्लेषण हमेशा इस गठबंधन के संदर्भ में ही किया है और उन्होंने इस बात पर कभी ध्यान नहीं दिया कि राजनीतिक संगठन की वैकल्पिक व्यवस्थाएं भी हो सकती हैं। सम्भवत: वे इस बात से भयभीत थे कि विकल्प खोजने का प्रयास अन्तत: जाति व्यवस्था को ही ध्वस्त कर देगा।

वैदिक साहित्य में और उसके बाद की रचनाओं में भी राजनीतिक दर्शन के संदर्भ में ब्रह्म और शास्त्र शब्दों का प्रयोग बहुधा किया गया है। इनमें से पहले का प्रतिनिधित्व ब्राह्मण करता है, और दूसरे का क्षत्रिय, पहला आध्यात्मिक एवं पराविद्या से सम्बन्धित है, और दूसरा राजनीति या लौकिक सत्ता से, किन्तु जातिगत आधारों पर यह विभाजन बहुत महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि इस बात की सम्भावना को कभी अस्वीकार नहीं किया गया था कि राजा भी अपनी आध्यात्मिक शक्तियों को विकसित कर ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति कर सकता है, ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है जिनमें राजाओं ने अपने राज्य का त्याग कर अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया, और स्वयं मुक्ति पाने के लिये समाज को छोड़ दिया। शास्त्र शब्द को पाश्चात्य लेखकों ने सम्प्रभुता, शासकीय शक्ति आदि के अर्थों में ग्रहण किया है। यदि ब्रह्म आध्यात्मिक शक्ति और शास्त्र लौकिक शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है तो इन दोनों में सम्बन्ध क्या है? दूसरे शब्दों में, पुरोहित और राजा क्या सम्बन्ध है? इस सम्बन्ध को परिभाषित करने की आवश्कता तब और भी जरूरी लगने लगी जब कालांतर में ये शब्द अपने अमूर्त अर्थों को खोकर ब्राह्मण और क्षत्रिय जातियों के साथ जुड़ गए।

प्राचीन भारत में ब्राह्मणों और क्षत्रियों को राजनीजिक सत्ता प्राप्त करने के लिये संघर्ष की स्थिति में कम ही देखा गया है। सम्भवत: आपसी सहमति से इन जातियों ने परस्पर सहयोग का एक रास्ता निकाल लिया था। ब्राह्मणों ने क्षत्रियों के शासन करने के अधिकार या शास्त्र धारण करने के अधिकार को स्वीकार कर लिया था, और क्षत्रियों ने ब्राह्मणों की, उनके ज्ञान व त्याग के कारण, श्रेष्ठ सामाजिक प्रतिष्ठा को स्वीकार किया था। राजकीय शक्ति पर एकाधिकार क्षत्रियों का था, और आध्यात्मिक ज्ञान पर ब्राह्मणों का। ब्राह्मण राजा को परामर्श देता था, लेकिन राजा द्वारा दण्ड के प्रयोग में हस्तक्षेप नहीं करता था। राजा ब्राह्मण को धन और जमीन देकर पुरस्कृत करता था किन्तु उसके द्वारा की जाने वाली धर्म की व्याख्या में कोई हस्तक्षेप नहीं करता था। राजा दण्ड का प्रयोग कर जिस सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखता था वह ब्राह्मण के लिए भी लाभदायक थी। ब्राह्मण इस

सामाजिक व्यवस्था का दार्शनिक सैद्धान्तिक औचित्य प्रस्तुत करता था। अत: क्षत्रियों और ब्राह्मणों में स्वार्थों की एकता थी, और इसी कारण वे एक दूसरे का सहयोग करते थे। लेकिन एक दूसरे पर आश्रित होने के बावजूद ब्राह्मण की स्थिति क्षत्रिय से श्रेष्ठ थी। यह माना गया था कि ब्राह्मण शास्त्र के बिना रह सकता है किन्तु शास्त्र ब्रह्म के बिना नहीं। इसके अलावा हमेशा राज्याभिषेक के बाद राजा द्वारा पुरोहित का चरणस्पर्श कर उससे आर्शीवाद लेने की प्रथा भी यही बात पुष्ट करती है कि सामाजिक व्यवस्था में ब्राह्मण का स्थान सर्वोपरि था, अनेक कारणों से राजनीतिक सामाजिक व्यवस्था पर सवर्ण वर्चस्व को वैश्यों और शूद्रों द्वारा कोई चुनौती देना सम्भव नहीं था।

कुछ हिन्दू चिन्तकों ने सत्ता और शक्ति का भेद किया है। इनके अनुसार सत्ता में शासन करने का अधिकार सम्मलित है, किन्तु शक्ति में नहीं। दूसरे शब्दों में, सत्ता वैधानिक एवं नैतिक है। किसी राजा की सत्ता तब स्थापित होती है जब वह एक निर्धारित मानक के अनुसार शासन करने के अधिकार को प्राप्त करता है, तब उसका राज्याभिषेक होता है और पुरोहित उसे अपना आर्शीवाद देकर उसकी सत्ता में दैवी अंश का प्रवेश कराता है और उसका उसके राज्य के भौगोलिक क्षेत्र और जनता के साथ तादात्म्य स्थापित कराता है। किन्तु अधिकतर चिन्तक सत्ता और शक्ति का भेद नहीं करते और यह मानते हैं कि उस राजा की भी सत्ता वैध है जिसने अनधिकार अपना शासन स्थापित कर लिया है लेकिन जो धर्म एवं न्याय के अनुसार शासन करता है। राजनीतिक सत्ता की अन्तर्निहित कमजोरी हिन्दू चिन्तकों की एक बड़ी चिन्ता थी। वे जानते थे कि आमतौर पर व्यक्तियों में धर्म के प्रति लगाव बहुत मजबूत नहीं होता। अपनी वासनाओं और आकांक्षाओं के वशीभूत होकर वे धर्म का उल्लंघन करने के लिये हमेशा तैयार रहते हैं। अत: केवल धर्म के आधार पर राजनीतिक सत्ता की स्थापना नहीं की जा सकती है। किन्तु दण्ड भी अपने आप में ऐसा कोई साधन नहीं है जो सामाजिक व्यवस्था को लम्बे समय तक बनाए रखे, अत: राजनीतिक सत्ता धर्म और दण्ड के जुड़वा आधारों पर टिकी रहती है। अर्थात, किसी सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों का एक दूसरे से सहयोग आवश्यक है।

राजा की शक्ति उसके हाथों में बनी रहे इसके बहुत से उपाय बताए गए हैं न केवल राजा को चरित्रवान, सद्गुणी एवं पराक्रमी होना चाहिए, न केवल उसे नैतिक और बौद्धिक रूप से सर्वश्रेष्ठ होना चाहिए, उसे कुशल प्रशासन देने के साथ-साथ जनकल्याण के कार्यक्रमों को भी लागू करना चाहिए। उसे जातीय समूहों के रीति-रिवाजों में अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। अपने प्रशासनिक कार्यों में राजा को योग्य सलाहकारों से सहायता लेनी चाहिए। ये सलाहकार अधिकतर मंत्री एवं अमात्य की श्रेणी में बांटे गये थे। मंत्री स्वतंत्र रूप से उच्च सामाजिक पदों पर रहने वाले वे व्यक्ति थे जो राजा के साथ सार्वजनिक समारोहों में उपस्थित रहते थे, और राजा को सलाह देते थे। अमात्य वे प्रशासनिक अधिकारी थे जो प्रतिदिन के प्रशासन का निर्देशन करते थे।

जनता के ह्रदय में दण्ड का भय उत्पन्न करने के लिये हिन्दू राजनीतिक चिन्तन मुख्य रूप से जिस साधन पर विश्वास करता है वह है गुप्तचर व्यवस्था। लगभग सभी चिन्तकों ने गुप्तचर व्यवस्था का एक महाजाल बनाने की वकालत की है। महाभारत में यहां तक कहा गया है कि सभी राज्य जासूस और गुप्त पुलिस पर आधारित होते हैं। मेगास्थनीज नाम के यात्री ने तो इस सर्वव्यापी व्यवस्था को देखते हुए जासूसों को हिन्दू समाज का विशिष्ट वर्ग कहा था। इन्हें विचरण करते हुए मृत्यु के दूत भी कहा गया है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में जासूसी व्यवस्था के संगठन एवं कार्यप्रणाली के सम्बन्ध में बहुत विस्तार से चर्चा की है। राजा के लिए मंत्रियों के बाद जासूस ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण माने गए थे। कौटिल्य ने यह बताया है कि जासूसों को गुप्त रूप से कैसे समाज के प्रत्येक स्तर में प्रवेश कराया जाएगा, कैसे वे व्यापारी, फ़कीर, कैदी का रूप धर कर काम करेंगे। उन्हें सभी प्रकार के अनैतिक बर्बर साधनों का प्रयोग करने की छूट होगी। वे विदेशियों, वेश्याओं, प्रशासनिक अधिकारियों और यहां तक कि राजा के परिवार के सदस्यों पर भी अपनी नजर रखेंगे, और उनकी गतिविधियों के बारे में सीधे राजा को सूचित करेंगे। वे झूठी आफवाहें फैलाएंगे, और जनता में फूट डालने के इरादे से नाम करेंगे। साथ ही वे राजा को जनता की भावनाओं और उनके मतों से अवगत भी कराएंगे।

हिन्दू चिन्तकों ने यद्यपि सम्यक् दण्ड की चर्चा कई स्थानों पर की है किन्तु कहीं-कहीं उन्होंने बर्बर

दण्ड विधान को भी प्रस्तुत किया है—विशेषकर उन स्थितियों में जिनमें कोई व्यक्ति अपने जाति धर्म का उल्लंघन करता है। उन्होंने अपराध सिद्ध करने के लिये आवश्यक प्रमाण जुटाने और सही निर्णय पर पहुंचने के लिए बहुत से नियम तो बनाए किन्तु एक बार अपराध सिद्ध होने पर वे भयंकर दण्ड और उत्पीड़न की व्यवस्था करते हैं। मनु, गौतम, बृहस्पति आदि सबने ऐसे क्रूर दंड की लम्बी सूची प्रस्तुत की है। वे यह मानते थे कि मनुष्य धर्म के मार्ग से विचलित न हो जाय इसके लिए यह आवश्यक है कि उसमें दण्ड का भय उत्पन्न किया जाए। उन्होंने जातीय व्यवस्था को भी दण्ड के विधान का आधार बनाया है। समान अपराध के लिये उच्च जाति के लोगों को कम दण्ड और निम्न जाति के लोगों को अधिक दण्ड देने की बात कही गयी है। लेकिन कुछ स्थितियों में ब्राह्मणों के लिये अधिक कड़े नियम भी बनाए गए हैं। यह बात कि किन्हीं स्थितियों में धर्म और दण्ड एक दूसरे के विरोध में आ सकते हैं हिन्दू चिन्तकों को भली-भाँति पता थी। ऐसी स्थिति में जब सामाजिक व्यवस्था ही खतरे में पड़ गयी हो तब दण्ड को प्राथमिकता दी जाएगी। यहां धर्म के प्रयोग से धर्म की रक्षा नहीं की जा सकेगी बल्कि दण्ड का प्रयोग ही धर्म की संरक्षित करेगा। इन स्थितियों में राजा को झूठ और फरेब का सहारा लेना अनुचित नहीं कहा जाएगा। एक श्रेष्ठ उद्देश्य के लिए नैतिक प्रतिबन्धों की सीमाएं तोड़ी जा सकती हैं। लेकिन ऐसा असामान्य परिस्थितियों में ही किया जाएगा।

उपर्युक्त शीर्षक के अन्तर्गत आपको हिन्दू राजनीतिक चिन्तन को प्रकृति को, उसकी दो परम्पराओं—धर्मशास्त्रीय एवं अर्थशास्त्रीय—के माध्यम से समझाने का प्रयास किया गया है। इस सम्बन्ध में धर्म और दण्ड जैसी दो महत्वपूर्ण संकल्पनाओं को भी संक्षेप मे प्रस्तुत किया गया है।

2.3 प्रमुख विशेषताएं

हिन्दू राजनीतिक चिन्तन शताब्दियों तक विकसित होने वाली हिन्दू सभ्यता के साथ-साथ विकसित हुआ। इस विकास पर भारतीय मनीषियों की विशिष्ट प्रतिभा की अमिट छाप स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ती है। यहां कुछ भी बाहर से आयातित नहीं है, और इस चिन्तन की आंत्मा पूर्ण तथा शुद्ध है। श्री अरविन्द घोष ने भारतीय संस्कृति की जिन तीन विशेषताओं को बताया है उन्हीं विशेषताओं के संदर्भ में प्रोफेसर उपेन्द्र नाथ घोषाल ने भारतीय राजनीतिक चिन्तन का भी अध्ययन किया है, ये विशेषताएं हैं—आध्यात्मिकता, बौद्धिकता और तेजस्विता।

2.4 आध्यात्मिकता

हिन्दू सामाजिक व्यवस्था एक आध्यात्मिक उद्देश्य को पूरा करने के लिए गठित की गयी थी। केवल भौतिक या लौकिक सुखों को प्राप्त करना इसका उद्देश्य नहीं था। यह आध्यात्मिक उद्देश्य है मुक्ति की प्राप्ति। हिन्दू संस्कृति की यह एक विशिष्ट बात है कि यह मुक्ति की सम्भावना दोनों के लिए मानता है—वह जो सामाजिक व्यवस्था के दायरे से बाहर निकल कर अपनी मुक्ति का मार्ग खोज लेता है, और वह जो इस सामाजिक व्यवस्था में रहते हुए और अपने धर्म का पालन करते हुए क्रम से एक आश्रम से दूसरे आश्रम में प्रवेश करता है। पहले मार्ग में अनिश्चितता और जोखिम हो सकता है। लेकिन दूसरा मार्ग अपेक्षाकृत निश्चयात्मक है। इस मार्ग को सुलभ बनाने के लिये धर्म पर आधारित सामाजिक व्यवस्था का गठन किया जाता है। राजा जो इस व्यवस्था का शीर्ष है स्वयं धर्म में स्थापित है। वह राजनीतिक सत्ता का सुख भोगने के लिए अपने पद को ग्रहण नहीं करता बल्कि उन कर्तव्यों को पूरा करने के लिए अपने पद पर आसीन होता है जो पूर्व निर्धारित हैं। उसके सभी कर्तव्यों में प्राथमिक है धर्म की रक्षा। वह ऐसी परिस्थितियों को निरन्तर बनाए रखता है। जिनसे समाज के सभी सदस्य अपने निर्धारित कर्तव्यों को कर सकें। इन परिस्थितियों में बहुत सी परिस्थितियां ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध भौतिक जगत से है। अनुकूल भौतिक परिस्थितियां आवश्यक हैं धर्म के पालन के लिए। इसीलिए राजा को कहा गया है कि वह एक लोककल्यांणकारी राज्य की स्थापना करे। वह सभी के जीवन की रक्षा सुनिश्चित करे, गरीब लोगों की आर्थिक सहायता करे, और वह इस बात को

देखे कि उसके राज्य में कोई भूखा न मरने पाये। अर्थ और धर्म के सम्भावित संघर्ष का ज्ञान हिन्दू चिन्तकों को था। धर्मशास्त्र के लेखको ने तो इस संघर्ष में धर्म को वरीयता दी किन्तु प्रारम्भिक अर्थशास्त्रीय चिन्तकों ने अर्थ को प्राथमिक माना। लेकिन अर्थशास्त्र की परम्परा के ही सर्वाधिक प्रसिद्ध चिन्तक कौटिल्य ने दोनों में सामंजस्य बनाए रखना जरूरी समझा। कौटिल्य के लिये धर्म उद्देश्य तो है किन्तु अर्थ इसको प्राप्त करने का एक महत्वपूर्ण साधन है। इसीलिए राजा का कोषागार सोने, चांदी व अन्य बहुमूल्य धातुओं से भरा होना चाहिए। अर्थ की दृष्टि से उन्नतशील समाज में ही धर्म का समुचित पालन सम्भव है।

यद्यपि हिन्दू चिन्तक यह मानते थे कि सभी व्यक्तियों का एक ही आध्यात्मिक उद्देश्य है, और इसलिए सभी व्यक्ति आध्यात्मिक या नैतिक दृष्टि से समान हैं वे व्यक्तियों के बीच सामाजिक, वैधानिक एवं राजनीतिक समानता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते थे। वे किसी प्रजातांत्रिक पूर्वाग्रह से ग्रस्त नहीं थे। उन्होंने समाज को जाति के आधार पर उच्च और निम्न में विभाजित किया था। धर्म की दृष्टि से तो समाज में एकता थी किन्तु जाति की दृष्टि से समाज एक श्रेणीबद्ध संगठन था जिसमें उच्च जाति को प्राथमिकता दी गयी थी। उच्च जाति के सदस्य ही राजा के सलाहकार हो सकते थे, वे ही नागरिक हो सकते थे, और उन्हें ही नाना प्रकार की उन्मुक्तियां प्राप्त थीं। धर्म की सर्वोच्चता बनाए रखने के नाम पर हिन्दुओं ने समाज को जातिगत व्यवस्था के आधार पर इस तरह विभाजित कर दिया था कि सरकार का प्राथमिक काम यही होकर रह गया था कि वह जातीय शुद्धता को बनाए रखे। दूसरे शब्दों में, सवर्णों के विशेषाधिकारों को बनाए रखे। परिणामत: वे यह नहीं समझ सके कि सरकार सामाजिक परिवर्तन और विकास का एक साधन भी होती है।

प्रारम्भ में तो केवल जातीय समूहों को स्वायत्तता प्रदान की गयी थी, किन्तु आगे चल कर यह स्वायत्तता उन सामाजिक समूहों को भी प्राप्त होने लगी जो जातिव्यवस्था के अन्तर्गत नहीं आते थे। इन जाति समूहों को स्वशासन का अधिकार प्रदान किया गया था, और इनमें राज्य के द्वारा कम से कम हस्तक्षेप किया जाता था। इस प्रकार हिन्दू चिन्तकों ने एक बहुलवादी दृष्टि का परिचय दिया है। वह दृष्टि एक राजनीतिक आवश्यकता को पूरी करने के लिए ही नहीं अपनाई गयी थी। बल्कि एक नैतिक सिद्धान्त के रूप में भी अपनाई गयी थी। इस दृष्टि में दूसरों की आस्था और जीवन पद्धति की स्वीकारोक्ति है। राजनीतिक दृष्टि से इसका लाभ यह था कि यह सामाजिक समरसता को बनाए रखने में लाभप्रद थी, और स्वशासन के विकास में सहायक थी, परन्तु इसके साथ ही इससे नुकसान यह हुआ कि इसने राज्य के विकास को अवरूद्ध कर दिया, सम्प्रभु राज्य की परिकल्पना नहीं की जा सकी, और कई समानान्तर वैधानिक व्यवस्थाएं प्रचलन में आ गयीं जो सामाजिक अनिश्चितता उत्पन्न करती थीं।

2.5 बौद्धिकता

बौद्धिकता हिन्दू राजनीतिक चिन्तन का प्रमुख लक्षण है। चूंकि हिन्दू बुद्धि और आस्था में उस प्रकार का भेद स्वीकार नहीं करते थे जैसा कि आधुनिक चिन्तन में किया गया है अत: उनकी बहुत-सी मान्यताओं का यद्यपि कोई ''बौद्धिक'' आधार नहीं है लेकिन फिर भी उन मान्यताओं की बौद्धिकता का कोई प्रश्न उनके सामने नहीं उठता था। यह उनका बौद्धिक विश्वास था कि समूचा ब्रह्मांड एक दैवी विधान (ऋत्) से शासित होता है, और यह कि मानव समाज इसी ब्रह्मांड का एक अंग है अत: वही विधान समाज को भी शासित करता है। इसी मान्यता से सत्ता और आज्ञापालन के बौद्धिक आधारों को वियोजित किया गया है। मनु और भीष्म ने इसी में अनेक महत्वपूर्ण राजनीतिक सिद्धान्तों को जोड़ कर उनके बौद्धिक प्रयोग की चर्चा की है। उदाहरण के लिये भीष्म ने यह समझाने का प्रयास किया है कि कैसे और किन परिस्थितियों में हिंसा और धर्म को एक दूसरे से जोड़ा जा सकता है। आपातस्थिति में किस प्रकार सम्पूर्ण युद्ध और धोखे व फरेब पर आधारित कूटनीति का आश्रय लेना शासक के लिये अनिवार्य हो जाता है, और पवित्र शास्त्रों का अनुसरण क्यों लाभप्रद नहीं होता। राजनीतिक सिद्धान्तों के प्रति बौद्धिक दृष्टिकोण का सबसे अच्छा उदाहरण अर्थशास्त्रीय परम्परा में दिखाई पड़ता है। पहली बार इस परम्परा में सरकार के सिद्धान्त और समस्याओं का बौद्धिक

विश्लेषण किया गया है, राज्य के विभिन्न तत्वों और उनकी सापेक्षिक महत्ता पर विचार किया गया है। राज्य के विभिन्न प्रशासनिक अधिकारियों की नियुक्ति प्रक्रिया और राजा द्वारा अपने मंत्रियों से परामर्श लेने के तरीके पर भी विस्तार से चर्चा की गयी है। यह भी बताया गया है कि राज्य कैसे अपनी सामाजिक और आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये संसाधन जुटाए, और कैसे शत्रु राज्यों की तुलना में अपने संसाधनों का विकास करे, और किस प्रकार अपने साम्राज्य का विस्तार करे।

राजनीति के प्रति एक बौद्धिक दृष्टिकोण रखते हुए भी हिन्दू चिन्तकों ने किसी बुद्धिवादी राजनीतिक दर्शन की स्थापना नहीं किया है। उनका उद्देश्य राजनीति की विभिन्न संकल्पनाओं या अवधारणाओं का दार्शनिक बौद्धिक विश्लेषण करना नहीं था। इसलिए राजनीतिक जीवन के बारे में उनकी दृष्टि और उनकी व्याख्या वैसी नहीं दिखाई पड़ती जैसी प्राचीन ग्रीक राजनीतिक चिन्तन में दिखाई पड़ती है। हिन्दू राजनीतिक परम्परा अधिकतर उपदेशात्मक एवं व्यावहारिक है। हिन्दू लेखकों ने चाहे वे धर्मशास्त्रीय परम्परा के हों या अर्थशास्त्रीय परम्परा के, अधिकतर राजाओं को उपदेश देने के लिए ही लिखा। उनकी रचनाएं नैतिक उपदेशों और प्रशासनिक नियमों की लम्बी सूची प्रस्तुत करती हैं। जहां एक ओर धर्मशास्त्र के लेखक व्यक्ति और समूह के कर्तव्यों की सूची प्रस्तुत करते हैं, वहीं दूसरी ओर अर्थशास्त्रों के लेखक सरकार के गठन और शक्ति को बनाए रखने के उपायों पर विचार करते हैं। दोनों ही परम्पराओं में वैसे सैद्धान्तिक विश्लेषण का अभाव दिखाई पड़ता है जैसा कि प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' या अरस्तू ने अपनी पुस्तक 'पालिटिक्स' में किया है। यदि कौटिल्य का अर्थशास्त्र अधिक विवरणात्मक है तो मनुस्मृति अधिक मताग्रही प्रतीत होती है। दोनों में राजनीति की बहुत सी महत्वपूर्ण संकल्पनाओं—जैसे न्याय, राष्ट्र, स्वराज आदि का कोई सैद्धान्तिक विश्लेषण नहीं किया गया है। बिना ऐसे विश्लेषण के राजनीतिक दर्शन की रचना नहीं की जा सकती है।

2.6 तेजस्विता

भारतीय राजनीतिक चिन्तन की तेजस्विता इस बात से प्रकट होती है कि यह चिन्तन धारा वेदों के समय से लेकर लगभग तीन हजार वर्षो तक लगातार भारतीय इतिहास पर अपनी अमिट छाप छोड़ती रही। वेदों, स्मृतियों, पुराणों और मीमांसा में तो राजनीतिक व्यवस्था और अवधारणाओं की चर्चा की ही गई है, बौद्ध एवं जैन साहित्य में भी इनकी चर्चा है। भारतीय चिन्तक सामाजिक व राजनीतिक प्रश्नों पर विचार करते हुए समस्याओं की गहराई में जाने का प्रयास करते हैं। किन्तु उनके दृष्टिकोण में अन्तर दिखाई पड़ता है। धर्म और दण्ड के प्रश्न पर वरीयता या प्रधानता किसकी है इस पर उनकी दृष्टि में अन्तर है, किन्तु यह अन्तर भारतीय राजनीतिक चिन्तन की विभिन्न परम्पराओं में कोई मौलिक विभाजन नहीं करता है। अधिकतर चिन्तकों ने धर्म को महत्वपूर्ण मानते हुए इसी संकल्पना पर अपना ध्यान केन्द्रित रखा है। धर्म के स्वभाव, उसके आधार की लम्बी चर्चा के अन्तर्गत यह बताने का प्रयास किया गया है कि क्यों धर्म मनुष्य के सामाजिक स्वभाव में अन्तर्निहित है और किस प्रकार धर्म का पालन करने वाले व्यक्ति को यह बृहत ईश्वरीय व्यवस्था से जोड़ता है। धर्म की तुलना में दण्ड की दार्शनिक महत्ता बहुत कम है। अत: दण्ड की चर्चा तकनीकी रूप में अधिकतर की गयी है। अनेक ग्रन्थों में बिखरी हुई राजनीतिक चर्चाएं इस बात का प्रमाण तो देती हैं कि हिन्दुओं के लिए राजनीति चिन्तन का एक विषय था, किन्तु इससे यह बात प्रमाणित नहीं होता कि उनके पास एक व्यवस्थित राजनीतिक दर्शन था। हां, उनकी राजनीतिक चर्चाओं को समेट एक राजनीतिक दर्शन का पुर्ननिर्माण अवश्य किया जा सकता है। ऐसा प्रयास एक रचनात्मक प्रयास भी होगा।

हिन्दू राजनीतिक चिन्तकों ने समाज में उत्पन्न होने वाले सामाजिक संघर्षों को आमतौर पर अनदेखा किया है। वे इस बात का अध्ययन नहीं करते कि किसी समाज में भिन्न-भिन्न समूह अपने अलग-अलग हितों को किस प्रकार उत्पन्न कर लेते हैं, और जब उन्हें अपने हितों पर खतरा महसूस होता है तो यह किसी प्रकार से राजनीतिक संघर्ष को जन्म देता है। हिन्दू चिन्तक इस बात को तो जानते थे कि समाज में समरसता भंग होने के तमाम कारण मौजूद होते हैं किन्तु इन कारणों को वे व्यक्तियों के

चारित्रिक दुर्गुण में खोजते थे। जैसे लालच या आकांक्षा या प्रमाद आदि कारणों से सामाजिक समरसता भंग हो जाया करती है ऐसा वे मानते थे। वे यह नहीं समझते थे कि वस्तुगत कारणों से ईमानदार राजनीतिक मतभेद भी हो सकते हैं जो राजनीतिक संघर्ष की स्थिति उत्पन्न करते है। इसी कारण उन्होंने ऐसा कोई संस्थागत उपाय नहीं खोजा जिसके द्वारा राजनीतिक मतभेदों को अभिव्यक्त किया जा सके और उनका समाधान खोजा जा सके। ऐसी स्थिति में दण्ड की कड़ी व्यवस्था की ओर उनका झुकाव स्वाभाविक था।

भारतीय राजनीतिक चिन्तन की उपर्युक्त तीन विशेषताओं का अध्ययन हमने श्री अरविन्द घोष द्वारा बताई गयी भारतीय संस्कृति की तीन विशेषताओं के संदर्भ में किया है। किन्तु उन्होंने ही यह भी बताया है कि ''तीन प्रतिगामी आन्दोलनों'' के कारण भारतीय संस्कृति का पराभव हुआ ये तीन प्रतिगामी शक्तियां थी—जीवनी शक्ति का क्षय होना, स्वतंत्र बौद्धिक चिन्तन का अवरुद्ध होना और आध्यात्मिक गतिविधियों की एकसूत्रता इन गतिविधियों के छितरा जाने से नष्ट हो जाना। अब क्या यही तीन कारण भारतीय राजनीतिक चिन्तन के पतन के भी कारण माने जा सकते हैं? लेकिन इस प्रश्न का उत्तर देने के पहले एक दूसरे प्रश्न का उत्तर देना होगा। वह यह कि भारतीय राजनीतिक चिन्तन अपने सर्वोत्तम रूप में कब था? इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन इसलिए है कि भारत में राजनीतिक चिन्तन, दर्शन की दृष्टि से, कभी किसी अवस्था में एक दार्शनिक आर्कषण नहीं उत्पन्न कर सका। किसी सामाजिक व्यवस्था में उत्पन्न होने वाली राजनीतिक मांगों के अनुसार राजनीतिक दर्शन का विकास होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि एक लम्बे समय तक बहुत कड़ी जातीय व्यवस्था के लागू होने के कारण हिन्दुओं की सामाजिक चेतना विस्तृत एवं परिष्कृत नहीं हो सकी जिसका परिणाम यह हुआ कि राजनीति के प्रति उनका दृष्टिकोण भी एक निश्चित दायरे के बाहर नहीं जा सका। राजनीतिक दर्शन की एक स्थापित परम्परा के अभाव में उनका चिन्तन टुकडों में बंटा हुआ और कमजोर दिखायी पड़ता है। राजनीतिक सत्ता के प्रति उनका अविश्वास जगह-जगह प्रगट होता है। इसी अविश्वास के कारण वे राज्य जैसी सर्वोत्तम महत्व की धारणा पर ऐसा कोई विचार नहीं प्रस्तुत कर सके जिसे महत्वपूर्ण माना जा सके।

2.7 बौद्ध राजनीतिक दर्शन

पीड़ित मानवता को सनातन शान्ति का उपदेश देना भगवान बुद्ध का प्राथमिक उद्देश्य था। उनके अनुसार इस संसार में केवल दु:ख ही व्याप्त है किन्तु इस दु:ख से बचने का उपाय भी है। वह दार्शनिक सिद्धान्तों की रचना करने में विश्वास नहीं करते थे। वह नैतिक शिक्षा द्वारा मानवता का कल्याण करना चाहते थे। इन शिक्षाओं का कोई ''तात्विक उद्देश्य'' नहीं था, किन्तु प्रो० हिरियाना के अनुसार, इनके पीछे एक ''तात्विक दृष्टि'' अवश्य थी। नामरूप यह बाह्य संसार एक आत्मा के होने का भ्रम उत्पन्न करता है। इसी भ्रम से मुक्त होना निर्वाण है। निर्वाण का वास्तविक अर्थ क्या है इस बात पर विद्वानों में मतभेद है किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह मनुष्य के जीवन का अन्तिम उद्देश्य है। इसे हिन्दू धर्म में पायी जाने वाली मोक्ष की संकल्पना के अर्थ में ग्रहण किया जा सकता है।

बौद्ध और हिन्दू धर्म के सम्बन्धों को लेकर विद्वानों में एक लम्बी बहस हुई है। शंकराचार्य को, जिन्होंने बुद्ध की नहीं लेकिन बौद्धमतावलम्बियों की कड़ी आलोचना की थी, ''प्रच्छन्न बौद्ध'' कहा गया है। इससे स्थिति और अस्पष्ट हो जाती है। आनन्द कुमार स्वामी के अनुसार तो दोनों में कोई ''वास्तविक विरोध'' नहीं है, और मौलिक रूप से दोनों एक ही हैं। यह बात तो सही है कि स्वयं बुद्ध और बाद में उनके अनुयायियों ने हिन्दू चिन्तन से बहुत कुछ लिया था, लेकिन यह बात भी उतनी ही सही है कि उन्होंने हिन्दू धर्म की बहुत सी महत्वपूर्ण मान्यताओं और संकल्पनाओं में अपना अविश्वास प्रकट किया था। ऐसी स्थिति में उनके बीच केवल ''स्वभाव'' का अन्तर तो नहीं माना जा सकता है, और यह भी नहीं कहा जा सकता है कि दोनों एक ही हैं। उनके बीच का अन्तर उस समय ज्यादा स्पष्ट दीखने लगता है जब हम इनके सामाजिक राजनीतिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करते है। स्वयं कुमार स्वामी ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि बौद्ध चिन्तन परम्परा

में एक आदर्श समाज की रचना करने में कोई रुचि प्रदर्शित नहीं की गयी है। वह आगे कहते हैं कि इस परम्परा में सरकार का कोई महत्व नहीं है। हम पीछे यह देख चुके हैं कि हिन्दुओं के लिए सामाजिक व्यवस्था और सरकार का गठन चिन्तन के महत्वपूर्ण विषय थे।

अपने अनुयायियों को एक उपदेश देते हुए बुद्ध ने इस वैदिक विचार कि मानवीय समाज एक दैवी रचना है, का स्पष्ट खण्डन किया था। वर्ग या वर्ण का जन्म ईश्वरीय इच्छा से नहीं होता है बल्कि यह विश्व चक्र के विकास के फलस्वरूप होता है। इस विकास की एक अवस्था में मनुष्य का जन्म होता है, और उनमें लिंग भेद उत्पन्न होता है। चावल की खेती, फिर खेतों का बंटवारा, और फिर अनाज पर निजी स्वामित्व, इन सबसे मनुष्य के अन्दर विकार उत्पन्न होते हैं। चावल चुराने वाले चोर की हत्या से फरेब व हिंसा आदि का जन्म होता है। बढ़ती हुई अराजकता लोगों को एक ऐसा व्यक्ति चुनने को मजबूर करती है जो समाज में उत्पन्न होने वाली बुराइयों को दबाकर रख सके। यही व्यक्ति महासम्मत (वह जो लोगों द्वारा चुना गया है) या राजा (वह जो दूसरों को धम्म या धर्म के अनुसार प्रसन्न करता है) कहा गया। अत:, बुद्ध के लिये राजनीतिक सत्ता का जन्म मनुष्यों में व्याप्त बुराइयों के कारण होता है। दूसरे शब्दों में, सरकार एक अनिवार्य बुराई है। प्रो० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा ने ठीक ही लिखा है कि राजनीतिक सत्ता की अवधारणा को वियोजित करने का यह एक दोषपूर्ण तरीका है।

उपुर्यक्त उपदेश में यह बताया गया है कि शासक वर्ग या क्षत्रिय का जन्म पहले हुआ। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिए कि बुद्ध ने ब्राह्मणों के ऊपर क्षत्रियों को स्थान दिया है। वह ब्राह्मणों की उच्च सामाजिक स्थिति को उनके ज्ञान के नाते स्वीकार करते थे। बौद्ध धर्म का अध्ययन करने वाले बहुत से प्रसिद्ध विद्वान (जैसे, रीह्स डेविड्स) यह नहीं मानते कि बुद्ध ने ब्राह्मणों के ऊपर क्षत्रियों की श्रेष्ठता स्थापित की है। यह बात इस अप्रामाणिक आधार पर कही जाती है कि बुद्ध का समय ब्राह्मण क्षत्रिय संघर्ष का समय था। सामाजिक व्यवस्था के दैवी आधार को अस्वीकार कर बुद्ध ने वर्ण व्यवस्था के दैवी आधार को भी अस्वीकार कर दिया है। हिन्दुओं ने जिसे अत्यधिक महत्वपूर्ण एवं पवित्र माना था, वह बुद्ध के चिन्तन में न महत्वपूर्ण है और न पवित्र। वर्ण व्यवस्था की व्याख्या बौद्ध चिन्तन में अपनी इच्छा से स्वीकार किए गए पेशे के आधार पर की गयी है। डा० उपेन्द्र नाथ घोषाल का कहना है कि यह व्याख्या दोषपूर्ण एवं अबौद्धिक है।

बौद्ध राजनीतिक चिन्तन की निकटता हिन्दू चिन्तन से वहां सबसे अधिक दिखाई पड़ती है जहां पर उस चिन्तन में धर्म की चर्चा की गयी है। धर्म का जो महत्व हिन्दू चिन्तन में है वही महत्व बौद्ध चिन्तन में भी है। प्रो० दास गुप्ता ने बताया है कि बौद्ध साहित्य में धम्म (या धर्म) शब्द कई अर्थों में प्रयोग हुआ है। इस शब्द से नैतिकता के नियमों और सनातन विधान दोनों का अर्थ प्रकट होता है। एक सनातन विधान के रूप में यह ब्रह्मांड में व्यवस्था स्थापित करने के साथ-साथ मानवीय समाज को भी व्यवस्थित करता है। अत: इसका उल्लंघन करने पर न केवल मानवीय समाज बल्कि ब्रह्मांड भी अव्यवस्थित हो जाता है। धर्म नैतिकता के नियमों को भी प्रस्तुत करता है। मनुष्य का आचरण उन्हीं नियमों के अनुसार होना चाहिए। राजा को भी अपने पद के अनुसार नैतिक आचरण करना है। उसके कर्तव्य मुख्य रूप से नैतिक धार्मिक हैं। बहुत सी जातक कथाओं में तपस्वियों, बन्दरों और पक्षियों आदि के द्वारा राजा के नैतिक कर्तव्यों के बारे में बताया गया है। राजा का काम न्याय करना और अपने प्रजाजनों का कल्यांण करना है। राजा को एक पिता की भांति अपनी प्रजा की देख-भाल करना है। अत: राजनीतिक आज्ञापालन न तो प्रजा की इच्छा और न उसकी मजबूरी पर निर्भर करता है। किन्तु यदि राज्य का जन्म व्यक्तियों के बीच हुए किसी प्रसंविदा से हुआ है, जैसा कि महात्मा बुद्ध के उपदेश में यह दीखता है, तो फिर राजनीतिक आज्ञापालन का आधार एक प्रकार की अनिवार्यता ही माना जाएगा। प्रसंविदा के प्रत्यय में एक प्रकार की अनिवर्यता की धारणा अन्तर्निहित होती है। प्रसंविदा का आधुनिक प्रत्यय जो टामस हाब्स के चिन्तन में दिखाई पड़ता है उसमें भी अनिवार्यता गुप्त रूप से निहित है कि क्योंकि व्यक्तियों के सामने जो विकल्प है वह वास्तविक नहीं है।

धर्म का तत्वविज्ञान बुद्ध के प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त में अन्तर्निहित है। इसी सिद्धान्त को धर्म कहते हैं, लेकिन आगे चल कर बौद्ध धर्म की महामान परम्परा की शून्यवादी विचारधारा में प्रतीत्य समुत्पाद का सिद्धान्त एक शून्यवादी दर्शन की ओर ले जाता है, और शून्य को ही धर्म मान लिया जाता है। डा० राधाकृष्णनन् ने बौद्ध साहित्य में शून्य के विभिन्न अर्थों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। यदि शून्य का अर्थ केवल रिक्तता या नकारात्मकता से ही लगाया जाय तब तो यह धर्म की धारकता को समाप्त कर देगा, और सामाजिक व्यवस्था के लिए किसी महत्व का नहीं रह जाएगा। बुद्ध के सिद्धान्त में धर्म एक नैतिक नियम के रूप में प्रकट होता है, और यहां पर इसकी सकारात्मकता स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि पांच प्रकार के शील बताए गए हैं, किन्तु संन्यासी के लिए दस प्रकार के शील है। शील के अनुसार हमारा आचरण हमें प्रतिभासम्पन्न बनाते हुए हमें अन्ततः निर्वाण की प्राप्ति कराता है।

धर्म चक्र की बौद्धधारणा में कुछ विद्वानों जैसे आउरसेल और स्टर्न के लिए राजनीतिक साम्राज्यवाद के बीज निहित हैं। इन विद्वानों का यह कहना है कि धर्म की हिन्दू संकल्पना एक सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करती है, और उस व्यवस्था को बनाए रखने का दायित्व राजा को देती है जातियों के स्वधर्म को संरक्षित करना और उसका आदर करना राजा का परम कर्तव्य है। धर्म से ही राजा की शक्ति भी सीमित होती है। लेकिन धर्म चक्र की धारणा समस्त मानव जाति पर लागू होती है, और यह राज्य की सीमाओं के बाहर निकल कर साम्राज्य की स्थापना का प्रयास करती है। राजा धर्मचक्र को गतिशील करता है, वहीं इसे प्रारम्भ करता है, और आगे बढ़ाता है। वह इसे अपने साम्राज्य की स्थापना के लिए प्रयोग करता है। प्रो० वर्मा ने धर्म चक्र के प्रति इस दृष्टिकोण की आलोचना की है। किन्तु उनका यह कहना कि इस चक्र को कोई पुरोहित या धार्मिक नेता गतिशील करता है एक भ्रम की स्थिति उत्पन्न करता है। वास्तव में, बुद्ध ने तो यह कहा है कि वह स्वयं इस चक्र को गतिशील करते हैं।

बौद्ध दर्शन एवं धर्म का प्रभाव व्यापक रूप से पड़ा। भारत के बाहर भी अनेक देशों में इसके अनुयायी व मतावलम्बी हुए। आगे चल कर यह धर्म कई शाखाओं में बंट गया। इनमें से दो प्रमुख शाखाएं—हीनयान और महायान—के नाम से जानी जाती हैं। अलग-अलग देशों में बौद्ध दर्शन अलग-अलग स्वरूपों में प्रकट हुआ। किन्तु इतने व्यापक प्रभाव के बावजूद प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में इसका योगदान, जैसा कि सैलीटोर ने कहा है, व्यावहारिक रूप से नगण्य था। बौद्ध राजनीतिक चिन्तन ने अधिकतर बातें हिन्दू राजनीतिक चिन्तन से उधार ही ली हैं। अश्वघोष और आर्य सूर्य दो प्रमुख बौद्ध राजनीतिक दार्शनिकों ने भी कोई योगदान नहीं किया है। अतः बौद्ध राजनीतिक चिन्तन को हिन्दू राजनीतिक चिन्तन से अलग करके नहीं देखा जा सकता। ऐसी स्थिति में इन दोनों चिन्तन परम्पराओं में कोई मौलिक भेद हो भी नहीं सकता है।

2.8 जैन राजनीतिक दर्शन

जैन राजनीतिक दर्शन एक विशिष्ट प्रकार की धार्मिक परम्परा पर आधारित है। यह परम्परा चौबीस तीर्थंकरो द्वारा निर्मित की गयी थी। इनमें अन्तिम तीर्थंकर थे भगवान महावीर। जैन दृष्टि में परम्परा दो अर्थ रखती है—एक सनातन ज्ञान और दूसरा इस ज्ञान की शाब्दिक अभिव्यक्ति जैन परम्परा दो भागों में विभाजित है। इसके पहले चरण में वेदों के विकल्प के रूप में एक धार्मिक नैतिक विश्व दृष्टि को प्रस्तुत किया गया है। देवताओं के स्थान पर स्वायत्त नैतिक विधानों को और पुरोहितों के स्थान पर भिक्षुओं को रखा गया है। यदि जैन धर्म व नैतिक मूल्यों के आधार पर किसी समाज का निर्माण किया जाय तो फिर वह समाज सभी प्रकार की हिंसा और विकार से मुक्त एक आदर्श समाज होगा। लेकिन चूंकि ऐसा सम्भव नहीं है कि समाज के सभी व्यक्ति सम्पूर्ण रूप से नैतिक हों अतः, व्यवहार के धरातल पर बहुत से समझौते करने पड़ते हैं। इसी कारण जैन परम्परा के दूसरे चरण में पुरानी सामाजिक परम्परा और व्यवस्था के साथ जैन राजनीतिक चिन्तन ने अनेक समझौते किए। इसका परिणाम यह हुआ कि जैन राजनीतिक चिन्तन अधिक से अधिक हिन्दू राजनीतिक चिन्तन के निकट आता गया।

वैदिक परम्परा को मानवीय परम्परा मानकर जो समय के साथ क्रमशः, दूषित होती चली गई जैनियों ने वेदों की सत्ता को अस्वीकार कर दिया था। इसके साथ ही उन्होंने न केवल राजनीति के प्रति पारम्परिक नैतिक दृष्टि को अस्वीकार किया बल्कि नैतिकता की उस पवित्र धारणा को भी अस्वीकार कर दिया जो वेदों से वियोजित होती है। उन्होंने लौकिक को पूरी तौर पर पारलौकिक के अधीन करते हुए यह मत प्रस्तुत किया कि लौकिक जगत् की व्यवस्था और संगठन इसे पारलौकिक व्यवस्था के अर्न्तगत रख कर ही किया जा सकता है। सनातन व्यवस्था और मुक्ति के प्रति जैन धर्म का आग्रह डा० बेनी प्रसाद को यह कहने पर विवश करता है कि सरकार का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों को जैन सूत्र केवल ''निराश'' करते हैं। हालांकि डा० गोविन्द चन्द्र पांडे का मत यह है कि जैन परम्परा में यथार्थ के काल निरपेक्ष व काल सापेक्ष पक्ष को एक दूसरे से पूर्ण रूप से अलग नहीं किया जा सकता है।

जैनियों के ब्राह्मण विरोधी विचारों के सम्बन्ध में कुछ लोगों का यह मानना है कि चूंकि जैन धर्म की स्थापना मुख्य रूप से क्षत्रियों ने की थी इसलिए इन लोगों ने ब्राह्मण विचारधारा और इस जाति की सामाजिक श्रेष्ठता का विरोध किया। यह बात एक सीमा तक सच भी हो सकती है, किन्तु महत्वपूर्ण बात यह है कि इनका मतभेद सैद्धान्तिक था। वे ब्रह्म या ईश्वर की सत्ता को एक सार्वभौम, चैतन्य सत्ता के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। वेद उनके लिये स्वयं उत्पन्न हुआ विदित ज्ञान नहीं है। इसलिए वे वर्ण व्यवस्था और वर्णाश्रम धर्म की हिन्दू संकल्पना को भी स्वीकार नहीं करते। उनके लिए राजधर्म का स्वरूप वह नहीं हो सकता था जो हिन्दुओं के लिए था।

धर्म जैन भिक्षुओं के लिए एक सद्गुण है जो अन्ततोगत्वा मनुष्य के आध्यात्मिक स्वभाव में अन्तर्निहित है। आध्यात्मिक जीवन नैतिक आचरण के मान दण्ड स्थापित करता है। धर्म का अनुसरण करने वाले व्यक्ति की जीवन शैली आध्यात्मिक होती है। आध्यात्मिक जीवन का अर्थ है पवित्रता, शास्ति एवं अहिंसा का जीवन, स्मृतियां नहीं। वह व्यक्ति जिसकी जीवन शैली आध्यात्मिक है वही धार्मिक आचरण के मानक प्रस्तुत करता है। राजा व नागरिक के अलग-अलग धर्म नहीं हो सकते। न तो ब्राह्मण की और न राजा की श्रेष्ठ स्थिति को जैन धर्म में स्वीकार किया गया है। एक चांडाल भी ज्ञानी हो सकता है। राजा का पद तो कभी सम्पूर्ण रूप से अच्छा नहीं हो सकता, क्योंकि इस पद पर रहते हुए हिंसा का प्रयोग करना ही पड़ जाता है। अत: राजा से भी यह अपेक्षित है कि वह एक समय बाद अपने पद को छोड़ कर भिक्षु का जीवन व्यतीत करे। बहुत से जैन भिक्षुओं ने राजाओं को परामर्श देने का काम किया है। लेकिन वे उन्हें लौकिक या राजनीतिक सफलता के सम्बन्ध में शिक्षा नहीं देते थे। वे उन्हें भिक्षु जीवन शैली के बारे में शिक्षित करते थे। वास्तव में जैन शिक्षक अपने को राजाओं से दूर ही रखते थे, वे राजा से भिक्षा या सहायता नहीं प्राप्त करना चाहते थे। राजा के सभी पुरस्कार उनके लिए हिंसा के गाढ़े रंग में रंगे हुए थे। कुल मिला कर जैन विचारधारा राजपद को कोई दैवी मान्यता नहीं देती है। राजा उनके लिये देव स्वरूप नहीं है।

जैन परम्परा में यह अवश्य माना गया है कि एक ज्ञानी राजा धर्म को प्रोत्साहित करता है और उसकी रक्षा करता है। राजनीतिक सत्ता समाज में नैतिक जीवन को सम्भव बनाती है। लेकिन इसके बावजूद राजनीतिक सत्ता हिंसा का ही रूप है क्योंकि इसके साथ अवपीड़क शक्ति संयुक्त है। ज्ञानी ब्राह्मणों के स्थान पर कुलीन क्षत्रियों की सामाजिक श्रेष्ठता को स्वीकार करते हुए जैन परम्परा में क्षत्रियों को सामाजिक नेतृत्व प्रदान करने वाला वर्ग कहा गया है। यहां तक कि इन्हीं में से आध्यात्मिक नेतृत्व प्रदान करने वाले भी आते हैं, लेकिन ऐसे लोगों को जो अध्यात्मिक नेतृत्व प्रदान करते हैं पहले संसार का त्याग करना होता है। आर्दशराजा वह है जो शक्तिशाली भी है और ज्ञानी भी, ऐसे राजा को चक्रवर्ती राजा कहा जाता है। उसका एक करिश्माई व्यक्तित्व होता है, और यद्यपि वह शक्ति का प्रयोग करता है लेकिन वह हमेशा इसका प्रयोग न्यायपूर्ण तरीके से करता है। राजा को न तो किसी पुरोहित की आवश्यकता होती है और न किसी अनुष्ठान की, उसकी शक्तियों को ऐसे आलम्बनों की आवश्यकता नहीं है। जैनियों ने कई प्रकार के राजाओं की चर्चा की है, चक्रवर्ती उनमें सबसे श्रेष्ठ हैं, उनके बाद वसुदेव फिर बलदेव। ये राजा शक्तिशाली और न्यायप्रिय तो हैं लेकिन आध्यात्मिक नहीं। सबसे अन्त में वे निकृष्ट प्रकार के राजा होते है जो अपनी शक्ति और धन के मद में अपने कर्तव्यों को भुला देते हैं।

हिन्दू चिन्तन की नीति परम्परा को जैन विचारक सोमदेव और हेमचन्द्र जैन दार्शनिक विचारधारा के साथ समन्वित करने का प्रयास करते हैं। डा० घोषाल का यह कहना है कि नीति परम्परा को स्वीकार कर जैनियों ने अहिंसा में अपना विश्वास छोड़ दिया, लेकिन यह बात सही नहीं है। प्रारम्भ से ही जैन परम्परा में यह बात मानी गयी थी कि किसी भी राजा के लिए सम्पूर्ण अहिंसा के माध्यम से शासन करना सम्भव नहीं है। लेकिन वह राजा जो सम्प्रभु शक्ति का प्रयोग न्याय व धर्म की रक्षा के लिए करता है उसे आदर्श राजा स्वीकार किया जा सकता है। आदर्श राजा को केवल शक्ति का अनुचित प्रयोग करने से बचना है। धर्म नैतिक उद्देश्य है, और नीति वह पद्धति है जिससे इस उद्देश्य को प्राप्त किया जाता है। राजनीति में धर्म एवं नीति को एक दूसरे के साथ संयुक्त होना चाहिए। धर्म सनातन है, किन्तु नीति बदलते हुए समय के प्रति प्रतिक्रियाओं की एक शृंखला है, और इसीलिए परिवर्तनशील, व्यवहार के स्तर पर नैतिक जीवन एक सामाजिक व्यवस्था की मांग करता है। इस सामाजिक व्यवसथा को बनाए रखने के लिए नीति की आवश्यकता होती है। नीति यह बताती है कि दण्ड का उचित प्रयोग कैसे किया जा सकता है। नीति के द्वारा लोक व्यवस्था और लोक व्यवस्था की रक्षा की जाती है। नीति का एक उपयोगितावादी पक्ष तो है क्योंकि यह लोक प्रशासन और राजनय से सम्बन्धित है, लेकिन इसका एक रूढ़िवादी पक्ष भी है क्योंकि नीति की धारणा में पारम्परिक सामाजिक व्यवस्था की स्वीकृति अन्तर्निहित है।

नीति के पीछे यदि धर्म की सत्ता न हो तो नीति का कोई मूल्य नहीं होगा। यह बात सोमदेव और हेमचन्द्र दोनों स्वीकार करते है। लेकिन इसके साथ ही वे धर्म की अतिरंजना भी नहीं करते हैं। राजनीति को पर्याप्त महत्व देते हुए सोमदेव राज्य को प्रणाम करते हैं, और यह मानते हैं कि राजनीतिक सत्ता ही सद्‌गुण और धन दोनों की प्राप्ति को सम्भव बनाती है। हेमचन्द्र राजसत्ता को प्राचीनकाल के ऋषियों की इच्छा की उपज मानते हैं, और कहते हैं कि उनका ग्रन्थ उसी ग्रन्थ का सार है जिसकी रचना स्वयं भगवान महावीर ने मगध के राजा बिम्बिसार के लिए की था। अत: दोनों ही जैन विचारकों के लिए राजनीति शास्त्र एक बहुत महत्वपूर्ण शास्त्र है। इस शास्त्र को इतना महत्वपूर्ण बनाने की प्रक्रिया में उन्होंने मूल जैन मान्यताओं को कितना सुरक्षित रखा यह विवाद का विषय है।

2.9 कुछ आलोचनाओं पर विचार

बहुत से लेखकों ने विशेषकर पाश्चात्य लेखकों ने, भारतीय राजनीतिक चिन्तन के सम्बन्ध में बहुत सी आलोचनात्मक टिप्पणियां की हैं। संक्षेप में इन पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। आमतौर पर यह कहा गया है कि भारतीय मस्तिष्क पर धर्म की पकड़ हमेशा से इतनी मजबूत रही कि भारतीयों ने कभी राज्य की अवधारणा पर विचार नहीं किया। उदाहरण के लिये प्रो० मैक्समुलर ने यह कहा है कि, ''हिन्दुओं का देश दार्शनिकों का राष्ट्र है। उनका संघर्ष चिन्तन का संघर्ष रहा है। यह निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि विश्व के राजनीतिक इतिहास में इनका कोई स्थान नहीं है।'' लेकिन यह कथन इस तथ्य को अनदेखा करता है कि हिन्दुओं की बौद्धिक रुचि केवल दार्शनिक समस्याएं सुलझाने में नहीं थी। उनकी बौद्धिक रुचि का दायरा व्यापक है। अनेक प्रकार की विद्याओं की जो पारम्परिक सूची हिन्दुओं ने समय-समय पर प्रस्तुत की है, उनमें कभी चार, कभी अठारह, और कभी बत्तीस विद्याओं को रखा गया है। किन्तु सभी सूचियों में परा और अपरा दोनों विद्याओं को रखा गया है। पहली सूची में अर्थशास्त्र एवं राजनीति शास्त्र को रखा गया है, दूसरी में चिकित्सा और संगीत के साथ राजनीति को भी रखा गया है, और तीसरी में भी कामकला आदि के साथ राजनीति को एक विद्या के रूप में स्वीकार किया गया है। इसके अलावा संस्कृत साहित्य में भी राजनीति के अनेक सामान्य सिद्धान्तों की चर्चा की गयी है।

ब्लूमफील्ड नाम के एक दूसरे लेखक ने यह आरोप लगाया है कि वर्ण व्यवस्था और वर्णाश्रम धर्म हिन्दुओं के पूरे जीवन को इस तरह से व्यवस्थित करता है कि इसमें राज्य का कोई स्थान नहीं रह जाता। यह आरोप भी बहुत सही नहीं दिखता क्योंकि हिन्दुओं ने हमेशा एक सामाजिक व्यवस्था की अनिवार्यता को स्वीकार किया है। इसी सामाजिक व्यवस्था के कारण व्यक्तियों के लिये धर्म का

पालन सम्भव हो पाता है। राजा का यह कर्तव्य है कि वह सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखे और धर्म की रक्षा करे। यह सच है कि भारतीय परम्परा में व्यक्ति का सर्वोच्च आदर्श मोक्ष की प्राप्ति है, किन्तु इस परम्परा में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों के संयोग को स्वीकार किया गया है। धर्म के अनुसार अर्थ एवं काम का सुख प्राप्त करना श्रेयस्कर बताया गया है, और एक सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत ही इस सुख को प्राप्त किया जा सकता है। व्यक्ति के जीवन को जब राज्य का संरक्षण प्राप्त होता है तभी पुरुषार्थ का फल मिलता है। प्रसिद्ध राजनीति शास्त्री वार्कर ने भी यही माना है कि भारतीय परम्परा धर्म एवं आस्था की परम्परा है, और इस नाते यह बौद्धिकता को अनदेखा करती है। इस परम्परा में न तो व्यक्ति का कोई मूल्य है और न उसकी बौद्धिक क्षमता का सम्मान किया गया है, जैसा कि ग्रीक परम्परा में दिखाई पड़ता है। इसी कारण प्राचीन यूनान में तो राजनीतिक चिन्तन की परम्परा दिखाई पड़ती है लेकिन प्राचीन भारत में नहीं। वार्कर का यह कथन भी मैक्समूलर और ब्लूमफील्ड की आलोचनाओं की भांति एकांगी प्रतीत होता है। यह-सही है कि ग्रीक राजनीतिक चिन्तन जैसी परम्परा भारत में कभी नहीं थी, लेकिन यह सही नहीं है कि भारत में राजनीतिक चिन्तन की कोई परम्परा कभी थी ही नहीं। वेदों की दैवी सत्ता को स्वीकार करने के बावजूद हिन्दू राजनीतिक चिन्तन में बौद्धिकता का पर्याप्त प्रमाण मिलता है।

आलोचनाओं द्वारा यह भी कहा गया है कि यह हिन्दू विश्वास कि सामाजिक व्यवस्था एक दैवी कृति है उन्हें अपनी सामाजिक व्यवस्था के बौद्धिक औचित्य खोजने में बाधक बन जाता है। यह सही है कि मनु और भीष्म ने और साथ ही दूसरों ने भी राजा की सत्ता को दैवी आधार पर उचित बताया है, और राजा के व्यक्तित्व को परामानवीय गुणों से परिपूरित माना है, किन्तु इसके साथ ही यह भी सही है कि स्मृतियों के अनेक लेखकों ने राजा के कर्तव्य, राजपद का औचित्य और उसकी सत्ता की वैधता की व्याख्या करते हुए अनेक बौद्धिक आधारों की भी चर्चा की है। उन्होंने इस संदर्भ में कानून और व्यवस्था, लोक कल्याण आदि की भी चर्चा की है। शास्त्रों और रीति-रिवाजों के अलावा कौटिल्य ने तो कानून और बौद्धिक विश्लेषण को भी स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है, और यहां तक कहा है कि यदि शास्त्र और कानून पर आधारित बौद्धिक विश्लेषण में कोई विरोध की स्थिति हो तो दूसरे का ही अनुसरंण किया जाना चाहिए। बहुत से स्मृतियों के लेखकों ने भी राजा को यह चेतावनी दी है कि प्रत्येक स्थिति में शास्त्रों का अनुपालन करना उसके लिए उचित नहीं होगा, शास्त्रों को छोड़ राजा अपनी बुद्धि से निर्णय लेने के लिये स्वतंत्र है।

कानून और धर्म का अन्तर न किया जाना, विलोबी और डनिंग के मतानुसार, हिन्दू राजनीतिक चिन्तन के स्वतंत्र विकास में बाधक बन गया, और यह चिन्तन हमेशा धर्म व अध्यात्म के दायरे में सिमटा रहा। यह आरोप हिन्दू राजनीतिक चिन्तन की समूची अर्थशास्त्री परम्परा पर बिल्कुल ध्यान नहीं देता। अर्थशास्त्रीय परम्परा के कुछ लेखक तो पूरी तौर पर धर्मनिरपेक्ष हैं, और जो नहीं भी हैं उन्होंने भी लौकिकता व लौकिक अनिवार्यताओं को स्वीकार किया है। उन्होंने सरकार के संगठन और समस्याओं पर, राज्य के विभिन्न अंगों के पारस्परिक सम्बन्धों और उनके कार्यों पर, विदेश नीति एवं कूटनीति के सिद्धान्तों पर विस्तार से चर्चा की है। इन चर्चाओं में कहीं भी यह आभास नहीं मिलता है कि उनकी धार्मिक मान्यताओं ने उनके विश्लेषण को कमजोर या दूषित किया है। अतः हिन्दुओं के राजनीतिक चिन्तन का स्वतंत्र अस्तित्व हो या न हो धर्म उनके चिन्तन में कोई वास्तविक बाधा नहीं उत्पन्न करता है।

2.10 सारांश

इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि प्राचीन भारत में राजनीतिक चिन्तन की वैसी परम्परा नहीं थी जैसी कि पाश्चात्य जगत् में थी, लेकिन फिर भी भारतीय चिन्तकों की रुचि राजनीतिक विषय में अवश्य थी। कौटिल्य, मनु, शुक्र, कामन्दक आदि के ग्रन्थों को राजनीतिशास्त्र पर लिखे गए ग्रंथ कहना गलत नहीं होगा। हां, विश्लेषण की वह गहराई और चिन्तन की वह प्रौढ़ता इन ग्रन्थों में नहीं है जो पाश्चात्य जगत् में लिखे पर राजनीतिक ग्रन्थों में है। लेकिन यह इस बात का कोई आधार नहीं बनता कि प्राचीन भारत के राजनीतिक चिन्तन को पूरी तौर पर खारिज कर दिया

जाय। प्राचीन भारत में राज्य की अवधारणा, राजनीतिक कर्तव्य पालन के आधार, और कानूनों के प्रकार आदि पर विचार नहीं किया गया था। यहां पर राजनीतिक चिन्तन मुख्य रूप से राजतंत्रीय व्यवस्था पर अपना ध्यान केन्द्रित रखते हुए राजा के कर्तव्य और राज्य के अधिकारियों के प्रशासनिक ढांचे पर विचार करता है। अपराध और दण्ड पर भी विचार किया गया है, किन्तु दण्ड का कोई सिद्धान्त नहीं प्रस्तुत किया गया है। ये बातें चिन्तन में सैद्धान्तीकरण का अभाव तो प्रकट करती हैं, लेकिन इन बातों से भारतीय चिन्तन अपरिष्कृत और जनजातीय नहीं हो जाता। वास्तव में, भारतीय राजनीतिक विचारों को उनके आध्यात्मिक संदर्भ के साथ जोड़ कर ही उनकी प्रासंगिकता व परिपक्वता को समझा जा सकता है।

यह सही है कि हिन्दू आध्यात्मिकता का आधार आस्था है। वर्ण, वर्णाश्रम धर्म आदि को दैवी व्यवस्था मानते हुए प्राचीन भारत में राजनीतिक चिन्तन किया गया है। ऐसी स्थिति में राजनीतिक चिन्तन की किसी बुद्धिवादी परम्परा को प्राचीन भारत में खोजना गलत तो है ही। पाश्चात्य जगत में भी तो राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में विवाद और व्यग्रता की अनेक स्थितियां उत्पन्न हुई है। मध्य युग का राजनीतिक चिन्तन जब आधुनिक युग में ईसाई धर्म की सीमाओं से बाहर आया तो इसकी मुख्य धारा को बौद्धिक और वैज्ञानिक कहा गया। हालांकि इसकी वैज्ञानिकता और बौद्धिकता को समय-समय पर पहले भी कई राजनीतिक दार्शनिकों द्वारा चुनौती दी गई थी लेकिन सबसे बड़ी चुनौती दी व्यवहारवादियों ने। व्यवहारवाद के प्रभाव में यहां तक कहा जाने लगा कि पूर्व के राजनीतिक दर्शन कई प्रकार की भ्रन्तियों के शिकार थे, और अब राजनीतिक दर्शन की सारी सम्भावनाएं समाप्त हो गयी हैं। राजनीतिक दर्शन के नाम पर पहले जो कुछ भी लिखा गया था वह सब अवैज्ञानिक एवं कपोलकल्पित था। हालांकि व्यवहारवादी आन्दोलन अपनी दोषपूर्ण धारणाओं के कारण एक अवधि के बाद समाप्त हो गया लेकिन इसने एक व्यग्रता की स्थिति तो उत्पन्न ही कर दी थी। प्राचीन भारतीय राजनीतिक, चिन्तन अपनी तमाम कमियों और कमजोरियों के बावजूद राजनीतिक चिन्तन की श्रेणी में तो आता ही है।

भारतीय राजनीतिक चिन्तन का अध्ययन पाश्चात्य एवं भारतीय लेखकों ने दो दृष्टियों से किया है। पहली ऐतिहासिक विवरणात्मक दृष्टि और दूसरी विश्लेषणात्मक। मूल्यांकन की दृष्टि से पहली दृष्टि बहुत महत्वपूर्ण नहीं है। इसके अन्तर्गत अधिकतर लेखकों द्वारा भारतीय चिन्तन की अतिशय प्रशंसा ही की गयी है, और उसकी श्रेष्ठता स्थापित करने का अनावश्यक प्रयास किया गया है। दूसरी दृष्टि महत्वपूर्ण इसलिए है कि यह विश्लेषण के आधुनिक उपकरणों का प्रयोग करते हुए राजनीतिक सत्ता की वैधता, राजनीतिक संस्थाओं की उपयोगिता, सामाजिक अभिजन के प्रभाव आदि का अध्ययन करने का प्रयास करती है। इस दृष्टि का लाभ यह है कि यह एक आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करती है। ऐसा ही अध्ययन इस बात की ओर संकेत करता है कि प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के अनेक पक्ष आज भी प्रासंगिक हैं, और वर्तमान समय में उनसे लाभ लिया जा सकता है।

एक बात जो भारतीय राजनीतिक चिन्तन को सबसे अधिक कमजोर बनाती है वह यह है कि यह चिन्तन न केवल एक ऐसी जातीय व्यवस्था को अपनी स्वीकृति प्रदान करता है जिसमें व्यक्ति उच्च और निम्न में विभाजित हैं बल्कि उच्च द्वारा निम्न का निरंतर शोषण भी किया जाता है। इस चिन्तन में जाति के आधार पर उन्मुक्तियां व विशेषाधिकार दिए गए हैं। दण्ड की व्यवस्था भी इसी आधार पर की गयी है। शूद्रों के लिए किया गया दण्ड का प्रावधान तो कभी-कभी बहुत बर्बर और अमानुषिक लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण गठबंधन निरन्तर अपने स्वार्थों की रक्षा करने में लगा हुआ था। यह जातीय व्यवस्था जब अनेक सामाजिक कुरीतियों को जन्म देने लगी तो हिन्दू समाज ने ही भक्त कवियों और चिन्तकों को उत्पन्न किया जिन्होंने हिन्दू धर्म के सनातन पक्ष को तो स्वीकार किया लेकिन इस धर्म के आडम्बरों और विकृतियों पर भरपूर प्रहार भी किया। आधुनिक भारत में महात्मा गांधी इसी श्रृंखला की एक कड़ी थे। बाद में गांधीवादी चेतना से युक्त दूसरे बहुत से लोगों ने भी इस दिशा में सराहनीय कार्य किया। लेकिन जाति व्यवस्था वर्तमान समय में भी नयी-नयी सामाजिक व राजनीतिक विकृतियां उत्पन्न कर रही है।

2.11 उपयोगी पुस्तकें

1. Altekar, A.S.; State and Government in Ancient India
2. Asthana, M.; The Buddhist Political theory in Buddha PG College Magazine, 1973-74
3. Guoshal, V.N.; A History of Indian Political Ideas
4. Jayaswal, K.P.; Hindu Polity
5. Kane, P.V.; History of Dharmasastra
6. Pande, G. C.; Jain Political Thought
7. Parekh, B.C.; 'Some Reflections on the Hindu Tradition of Political Thought in Political Thought in Modern India adited by T. Pentham and K.L. Dentsch
8. Prasad, B.; The State in Ancient India
9. Radha Krishnan, S.; The Hindu View of Life
10. Salekore, B.A.; Ancient India Polcital Thought and Institution
11. Sinha, H. N.; The Development of Indian Polity
12. Verma, V.P.; Studies in Hindu Political Thought and its Metaphysical Foundations

2.12 सम्बन्धित प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

(i) हिन्दू चिन्तन में सांस्कृतिक परम्परा का स्वरूप क्या है?

(ii) हिन्दू राजनीतिक चिन्तन में राजा के कर्तव्यों पर प्रकाश डालिए?

(iii) हिन्दुओं की गुप्तचर व्यवस्था को बताइए?

(iv) बौद्ध राजनीतिक चिन्तन में धर्मचक्र की अवधारणा को स्पश्ट कीजिए?

(v) जैन राजनीतिक चिन्तन में राजा के बारे में क्या विचार प्रस्तुत किया गया है?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(i) हिन्दू राजनीतिक चिन्तन में धर्म की अवधारणा समझाइए?

(ii) हिन्दू राजनीतिक चिन्तन में दण्ड की अवधारणा को बताइए?

(iii) प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख विशेषताएं प्रस्तुत कीजिए?

(iv) बौद्ध राजनीतिक चिन्तन पर एक निबन्ध लिखिए?

(v) जैन राजनीतिक चिन्तन पर एक निबन्ध लिखिए?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(i) हिन्दू राजनीतिक चिन्तन की कौन-कौन सी दो प्रमुख शाखाएं थीं?

(अ) धर्मशास्त्रीय और अर्थशास्त्रीय (ब) नीतिशास्त्रीय

(स) अर्थशास्त्रीय

(ii) हिन्दू राजनीतिक चिन्तन की दो प्रमुख संकल्पनाएं क्या थें?

(अ) धर्म और दण्ड (ब) अर्थ

(स) दण्ड

(iii) निम्नलिखित में से कौन सा ग्रन्थ कौटिल्य ने लिखा था?

(अ) दण्डनीति (ब) महाभारत

(स) अर्थशास्त्र

(iv) इनमें से कौन बौद्ध चिन्तक था?

(अ) आर्य सूर्य (ब) सोम देव

(स) हेम चन्द्र

(v) इनमें से कौन जैन चिन्तक था?

(अ) हेम चन्द्र (ब) अश्वघोष

(स) आर्य सूर्य

2.13 प्रश्नोत्तर

i. (अ) ii. (अ) iii. (स) iv. (अ) v. (अ)

इकाई 3 : प्राचीन भारत में गणतंन्त्र

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 प्राचीन गण—आदर्श उदाहरण
3.3 शासन प्रणाली
3.4 राजनीतिक संगठन
3.5 सामाजिक संगठन
3.6 आर्थिक व्यवस्था एवं व्यवसाय
3.7 साहित्य एवं शिक्षा
3.8 देवता, अनुष्ठान एवं दर्शन
3.9 ग्राम एवं नगर
3.10 कृषि एवं खान-पान
3.11 गणराज्यों के पतन के कारण
3.12 गणतन्त्र—परवर्ती अवस्था
3.13 सारांश
3.14 उपयोगी पुस्तकें
3.15 सम्बन्धित प्रश्न
3.16 प्रश्नोत्तर

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन द्वारा छात्र प्राचीन भारतीय गणों की स्थापना, उनके विकास एवं पतन के साथ-साथ सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक संगठन के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। साथ में उनके पतन के पश्चात् उभरी व्यवस्था की भी जानकारी प्राप्त कर सकेगें।

3.1 प्रस्तावना

इतिहास की दृष्टि से प्राचीन भारत में जन अथवा संघों (Republics) का सक्रिय काल ई०पू० छठी शताब्दी से चौथी शताब्दी ईसवी (अर्थात् गुप्त साम्राज्य के उदय तक) के मध्य था। गुप्त काल के पश्चात् उपरोक्त संघों की व्यवस्था विलुप्त हो गयी। कुछ इतिहासकारों का मानना है कि गुप्त साम्राज्य के उदय तक जनों का इतिहास आक्रमणकारी विदेशियों एवं स्थापित राजतंत्रों (eshtablished movarchies) के विरुद्ध उनका संघर्ष है। एक ओर जहाँ शक्तिशाली मगध राज्य की साम्राज्यिक (imperial) नीतियों ने पूर्वी जनों (eastern nepblics) का अस्तित्व समाप्त कर दिया वहीं सिकन्दर, यवनों, शकों एवं कुषाणों ने पश्चिम जनों (western nepublics) का दमन किया—इस निरन्तर संघर्ष में कुछ प्रमुख जन ही अपना अस्तित्व बचा पाए, जैसे यौधेय, (Yaudheya) मालवा (Malvas) एवं मद्र (Madra's)।

इतिहास के क्रम में जन अथवा संघ के विविध अभिप्राय विद्यमान हैं—वैदिक काल में ये जनजातीय संघटनों (tribal formations) के रूप में सक्रिय थे तथा उत्तरवैदिक काल में ये गैर-राजतंत्रात्मक संघों के प्रारूप में क्रियाशील थे। प्रसिद्ध व्याकरणविद् पाणिनि (Pamini) ने जनों के विविध प्रतिमानों से हमारा परिचय करवाया जिनमें प्रमुख हैं शास्त्रजनित शक्ति के बल पर राज करने वाले जन अर्थात सैन्य संघ, एवं वे जन जहाँ राज्य व्यवस्था एवं संगठन अपने चरम बिन्दु पर था। पाणिनि के अनुसार जनों की परम्परा थी कि प्रशासनिक संचालन में प्राय: सभी निर्णयों का पुनरीक्षण (review) होता था। कुछ प्रतिष्ठित शास्त्रीय लेखकों, जो सिकन्दर तथा उसके दूत मेगैस्थिनीज के

अभियानों में शामिल थे, का मानना है कि भारतीय इतिहास स्रोतों में उन जनों को सम्मिलित किया गया जो स्वतंत्र एवं स्वायत्त (autonomous) थे तथा वह जन जिनमें शाही शक्ति का प्रदर्शन नहीं होता था और जिनका प्रधान चुनावी प्रक्रिया द्वारा नियुक्त किया जाता था। शास्त्रीय लेखकों एवं भारतीय स्रोतों ने अपने विश्लेषण में इस तथ्य को स्वीकारा है कि प्राचीन भारतीय जन आर्थिक एवं सामाजिक रूप में समृद्ध थे तथा इनमें संस्कृति का उच्च स्तर विकसित हो चुका था।

डा० एन०एन० घोष के मतानुसार छठी शताब्दी ई०पू० के भारतीय जन यूनान एवं रोम के जनों से भिन्न, अभिजातवर्गीय व्यवस्था पर आधारित थे। मूल भारतीय परिदृश्य में ऋग्वेद से प्रकट होता है कि आर्य अनेक जनों में विभक्त थे जो अपने को किसी एक पूर्वज की सन्तान मानते थे। प्रत्येक जन में अनेक कुटुम्ब होते थे, अत: एक ही जाति के पुरुष से उत्पन्न विभिन्न कुटुम्बों के समुदाय का नाम जन था। प्रारम्भ में इन जनों का कोई निश्चित स्थायी स्थान न था। ऋग्वेद में जनों का उल्लेख प्रारम्भ में प्राप्त होता है, परंतु जनपदों (स्थायी राज्यों) का नहीं। इससे यह तथ्य स्पष्ट होता है कि उस समय तक जनों ने अपने पृथक् स्थायी राज्य स्थापित नहीं किये थे। जनपदों का प्रथम उल्लेख ब्राह्मणों में हुआ है जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ब्राह्मण काल तक जनपदों का उदय हो चुका था एवं महात्मा बुद्ध के समय तक जनपदों का पूर्ण विकास हो चुका था। इसके पश्चात समस्त भारत में जनपदों का विस्तार हुआ एवं वे एक प्रकार से राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक जीवन की इकाई बन गये।

डा० विमलचन्द्र पाण्डेय के अनुसार जिस प्रदेश में ये जन स्थायी रूप से बस गये वही उनका जनपद अर्थात राज्य हो गया। प्रारम्भ में जनपद में किसी एक वर्ग विशेष के सदस्य ही रहते थे, अत: उनका समस्त जीवन एक ही जातीय, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परम्परा पर आधारित, संगठित तथा संचालित था। कालान्तर में अन्य वर्गों और जातियों के लोग भी आकर इन जनपदों में बसने लगे जिससे सांस्कृतिक आदान-प्रदान सम्भव हुआ, परन्तु बहुत समय तक वास्तविक राजसत्ता आदि जन के प्रतिनिधियों के हाथ में केन्द्रित रही। उदाहरणार्थ, लिच्छवि जन के 7707 कुल जिनमें सत्ता केन्द्रित थी।

भारत में आर्य लोग कई खेपों में आऐ। सबसे पहली खेप में ऋग्वैदिक आर्य आऐ जो इस महाद्वीप में 1500 ई०पू० के आसपास दिखाई देते हैं। आर्यों को दो प्रकार के संघर्षों का सामना करना पड़ा : एक ओर उनका आर्य पूर्व जनों से संघर्ष तथा दूसरा पारस्परिक संघर्ष। आन्तरिक संघर्षों से आर्य समुदाय दीर्घ काल तक जर्जर स्थिति में रहे। परम्परा के अनुसार आर्यों के पाँच कबीले अर्थात जन थे, जिनका समुदाय **'पंचजन'** कहलाता था। ये जन आपस में लड़ते रहते थे एवं कभी-कभी इन संघर्षों में आर्येत्तर जनों का भी सहारा लेते थे। **भरत** और **त्रित्सु**, दोनों आर्यों के शासक वंश थे एवं पुरोहित वसिष्ठ इन दोनों वंशों के समर्थक थे। कालान्तर में इस देश का नाम इसी भरत कुल के आधार पर भारतवर्ष पड़ा—इस कबीले या कुल का उल्लेख सर्वप्रथम ऋग्वेद में प्राप्त होता है। भरत राजवंश का दस राजाओं के साथ संघर्ष था जिनमें पाँच आर्य जनों के प्रधान थे एवं शेष आर्येत्तर जनों के। यह युद्ध **'दाशराज युद्ध'** अर्थात् 'दस राजाओं के साथ लड़ाई' के रूप में विदित है। यह युद्ध परुष्णी नदी के तट पर हुआ जिसकी पहचान आज रावी नदी से की जाती है। इस युद्ध में सुदास की जीत हुई एवं भरत कुल की प्रभुता स्थापित हुई।

पराजित जनों में सबसे महान **'पुरु'** थे। कालान्तर में भरतों और पुरुओं में मैत्री स्थापित हुई तथा दोनों के संयुक्त प्रयासों द्वारा एक नवीन शासक कुल की रचना हुई जो **'कुरु'** के नाम से प्रसिद्ध हुआ। तत्पश्चात् कुरु जनों ने साथ मिलकर उच्च गंगा मैदान में अपना संयुक्त राज्य बनाया एवं उत्तर वैदिक काल में महत्व प्राप्त किया।

ऋग्वेद में 'गण' शब्द जहाँ-जहाँ प्रयुक्त हुआ है उन प्रसंगों की समीक्षा से यह ज्ञात होता है कि जिस प्रकार के संगठन का यह बोध कराता है उसमें समूह अथवा सामूहिक जीवन का भाव निहित है। व्यक्ति, वैयक्तिक सम्पत्ति एवं उसके स्वामित्व की अवधारणा तथा सम्बद्ध चेतना उस समय विकसित नहीं हो पायी थी। लूट द्वारा एकत्रित सम्पदा को समान रूप से आपस में बाँट लिया जाता था।

गणों से सम्बन्धित जानकारी में पालि साहित्य (Pali Literature) का महत्वपूर्ण योगदान है—यह हमें उस समय के प्रमुख गणों के संदर्भ में वज्जि एवं मल्ल (जिन्हें पालि साहित्य महाजनपद की

संज्ञा देता है) के अलावा निम्न गणों के विषय में जानकारी देता है—

(1) कपिलवस्तु के **शाक्य**

(2) रामगाम के **कोलिय**

(3) केसपुत के **कालाम**

(4) सुसमारगिरि के **भग्ग**

(5) पिप्पहलीवन के **मोरिय**

(6) अलाकप्प के **बुलि**

मध्यदेश (madhya-desa) के उपर्युक्त गणों की मानचित्र पर वास्तविक स्थिति निर्धारित करना कठिन होगा परन्तु पालि साहित्य के अनुसार शाक्यों की बस्ती नेपाल तराई में थी। इनसे पूर्व में रोहिणी नदी के आसपास कोलिय, सुल्तानपुर के करवड़ (Kurwar) क्षेत्र में कालाम, भग्ग विंध्य पहाड़ियों के समीप वव्स के आसपास, गोरखपुर क्षेत्र के अन्तर्गत पिप्पहलीवन क्षेत्र में मोरिय इत्यादि। इनके अलावा कौटिल्य द्वारा रचित अर्थशास्त्र में जनों की '**वर्तसस्त्रोपजीवि**' (Vartasastropajivi) श्रेणी में **कम्बोज, सौराष्ट्र एवं क्षत्रिय** तथा '**राजशब्दोपजीवि**' (Rajasabdopajivi) श्रेणी में **मद्रक, कुकुर** एवं **पाञ्चाल** प्रमुख थे। इनकी भौगोलिक स्थिति पश्चिमी उत्तर प्रदेश, पंजाब एवं गुजरात में होने की संभावना है। प्रसिद्ध व्याकरणविद् पाणिनि द्वारा रचित ग्रन्थ 'अष्टध्यायी' में कुछ तत्कालीन गणों की सूची प्राप्त होती है जिनमें **क्षुद्रक** (Kshudraka), **मालव** (Malva), **व्रिक** (Vrika), **दामिनी** (Damini), **पर्सू** (Parsu), **यौधेय** (Yaudheya), **सल्व** (Salva), **भर्ग** (Bharga), **अम्बस्थ** (Ambastha), **हस्तियायन** (Hastiyayana), **प्रकणर्व** (Prakanva), **मद्र** (Madra), **मधुमन्त** (Madhuwavta), **अप्रित** (Aprita), **वस्ती** (Vasti), **सिवि** (Sivi), **अस्वयान** (Asvayana) एवं **त्रिगर्त** (Trigarta) प्रमुख हैं। पाणिनि के अनुसार त्रिगर्त के अंतर्गत 6 जनों का समूह क्रियाशील था—**कुन्डोपर्थ** (Kavndoparatha), **दण्डाकी** (Daudaki), **जलमाणि** (Jalamani), **ब्रह्मगुप्त** (Brahmagupta), **जनक** (Janaka) एवं **कौटकी** (Kavtaki) । पाणिनि ने अपनी रचना में यह भी जानकारी दी है कि इन गणों का गठन सशक्त था जिसके आधार पर ये, परवर्ती समय में सिकन्दर के आक्रमण का वीरतापूर्वक सामना कर पाए। सिकन्दर के अभियान में शामिल विभिन्न इतिहासकारों ने इस गणों की स्थिति, प्रशासन एवं सैन्य संगठन के संदर्भ में विशिष्ट जानकारी प्रदान की है।

उत्तर वैदिक काल का अन्त होते-होते 600 ई०पू० के आसपास वैदिक जन दोआब से पूरब की ओर पूर्वी उत्तर प्रदेश के कोसल और उत्तरी बिहार के विदेह में फैले। इन वैदिक लोगों को पूर्वी उत्तर प्रदेश एवं उत्तरी बिहार में ऐसे लोगों का सामना करना पड़ा जो ताँबे के औजारों एवं काले और लाल मृद्भांडों (Black and Red ware) का प्रयोग करते थे। कुछ स्थानों पर इनका सामना उत्तर हड़प्पाई संस्कृति को अपनाने वाले लोगों से भी हुआ, परन्तु इसे शुद्ध हड़प्पाई संस्कृति के स्थान पर मिश्रित संस्कृति कहना अधिक उचित होगा। उत्तर वैदिक जन के शत्रु चाहे जो भी रहे हों उनका किसी विस्तृत एवं संलग्न क्षेत्र पर जमाव नहीं था और साथ ही उत्तरी गंगा मैदान में उनकी संख्या भी अधिक नहीं थी। विस्तार के दूसरे दौर में वैदिक लोग इसलिए सफल हुए कि उनके पास लोहे के हथियार एवं अश्वचालित रथ थे।

3.2 प्राचीन गण—आदर्श उदाहरण

गण व्यवस्था के यथेष्ट अध्ययन के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इनमें एक प्रकार की शासन पद्धति का अभाव था। कहीं पर राजतंत्रात्मक एवं कहीं पर जनतंत्रात्मक व्यवस्था तथा कुछ स्थानों पर न्यून अंशों में उपरोक्त दोनों व्यवस्थाओं में समन्वय दिखाई पड़ता है। गणराज्यों में शासकीय शक्तियाँ जनता के हाथों में थीं—बौद्ध साहित्य में वर्णित ऐसे कई गणराज्यों में दो का विशिष्ट उल्लेख उचित एवं आवश्यक होगा क्योंकि इन्हें आदर्श उदाहरण के सबसे समीप कहा जा सकता है, और ये हैं **कपिलवस्तु के शाक्य** और **वैशाली के लिच्छवि**।

शाक्य गणराज्य में महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ जो मूलतः एक क्षत्रिय राजवंश था एवं जिसकी राजधानी कपिलवस्तु थी जो नेपाल की तराई में स्थित है। बुद्ध के पिता कपिलवस्तु के निर्वाचित राजा एवं शाक्यों के प्रधान थे एवं माता कोसल-राजवंश की कन्या थीं। गणराज्य में उत्पन्न होने के कारण उनमें कुछ समतावादी भावना विकसित हो पायी थी। शाक्य गणराज्य जनतंत्रात्मक पद्धति द्वारा शासित था जिसमें सत्ता 80 हजार कुलीन परिवारों में निहित थी। शुद्धोदन इसी परम्परा के निर्वाचित राजा थे। राज्य संबंधी क्रियाकलापों के उत्कृष्ट संचालन हेतु एक परिषद् का निर्माण किया जाता था जो परामर्शदात्री का कार्य करती थी। लगभग हर कार्य का सम्पादन उसकी सहमति के आधार पर ही संभव हो पाता था—कपिलवस्तु में जिस **'संथागार'** (Santhagara) का वर्णन है वह यही परिषद् है। परन्तु यह भी अवश्य कहा जा सकता है इस परिषद् की सदस्यता कुलीन वंशानुगत धनवानों तक सीमित रहती थी। ललितविस्तार (Lalitavistara) में इन सदस्यों की संख्या पाँच सौ दी गयी है। इतिहासकार रीज़ डेविड्ज (Rees Davids) ने अपने अध्ययन में अन्य शाक्यकालीन नगरों के संथागारों का वर्णन किया है एवं यह जानकारी भी प्रेषित की है कि सम्पूर्ण राज्य का शासकीय संचालन कपिलवस्तु के केन्द्रीय संथागार से ही होता था। कालान्तर में राजा प्रसेनजीत के पुत्र विडूडभ ने शाक्य स्वतंत्र सत्ता पर कब्जा जमा लिया। आक्रमणकारी विडूडभ के लिए कपिलवस्तु के द्वार खोलने के प्रश्न पर संथागार में विस्तृत वाद-विवाद एवं विचार-परामर्श हुआ था।

शाक्य सम्प्रदाय की प्रबुद्धता का प्रमाण उनके शासन के दौरान स्त्रियों की उज्ज्वल दशा द्वारा प्राप्त होता है। शाक्यों के सम्प्रदाय में विवाह स्वजातीय आधार पर ही होते थे। प्राचीन भारतीय इतिहास में वर्णित एक प्रसंग में यह तथ्य सम्मिलित है कि कोसल नरेश प्रसेनजीत को अपनी राजकुमारी न देकर शाक्यों ने अपनी एक दासी से उसका विवाह कर दिया। महिलाओं में शिक्षा का प्रचार था—संघ में बौद्ध भिक्षुणियाँ विद्यमान थी एवं महाप्रजापति गौतमी शाक्य कुल की महिला थीं जिन्होंने संघ में प्रवेश किया था।

शाक्यों की भाँति **लिच्छवि** भी क्षत्रिय वर्ग के शासक थे। महावीर के पिता सिद्धार्थ ने लिच्छवि कन्या से विवाह किया था एवं क्षत्रिय होने के आधार पर ही लिच्छवियों ने महात्मा बुद्ध के अवशेष माँगे थे। लिच्छवि गणराज्य की राजधानी वैशाली में स्थित थी। ललितविस्तार में वैशाली का वर्णन एक समृद्ध एवं वैभवशाली नगरी के रूप में किया गया है जो वर्तमान के आधुनिक मुजफ्फरपुर जिले में गण्डक नदी के तट पर स्थित है। लिच्छविकालीन समाज एक वर्ग विभाजित व्यवस्था थी, जो मूलतः तीन तथ्यों से उजागर होता है—प्रथम, अन्तर्जातीय विवाहों को मान्यता प्रदान नहीं की गई थी। द्वितीय, जैसा कि तिब्बती जनश्रुति में वर्णित है, वैशाली नगर तीन भागों में विभक्त था—पहला, जिसमें सोने के बुर्ज वाले प्रासादों की प्रधानता थी, दूसरा चाँदी के बुर्ज वाला एवं तीसरा जिसमें ताँबे और पीतल के बुर्ज वाले प्रासाद थे। तीसरे, समाज में विभिन्न श्रेणियों अथवा वर्गों द्वारा विभिन्न रंगों का प्रयोग जो श्रेणि-भेद को सूचित करता है।

कौटिल्य ने लिच्छवि राज्य को राजशब्दोपजीवि संघ के नाम से संबोधित किया है—'राजशब्दोपजीवि' शब्द का अर्थ ललितविस्तार में वर्णित है—''वहाँ का प्रत्येक मनुष्य अपने को राज्य का राजा समझता है न कोई किसी से छोटा है न बड़ा, सब समान हैं।'' योग्य व्यक्तियों को ही राज्य संचालन हेतु चुना जाता था। राज्य सभा में प्रतिनिधियों का सम्मेलन होता था—ये प्रतिनिधि राजा कहलाते थे जिनके अधिवेशन संथागार में होते थे। ऐतिहासिक स्रोतों में इन राजाओं की संख्या 7707 थी एवं उपराजाओं तथा सेनापतियों की संख्या भी इतनी ही थी। इन 7707 मूल कुटुम्बों के हाथ में सत्ता केन्द्रित थी। लिच्छवि राजकीय व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण पद नायक का होता था। नायक की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा की जाती थी एवं यही राष्ट्र का प्रधान होता था।

3.3 शासन प्रणाली

उपर्युक्त राज्यों में गणतन्त्रात्मक शासन प्रणाली प्रचलित थी जिसमें सत्ता राज्य के मूल कुलीन परिवारों

में केन्द्रित थी। इनके प्रतिनिधियों की संस्था को **'संथागार'** कहा जाता था जो राज्य की वास्तविक व्यवस्थापिका सभा होती थी। संथागार का अधिवेशन तभी वैध माना जाता था जब सदस्यों की एक निश्चित् संख्या उपस्थित होती थी। सभा भवन में सदस्यों की बैठक का प्रबन्ध **'आसनपन्नापक'** नामक अधिकारी करता था। विचारणीय विषयों को प्रस्तुत कर उस पर सभी सदस्यों को बोलना होता था। इस आपसी विचार विमर्श के समय अन्य किसी विषय पर बोलने की आज्ञा प्रदान नहीं की जाती थी जिसे **अनग्रविरोध'** कहा जाता था। प्रस्ताव-पाठ को ज्ञप्ति का अनुसावन कहते थे एवं कभी-कभी प्रस्ताव पाठ कई बार होता था। प्रस्ताव-पाठ के पक्षधारी सदस्य बोलते थे, अन्य मौन रहते थे। विवाद एवं आपसी सहमति न होने पर मत विभाजन किया जाता था जो भिन्न रंगों की शलाकाओं द्वारा होता था जो किसी एक प्रकार के मत को सूचित करती थीं। इन शलाकाओं की एकत्रित करके उन्हें व्यवस्थित करना **'शलाकाग्राहपक'** का कार्य होता था। कभी-कभी विवादग्रस्त प्रश्न अन्य राज्यसंघों की सम्मति से अथवा **'उव्वाहिका'** (विशिष्ट समिति) के निर्णय द्वारा भी हल किये जाते थे। इन अधिवेशनों की पूर्ण कार्यवाही को भविष्य में प्रेषण (reference) की दृष्टि से लेखबद्ध किया जाता था एवं यह कार्य लिपिकों (Clerks) द्वारा सम्पन्न किया जाता था।

कार्य विस्तार एवं शासकीय उत्तरदायित्व की दृष्टि से संथागार राज्य की सबसे बड़ी संस्था थी। इसी के द्वारा राजा उपराजा सेनापति एवं अन्य अधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी। संथागार के अतिरिक्त सलाहकारी कार्यों हेतु एक मंत्रिमंडल का भी उल्लेख मिलता है। इस मंत्रिमंडल में सदस्यों की संख्या कम होती थी। लिच्छवि मंत्रिमंडल में नौ एवं मल्ल मंत्रिमंडल में मात्र चार सदस्य थे। मोरिय तथा कोलिय जैसे छोटे गणतन्त्रों में सम्पूर्ण प्रबन्धन एक केन्द्रीय संथागार द्वारा किया जाता था परन्तु शाक्य एवं लिच्छवि जैसी बड़ी व्यवस्थाओं में केन्द्रीय संथागार की सहायक भूमिका प्रान्तीय संथागार निभाते थे। केन्द्रीय एवं प्रान्तीय संथागारों के मध्य कार्य विभाजन तथा सत्ता प्रबन्ध के संदर्भ में विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं है।

3.4 राजनीतिक संगठन

गणराज्यों के राजनीतिक संगठन के वर्णन से पूर्व यह उचित होगा कि यह भी विदित किया जाय कि इसका विकास कैसे संभव हुआ अर्थात् इस संगठन की उपयोगिता और आवश्यकता किस प्रकार राज्य का अभिन्न अंग सिद्ध हुई। इस संदर्भ में हम प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन का सहारा लेकर उपरोक्त के बारे में जान सकते है। वास्तविकता में यह राजनीतिक संगठन एक क्रमिक विकास का परिणाम दिखाई पड़ते है, वह प्रक्रिया जिसमें इन्होंने शनैः-शनैः विशिष्टता ग्रहण करी एवं महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

सर्वप्रथम मनु द्वारा इस क्रम पर प्रकाश पड़ता है। मनुस्मृति में राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्तों की विशद व्याख्या नहीं की गई है अपितु संक्षेप में उनका उल्लेख मिलता है। वस्तुतः मनु ने राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त (Divive orijin theory) एवं समझौता सिद्धान्त (Contractud theory) दोनों का समन्वय-सा किया है। यह भी कहा जा सकता है कि मनुस्मृति में राज्य की उत्पत्ति बाह्य रूप से भले ही दैवी सिद्धान्त रहा, पर उसका आन्तरिक रूप समझौता सिद्धान्त ही है। वह ईश्वर के प्रति मानवीय प्रार्थना का वह प्रतिफल है जिसका आदर्श अनिश्चितता का वह उन्मूलन है जिसके द्वारा सभ्य समाज की स्थापना होती है। राजा का सर्वोच्च स्थान है, वह धर्म का संस्थापक है, परन्तु धर्म से ऊपर नहीं है। उसमें ज्ञान के प्रति श्रद्धा है, वह संयमी, विवेकी एवं अपनी जनता के प्रति उत्तरदायी है। राजा शासकीय व्यवस्था का केन्द्र बिन्दु है जो स्वयं अपने विवेक एवं इच्छा द्वारा अपने सहायक पदाधिकारियों की नियुक्ति करता है। मनु के अनुसार राज्य के प्रमुख अंग राजा, अमात्य, (मंत्री), पुर (राजधानी), राष्ट्र (भूमि एवं जनता), कोष, सैन्यबल एवं मित्र हैं। इस क्रम के स्थायित्व एवं सफल प्राप्ति हेतु साम, दाम, दण्ड, भेद सब स्वीकार्य है। एक सफल राजा को मंत्रि परिषद् के परामर्श की आवश्यकता होती है। योग्य मंत्री भी राजा के समान उच्च मानसिक एवं बौद्धिक स्तर के होते है जो अपनी प्रतिभा एवं संकल्प से राजा और जनता, दोनों के संकटों का उन्मूलन करते हैं। विधि निर्माण एवं नियमों के निर्धारण का कार्य मनु द्वारा 'परिषद्' को सौंपा जाता

है। इस विद्वत् परिषद् में वेदों के ज्ञाता, निर्वक्ता, मीमांसाकार, धर्मशास्त्री एवं व्यवसायी होते है। परिषद् के अतिरिक्त स्वयं जनता अपनी संस्थाओं (कुल, जाति, श्रेणी इत्यादि) द्वारा भी विधि-निर्माण करती है।

राज्य की उत्कृष्टता उसकी न्याय व्यवस्था पर आधारित होती है। राजा इसका प्रमुख होता है। दण्ड व्यवस्था में मनु ने सुधारात्मक, विरोधात्मक एवं प्रतिशोधात्मक सिद्धान्तों में समन्वय स्थापित किया है। अर्थात् अनुपात को संज्ञान में रखकर दण्ड का निर्धारण। मनु ने 'प्रजा रक्षण' हेतु संप्रभुता, बाजारों का गठन एवं उनका संचालन, सेना के कार्य, पराजित राजा के प्रति विजेता राजा का व्यवहार आदि विषयों पर भी प्रकाश डाला है।

राजनीतिक संगठनों की जानकारी का दूसरा महत्वपूर्ण स्रोत है आचार्य कौटिल्य एवं उनके द्वारा रचित अर्थशास्त्र। कौटिल्य के अनुसार,

> मात्स्यन्यायाभिभूता प्रजा मनुं वैवस्वतं
>
> राजानं चक्रिरे। धान्यषड् भागं पण्यदश,
>
> भागं हिरण्य चास्य भागधेयं प्रकल्पया भासु:।
>
> तेनभृता राजा न: प्रजानां योगक्षेम वह्य.....
>
> इन्द्र यमस्थान मेतद् राजान: हेय प्रासादा:।

अर्थात् ''मतस्य न्याय की अवस्था से पीड़ित हुई प्रजाएँ, वैवस्वत मनु के पास गईं और कहने लगीं, हम तुम्हें अपना राजा नियत करती हैं, हम तुम्हें धान्य का छठा भाग और पण्य (व्यापार) का दसवाँ भाग कर रूप में प्रदान करेंगी, तुम हमारी रक्षा करो। इस प्रकार राज्य अथवा राष्ट्र की उत्पत्ति हुई। राजा लोग प्रजा से कर ग्रहण करके उनके योगक्षेम अर्थात् कल्याण का सम्पादन करते है। वे इन्द्र और यम के तुल्य होते है और प्रजा में व्यवस्था स्थापित करते है। उनका निग्रह और अनुग्रह प्रत्यक्ष होता है।''

मंत्रि परिषद् पर कौटिल्य का विचार है,

> सहायसाध्यंराजत्वं चक्रमेकं न वर्तते
> कुर्वीत सचिवांस्तस्मात् तेषां च शृणुयान्यतम्॥

अर्थात जिस प्रकार रथ अकेले एक पहिये से नहीं चल सकता, उसी प्रकार राज्य कार्य बिना सहायता से नहीं चल सकता। अत: राजा को चाहिये कि वह अपने मंत्रियों की नियुक्ति करे एवं उनकी सलाहनुसार राज्य के कार्य करे।

मनु, भारद्वाज, याज्ञवल्क्य, नारद, बृहस्पति, शुक्र आदि की शैलियों से भिन्न, कौटिल्य ने राजनीतिक संगठन की स्वतन्त्र विवेचना प्रस्तुत की, जो काल्पनिक एवं आदर्शवादी न होकर, यथार्थवादी थी। उनके विचार व्यावहारिक एवं समकालीन दृष्टि से उपयोगी थे।

प्राचीन गणों के काल अथवा उत्तर वैदिक काल में प्रतिनिधित्व संस्थाओं का महत्व क्षीण पड़ने लगा—विदय (Vidhata) तो प्राय: लुप्त हो गयी। सभा (Sabha) और समिति (Samite) भौतिक रूप में बनी तो रहीं परन्तु उनका आकार एवं संयोजन परिवर्तित हो गया। राजकीय प्रभुत्व की स्थापना के क्रम में इन संस्थाओं में राजा तथा अभिजात्य वर्ग का वर्चस्व बढ़ने लगा। सभा में महिलाओं का प्रवेश निषिद्ध हो गया तथा ब्राह्मण वर्ग का प्राबल्य हो गया। राज्यों की आकार वृद्धि का क्रम आरम्भ हुआ जिसके कारण राजा या मुखिया की शक्ति और विस्तृत हो गयी। राजकीय सत्ता धीरे-धीरे प्रजाश्रित से प्रदेशाश्रित होती गयी—राजा मूलत: कबीलों पर शासन करते थे, पर उनके प्रमुख कबीले उनके राज्य के प्रदेश से अभिन्न समझे जाने लगे, भले ही उस प्रदेश के भीतर उनके अपने कबीलों से भिन्न लोग भी बसते हों। आरम्भ में क्षेत्र सबसे पहले बसने वाले कबीले के नाम से जाना गया एवं बाद में यह नाम प्रदेश का हो गया। उदाहरणार्थ पंचाल (Panchala) जो एक कबीले या जन का नाम था जो कालान्तर में एक प्रदेश का नाम हो गया। 'राष्ट्र' शब्द जिसका अर्थ राज्य क्षेत्र होता था, इसी समय से मिलने लगा है। उत्तर वैदिक रचना राजा के निर्वाचन का संकेत देती है। उच्च

क्षमता एवं उत्कृष्टता राजा अथवा प्रमुख के सफल निर्वाचन का आधार बनती थी। यह राजा अपने कुलजनों से जो **'विश'** (Vis) कहलाते थे, स्वेच्छापूर्वक दी गयी भेटों को स्वीकार करता था जो एक प्रकार का चढ़ावा अर्थात बलि कहलाती थी। समय के साथ राजा के भेंट स्वीकारने के इस अधिकार में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया जिसने कालान्तर में शासकीय प्रथा पर ऐतिहासिक प्रभाव डाला—यह अधिकारी एवं राजा का पद आनुवंशिक (hereditary) हो गये। राजा का पद, उत्तराधिकार के क्रम में, ज्येष्ठ संतान को जाने लगा। नवीन राजसिंहासन की स्थापना के इस क्रम में कर्मकांड के विधानों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अनुष्ठानों के भव्य प्रदर्शन से प्रजा के चित्त पर राजा की बढ़ती हुई शक्ति एवं लौकिक महिमा की गहरी और अमिट छाप पड़ती थी। दिव्य शक्ति की प्राप्ति हेतु राजसूय यज्ञ, नये क्षेत्रों पर एकछत्र सत्ता की स्थापना हेतु अश्वमेघ यज्ञ तथा अपने कुल बन्धुओं पर श्रेष्ठता का बोध उत्पन्न करने हेतु वाजपेय यज्ञ—इन सब ने, संयुक्त रूप में, राजा के प्रभावशाली अस्तित्व को और भी अधिक सुदृढ़ किया। सत्ता के इस क्रम में एक अन्य महत्वपूर्ण विकास आर्थिक क्षेत्र में घटित हुआ। यह था अंशदान (Tribute) तथा करों (Taxes) का संग्रह एवं इनके आधार पर राजकीय प्रबंधन और वित्त संचालन। करों और अंशदानों के संग्रह एवं संचय हेतु **'संग्रहीत'** (Sangrahitra) नामक एक विशिष्ट अधिकारी की नियुक्ति की जाती थी। निचले स्तर पर प्रशासन का उत्तरदायित्व सम्भवत: ग्राम सभाओं का होता था जो प्रमुख कुलों के अधीनस्थ एवं उनके नियन्त्रण में अपने कार्यों का सम्पादन करती थीं जैसे स्थानीय विवादों का फैसला इत्यादि। अधिकारियों की उच्च श्रेणी में संग्रहीत के अलावा अन्य महत्वपूर्ण अधिकारी थे, **'सुत'** (Suta) अथवा शाही माह या चारण, **'क्षत्री'** (Chamberlain) अथवा कंचुकी या प्रबन्धक, **'अक्शवाप'** (Akshavapa) अथवा द्यूतक्रीड़ा का पर्यवेक्षक एवं **'पालागल'** (Palagala) अथवा शाही सन्देशहर या वार्ताहर। भारतीय स्त्रोतों में **'भागदुध'** (Bhagadugha) नामक अधिकारी का भी चित्रण प्राप्त होता है जो प्रमुखत: **'बलि'** एवं **'शुल्क'** नामक नियमित योगदान जनता से एकत्रित करता था। राजा के निकटवर्ती उच्च अधिकारियों में सेनानी एवं पुरोहित महत्वपूर्ण थे। गणतंत्रों के अंतर्गत प्रान्तीय शासन की नियमित व्यवस्था का भी उद्घाटन हुआ—**'स्थापति'** (Sthapati) नामक अधिकारी उन सुदूर क्षेत्रों का प्रशासन देखता था जिनमें प्राय: आदिवासी बहुल क्षेत्र थे। **'सत्पति'** (Satapati) ग्रामीण अधिकारियों की शृंखला में सौ या उससे अधिक गाँवों के समूह के प्रति उत्तरदायी था। ग्रामीण शृंखला के सबसे निचले स्तर पर अधिकृत (Adhikrita) नामक अधिकारी थे जो स्वयं राजा द्वारा नियुक्त किये जाते थे।

एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य जान लेना आवश्यक होगा—वह है शासक की विभिन्न पदसंज्ञाएं जिनका भारतीय इतिहास में उल्लेख मिलता है। मध्यदेश में शासक **राजा** कहलाता था, पूर्वी क्षेत्रों में **सम्राट्** दक्षिण में **भोज,** पश्चिम में स्वराट् एवं उत्तर में **विराट्**।

3.5 सामाजिक संगठन

गणराज्यों के वास्तविक सामाजिक संगठन के वर्णन से पूर्व इस पर एक ऐतिहासिक दृष्टि डालना उचित होगा, क्योंकि प्राचीन भारतीय समाज एक क्रमिक विकास की उपज है जिसमें सामाजिक जीवन की परम्पराएं समय के साथ स्थापित होती गईं।

ऋग्वेद में समाज के दो मुख्य वर्गों का उल्लेख है: आर्य वर्ण एवं दास वर्ण। इनमें शारीरिक और सांस्कृतिक भेद थे। ऋग्वेद के पुरुष सुक्त (ऋग्वेद 10, 90) में लिखा है,

> "ब्राह्मणो अस्य मुखमासीद्, बाहू राजन्यकृत:
> ऊरुतदस्य यद् वैश्य पदभ्याम् शूद्रो अजायत॥

अर्थात जब देवों ने आदि पुरुष के चार भाग किये, मुख से, तो ब्राह्मण बाहु से, क्षत्रिय जंघा से वैश्य एवं पैरों से शूद्र पैदा हुए।

इन सबके पृथक कार्य थे—आदि पुरुष को सृष्टि या समस्त सामाजिक संघटन का प्रतीक माना गया है। (पुरुष एवेदं सर्व यद् भूतं यच्च भाव्यम्) ऋग्वेद के नवें मंडल की एक ऋचा (ऋग्वेद 9, 112, 3) से यह स्पष्ट होता है कि इस समय तक व्यवसाय चुनने पर कोई प्रतिबंध नहीं थे—इसमें वर्णित है

"मैं कवि हूँ। मेरे पिता एक वैद्य थे। मेरी माता आटा पीसती थी। हम सभी धन और पशु की कामना करते हैं।"

उत्तर वैदिक काल में जटिलता आई। यज्ञों के अनुष्ठान के बढ़ते महत्व के कारण ब्राह्मणों का महत्व बढ़ गया। परन्तु अभी तक ब्राह्मणों का संघटन ज्ञान पर आधारित था, जन्म पर नहीं। तैत्तिरीय संहिता (तै०सं० 6, 6, 1, 4) में लिखा है कि जो बहुश्रुत है, वहीं ब्राह्मण है। यही विचार काठक एवं मैत्रायणी संहिता में भी प्रकट किये गये हैं। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट है कि व्यक्ति ज्ञान से ब्राह्मण बनता है, जन्म से नहीं (शतपथ-ब्रा०-2, 6, 2, 10)। ऐतरेय ब्राह्मण में ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों की उत्पत्ति का जो वर्णन है उससे स्पष्ट होता है कि इस काल में दोनों के मध्य सहज भेद नहीं थे।

शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ के स्थान पर बुलाने के लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों के व्यक्तियों के लिये क्रम से 'एहि', 'आगच्छ' एवं 'आद्रव' शब्द प्रयुक्त हैं। जन्म के आधार पर भेदभाव आरम्भ हो चुका था। धर्मसूत्रों में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बालकों के उपनयन संस्कार हेतु भिन्न ऋतुएं एवं अवस्थाएं निर्धारित की गयी हैं। महाभारत में स्पष्ट है कि ब्रह्म ने प्रांरभ में केवल ब्राह्मणों की रचना की थी। अपने कर्मों के अनुसार मनुष्यों का वर्ण-विभाजन हुआ—

> "न विशिष्टोऽस्ति वर्णानां सर्व ब्रह्ममिदं जगत्
> ब्रह्मणा पूर्व सृष्टं कर्मभिर्वर्णतां गतम्" (शांतिपर्व, 188, 10)

गीता में भी ऐसा ही वर्णित है—कृष्ण स्वयं कहते है कि मैंने गुण एवं कर्म के आधार पर चारों वर्णों की सृष्टि की है।

> "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः
> तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥ (गीता 4, 13)

ई०पू० छठी शताब्दी तक भारत के पूर्वी भाग में आर्य सभ्यता का उतना विस्तार न हो पाया था जितना पश्चिमी प्रदेश में हुआ था परन्तु देश के सामाजिक स्तर पर प्रमुख वर्ण विभक्त हो चुके थे। ब्राह्मण, राजन्य अथवा क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र समुदाय समाज में पर पृथक आधारों पर जीवनयापन कर रहे थे। आरम्भ में छह प्रकार के पुरोहितों में केवल एक ब्राह्मण होते थे परन्तु धीरे-धीरे अन्य द्विजों को दबाते हुए ये एक उत्तम बर्ण बन गये। पुरोहित वर्ग का यह प्रमुखता एक असाधारण तथ्य है जो भारत से बाहर के आर्यों की सामाजिक संरचना में नहीं पाई जाती है। इस संदर्भ में इस तथ्य को स्वीकारा जा सकता है कि ब्राह्मण वर्ग की स्थापना में आर्येत्तर तत्वों का योगदान अवश्य रहा होगा। धार्मिक अनुष्ठानों के बढ़ते महत्व एवं ब्राह्मणों द्वारा उनके प्रतिनिधित्व ने इस समुदाय का उच्च सामाजिक स्तर सुनिश्चित कर दिया। वे युद्ध में राजा की विजय हेतु देवाराधना करते तथा उसके प्रतिफल में राजा से अभयदान की प्रतिश्रुति पाते थे। कभी-कभी ब्राह्मणों तथा राजन्य वर्ग में तनाव की स्थिति पैदा हो जाती थी परन्तु निचले दो वर्गों से सामना होने पर आपसी तनाव समाप्त कर दिया जाता था। उत्तर वैदिक काल के अन्त में इस पहलू पर बल दिया गया कि ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों में पारस्परिक सहयोग रहना चाहिये ताकि समाज के शेष भाग पर इनका प्रभुत्व बना रहे। वैश्य राजाओं के परिजन थे परन्तु उनके समुदाय का निर्धारण जन-सामान्य संवर्ग में किया गया एवं उन्हें उत्पादन सम्बंधी कार्य सौंपे गये, जैसे कृषि, पशुपालन इत्यादि। वैदिक काल का अन्त होते-होते वैश्य वर्ग ने व्यापार को अपना प्रमुख व्यावसायिक आधार बना लिया एवं यह भी संभावना है कि उत्तर-वैदिक काल में केवल वैश्य ही राजस्व चुकाते थे। ब्राह्मण एवं क्षत्रिय समुदायों का निर्वहन वैश्यों द्वारा चुकाए गये इसी राजस्व से होता था। ऊपरी तीन वर्णों की सामान्य विशेषता यह थी कि वे तीनों उपनयन संस्कार के अधिकारी थे—चौथा वर्ण अथवा शूद्र इस संस्कार के अधिकारी नहीं थे और संभवतः यहीं से शूद्रों को अपात्र या अधिकारहीन मानने की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। वर्णों अथवा सामाजिक समुदायों के इस संघर्ष में राजा, जो राजन्य वर्ग का अगुआ था, अन्य तीनों वर्णो पर अपना प्रभुत्व कायम रखने की निरन्तर चेष्टा करता था। उत्तर वैदिक युग के अन्त में रचित ग्रन्थ ऐतरेयब्राह्मण में यह वर्णित है कि ब्राह्मण जीविका चाहने एवं दान देने वाला है लेकिन राजा अपनी इच्छानुसार उसे हटा सकता

था—वैश्य राजस्व का देनदार है पर राजा जब चाहे उसका दमन कर सकता है। शूद्रों को निम्न स्थान दिया गया है, वह ऊपरी तीनों वर्गों का सेवक है एवं उसका जीवन ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य समुदाय के सदस्यों की इच्छा द्वारा संचालित है। उसे अपने जीवन में दी गयी यातनाओं की क्षतिपूर्ति हेतु कोई प्रक्रिया (mechanism) भी उपलब्ध नहीं थी।

समाज एवं वर्णों के बारे में जानकारी बौद्ध ग्रन्थों में भी उपलब्ध है। यह कि ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्गों में पारस्परिक प्रतिस्पर्धा जोर पकड़ चुकी थी एवं ब्राह्मणों की भाँति क्षत्रिय भी वर्ण विरुद्ध कर्मों का अनुसरण करते थे। **जातकों** में मालाकार, नलकार, कुम्भकार आदि का कार्य करते क्षत्रियों का उल्लेख है। बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में कई बार पहले क्षत्रिय वर्ण का उल्लेख हुआ है एवं बाद में ब्राह्मण वर्ण का।

पारिवारिक स्तर पर पिता के अधिकारों में वृद्धि हुई। वह अपने पुत्र को उत्तराधिकार से वंचित कर सकता था। राजपरिवार में ज्येष्ठाधिकार का प्रचलन स्थापित हो गया था। **'गोत्र'** (Gotra) प्रथा की इसी समय स्थापना हुई, एक नवीन सामाजिक संस्था के रूप में। गोत्र अर्थात **गोष्ठ** वह स्थान है जहाँ समूचे कुल का गोधन पाला जाता था—कालान्तर में इसका अर्थ एक ही मूल पुरुष से उत्पन्न लोगों का समुदाय हो गया। तत्पश्चात् गोत्र-बहिर्विवाह अर्थात अपने से भिन्न गोत्र में विवाह की प्रथा का विस्तार हुआ एवं समगोत्री विवाह **निषिद्ध** (Prohibited) हो गये।

वैदिक काल में आश्रम अर्थात् जीवन के चार प्रक्रम सुप्रतिष्ठित नहीं हुए थे। उत्तर वैदिक काल में रचित ग्रन्थों में चार स्पष्ट आश्रम दिखाई देते है। ब्रह्मचर्य या छात्रावस्था, गार्हस्थ्य या गृहस्थावस्था, वानप्रस्थ या वनवासावस्था एवं संन्यास या सांसारिक जीवन से विरक्तावस्था। संन्यास आश्रम उत्तर वैदिक काल में प्रतिष्ठित नहीं हो पाया, हालाँकि संन्यास अज्ञात नहीं था। गृहस्थ आश्रम ही सभी वर्णों में सामान्यत: प्रचलित था।

सामाजिक संरचना के संदर्भ में एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य है जिसकी जानकारी देना उचित होगा। नियमित जातियों या वर्गों की परिधि के बाहर व्यक्तियों के दो अन्य महत्वपूर्ण समूह भी थे। **'व्रात्य'** (Vratyas) सम्भवत: आर्यो का वह समूह था जो ब्राह्मण प्रभाव क्षेत्र के बाहर था। यह वर्ग ब्राह्मण सम्प्रदाय के नियमों का पालन नहीं करता था, किसी प्राकृत भाषा का प्रयोग करता था एवं मुख्यत: भ्रमणशील जीवन बिताता था। इनका मगधी लोगों से कुछ विशिष्ट जुड़ाव था तथा ये शैव पंथ के अनुयायी थे। इन्हें ब्राह्मण सम्प्रदाय के सदस्य बनने की अनुमति दी जाती थी, कुछ प्रदिष्ट अथवा निर्धारित नियमों तथा धार्मिक कृत्यों के अनुपालन के पश्चात्। ऐसा ही दूसरा समूह **'निषादों'** (Nishadas) का था जो आर्य नहीं थे, अपने पृथक गाँवों में निवास करते थे, उनके अपने शासक थे। इस बात की संभावना प्रबल है कि निषाद आधुनिक **भीलों** (Bhils) के समरूप थे।

स्त्रियों का दर्जा सामान्यत: गिरा। यद्यपि कुछ महिलाओं ने शास्त्रार्थों में भाग लिया एवं कुछ पति के राज्याभिषेक अनुष्ठानों में सम्मिलित थीं पर सामाजिक मापदण्डों पर स्त्रियों का स्तर पुरुषों के अधीनस्थ माना गया। प्रारंभ में महात्मा बुद्ध ने स्त्रियों को संघ प्रवेश की आज्ञा नहीं प्रदान की थी। तदुपरान्त अपने प्रिय शिष्य आनन्द के कहने पर स्त्रियों को संघ प्रवेश की अनुमति दी परन्तु कुछ कठोर प्रतिबन्धों के पालन के पश्चात्। महात्मा बुद्ध का मानना था कि स्त्रियों द्वारा गृहस्थ जीवन का परित्याग तथा गृहविहीन जीवन में प्रवेश धर्म की चिरस्थायी भूमिका को प्रभावित करेगा। बौद्ध साहित्य में स्त्रियों के इन आलोचनात्मक बिन्दुओं के अलावा एक अन्य पहलू भी वर्णित है—वह है सुयोग्य, सुशिक्षित महिलाओं के उदाहरण। भिक्षुणी खेमा (Khema) अपने समय की विदुषी महिला थी, सुभद्रा (Subhadra) का संयुक्त निकाय में उल्लेख है। थेरीगाथा (Therigatha) में बौद्ध भिक्षुणियों द्वारा रचित गीतों का संग्रह है जिसमें प्रमुख है सुमा (Suma), सुमेधा (Sumedha) एवं अनुपमा (Anupama)। वैशाली की प्रसिद्ध गणिका आम्रपाली का इतिहास में अपना स्थान है। जैन-ग्रन्थों में कौशाम्बी नरेश की विदुषी पुत्री जयन्ती का उल्लेख है जिन्होंने महावीर स्वामी से वाद-विवाद किया था।

3.6 आर्थिक व्यवस्था एवं व्यवसाय

गणतांत्रिक काल में जनसंख्या का बड़ा भाग, जिसमें धनाढ्य वर्ग भी सम्मिलित था, मुख्य रूप से गाँवों में ही रहते थे। परन्तु इसका अर्थ यह न था कि लोग नगरीय सुविधाओं से अनभिज्ञ थे। कुछ गाँवों में अपनी भूमि पर कृषि कर्म करने वाले लोगों के स्थान पर जमींदारों का एक वर्ग स्थापित होने लगा जिनके पास सम्पूर्ण गाँव का स्वामित्व आ गया। इस काल में भूमि के हस्तांतरण (travsfer of cavd) को जन-स्वीकार्यता प्राप्त नहीं हुई थी एवं भूमि आबंटन गण के सदस्यों की अनुमति द्वारा ही किये जाते थे। कृषि जीवन-यापन का प्रमुख साधन था जिसे विकसित करने के निरन्तर प्रयास किए जाते थे। इसी समय वंशानुगत व्यापारियों के एक वर्ग का उदय हुआ। आन्तरिक व्यापार के अलावा समुद्र व्यापार भी होता था, विशेषकर बेबीलॉन (Babylon) से। यह शतपथ ब्राह्मण (Satapatha Brahmana) में वर्णित है। विकसित होते वाणिज्य एवं व्यापार के कारण मूल्य की कुछ इकाइयाँ (units of value) भी संचार में आयी जैसे **'निश्क'** (Nishka), **'शतमन'** (Satawava) एवं **'कृष्नल'** (Krishnala) परन्तु इस बात का सन्देह है कि सम्भवत: उपरोक्त इकाइयाँ नियमित मुद्रा (regular coinage) में परिवर्तित न हो पायीं। व्यापारी समुदाय संघों अथवा **निकायों** (guilds) के अंतर्गत संगठित थे जिनके संदर्भ में **'श्रेष्ठी'** शब्द का प्रयोग किया गया है।

कई प्रकार के औद्योगिक व्यवसायों का प्रचलन था एवं इस क्रम में **विशिष्टीकरण** (Specialisation) भी स्थापित हो चुका था, जैसे रथ निर्माण, बढ़ई, तीर निर्माण, चर्मकार (Tanner) एवं फुलकारी (embroidery) इत्यादि।

देश के प्रमुख व्यापारिक केन्द्र मार्गों द्वारा एक दूसरे से जुड़े थे। निश्चित स्थानों पर चुंगी वसूली की जाती थी। स्थल मार्गों के अतिरिक्त जल मार्ग से भी यातायात होता था जिन पर छोटी-बड़ी नौकाओं द्वारा माल ढोया जाता था। रीज़ डेविड्स ने अपनी रचना **बुद्धिस्ट इण्डिया** (Buddhist India) में ऐसे तीन प्रमुख व्यापार मार्गों का उल्लेख किया है—प्रथम मार्ग श्रावस्ती से आरम्भ होकर महिष्मती, उज्जैन, विदिशा, कौशाम्बी और साकेत होता हुआ प्रतिष्ठान जाता था। दूसरा श्रावस्ती से आरम्भ होकर कपिलवस्तु, कुशीनगर, पावा, वैशाली एवं पाटलिपुत्र होकर राजगृह तक जाता था। तीसरा मार्ग गंगा-यमुना जल मार्ग था। इन प्रमुख मार्गों के अलावा अन्य मार्ग भी थे। एक मिथिला से कश्मीर होकर गन्धार तक जाता था, दूसरा राजपूताना से सौवीर प्रदेश को जाता था एवं तीसरा वाराणसी से सुवर्णभूमि को जाता था। व्यापारिक मार्ग सदैव सुरक्षित नहीं होते थे तथा मार्ग में लूटपाट होती थी जिसके कारण व्यापारी सशस्त्र रक्षक रखते थे। पश्चिमी भारत में भरुकच्छ (भड़ौच) और शूर्पारक (सोपारा) विदेशी व्यापार के दो प्रमुख बन्दरगाह थे। व्यापारी एक साथ विस्तृत कारवाँ में चलते थे। इस कारवाँ का नेता **सार्थवाह** कहलाता था।

गणतन्त्रों के समय समाज में कई व्यवसाय प्रचलित थे। जातकों (Jatakas) से ज्ञात होता है कि सूत कातने का कार्य स्त्रियों द्वारा किया जाता था। कपड़ा बुनने वाला **'तन्तुवाय'** कहलाता था। विनयपिटक (Vinaya Pitaka) से ज्ञात होता है कि शिविप्रदेश सूती कपड़े के निर्माण हेतु विख्यात था, गन्धार ऊनी एवं वाराणसी रेशमी कपड़ा निर्माण के प्रमुख केन्द्र थे। आभूषण व्यवसाय भी उन्नत दशा में था। बौद्ध साहित्य में माला, मेखला, कुण्डल, केयूर, चूड़ामणि एवं मुद्रिका आदि आभूषणों का उल्लेख मिलता है। इसी साहित्य में कुछ अन्य व्यवसायों का भी वर्णन मिलता है जैसे वैद्य, ज्योतिष, नट, हस्तिदन्तकार, रजक, नाविक, शिकारी, लेखक, पुरोहित इत्यादि। सभी प्रमुख व्यवसायियों ने अपने-अपने संगठन (**श्रेणी Srenis**) बना लिये थे—प्रत्येक श्रेणी के पृथक नियम थे जिन्हें राज्य अथवा शासकीय मान्यता भी प्राप्त थी। ये श्रेणियाँ संगठन, वस्तु निर्माण, क्रय-विक्रय, लाभ-हानि इत्यादि के संबंध में नियमावली बनाती थीं जिनके उल्लंघन के मामले अपने न्यायालयों में निपटाए जाते थे। श्रेणी के मुखिया को **'जेट्ठक** (Jethaka) कहते थे। जातकों में अट्ठारह श्रेणी समूहों का उल्लेख मिलता है। कालान्तर में श्रेणी सदस्यों के मध्य आपसी संबंध विकसित हुए, मूलत: विवाह संरचना के माध्यम से इसी से व्यावसायिक जातियाँ उत्पन्न हुईं। एक अन्य महत्वपूर्ण विकास था व्यवसायों का स्थानीयकरण—समान व्यवसाय करने वाले एक ही स्थान पर एकत्रित होने लगे। इन स्थानों में व्यवसायियों की अपनी गलियाँ थी जिन्हें **'वीथी'** कहते थे।

3.7 साहित्य एवं शिक्षा

वैदिक काल की समाप्ति पर आर्यों के पास वह विस्तृत साहित्य था जिसका ज्ञान विद्यालयों में दिया गया, मुख्यत: स्मृति (Hemory) के आधार पर। उपनिषदों में वे सूचियां वर्णित है जिनमें उन विषयों का उल्लेख है जिनमें तत्कालीन समाज की शैक्षिक रुचि थी। एक सूची में **'रसि'** (Mathematics), **'निधि'** (Chrouology), **'वकोवक्य'** (Dialectics), **'एकयान'** (Ethics), **'ब्रह्मविद्या'** (Kvowledge of Absolute), **'शास्त्र-विद्या'** (Mititary Sciewle), **'नक्षत्र-विद्या'** (Astrouaury), **'सर्प-विद्यां'** (Science of Snakes) इत्यादि का उल्लेख है। ऐसी ही एक अन्य सूची में **शिक्षा** (Phouetics), **कल्प** (Rituals), **व्याकरण** (grammar), **निरुक्त** (Etymolosy), **छन्द** (Metrics) एवं **ज्योतिष** (Astrovomy) वर्णित है।

वेदों (ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद), **ब्राह्मणों** (Brahmanar), **अरण्यक** (Aranyakas) एवं **उपनिषदों** (Upanishads) के सम्मिलित रूप को **श्रुति** (Revelation) की संज्ञा दी गयी। ब्राह्मणों में प्रार्थना एवं बलि (Sacrfice) की पद्धति, अरण्यक में वन संबंधी मूल पाठ (forest texts) एवं उपनिषदों में गोपनीय सिद्धान्तों (secret doctrives) का उल्लेख है। श्रुति का अर्थ है विभिन्न तथ्यों का रहस्योद्घाटन। इनके अतिरिक्त संयोजनों (Compositions) की एक अन्य श्रेणी है जिन्हें **वेदांग** (Vedavgas) अर्थात वेदों के अंग यां अवयव कहा गया है—ये परम्परा पर आधारित **स्मृतियाँ** (Smrite) हैं, जिनका उद्भव वैदिक पाठशालाओं अर्थात **चारण** (Charanas) में हुआ। इस समय वाराणसी और तक्षशिला शिक्षण केन्द्रों के रूप में विख्यात थे। इन नगरों में आचार्य वेदों एवं अट्ठारह शिल्पों की शिक्षा देते थे। जातकों से ज्ञात होता है कि तक्षशिला में मुख्यत: चिकित्साशास्त्र, धनुर्विद्या, राजविद्या, पशु-भाषा ज्ञान एवं आखेट की शिक्षा प्रदान की जाती थी। विद्यार्थी भी दो प्रकार के होते थे—छात्रावासों में रहकर तथा घरों में रहकर विद्यालय जाने वाले छात्र। आचार्य इस कार्य हेतु अपना पारिश्रमिक (fees) लेते थे। कुछ निर्धन छात्र यह पारिश्रमिक न दे पाने के कारण आचार्य एवं विद्यालय की सेवा करते थे तथा रात्रि में उनसे शिक्षा ग्रहण करते थे। ऐसे विद्यार्थी **धम्मन्तवासिका** (Dhammantavasika) कहलाते थे। शिक्षण संस्थाओं में जीवन पद्धति सरल थी एवं अनुशासन पर बल दिया जाता था। इनको राजकीय सहायता भी मिलती थी परन्तु अधिकांशता इनका वित्तीय अस्तित्व सार्वजनिक दान पर आधारित था एवं आस-पास के निवासी भोजन एवं वस्त्र प्रदान करते थे। कुछ शिक्षण संस्थाएं विशिष्ट अथवा विशेष वर्गों के लिये भी होती थीं जिनमें अभिजात्य वर्ग शिक्षा पाता था। अधिकतर छात्र संख्या ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्गों के छात्रों की होती थी--वैश्य विद्यार्थियों का संख्या सीमित थी। विद्यालयों में प्रधान-आचार्य के अतिरिक्त सहायक आचार्य भी होते थे जिन्हें **पिट्ठी आचार्य** कहा जाता था। कभी-कभी अनुभवी छात्र अर्थात् **जेट्ठन्ते वासिका** भी शिक्षण कार्य में नियमित आचार्यों की सहायता करते थे।

3.8 देवता, अनुष्ठान एवं दर्शन

उत्तर वैदिक काल में उत्तरी दोआब ब्राह्मणों के प्रभाव में आर्य-संस्कृति का केन्द्र स्थल बन गया। संभवत: सम्पूर्ण साहित्य कुरु-पांचालों द्वारा शासित इसी प्रदेश में विकसित हुआ एवं यज्ञ, अनुष्ठान और मन्त्रविधियों का प्रचलन स्थापित हुआ। ऋग्वेद काल के दो सबसे अग्रिम देवता इन्द्र और अग्नि, अब उतने प्रमुख नहीं रहे। उत्तर वैदिक देव मंडल में प्रमुख स्थान सृजन के देवता प्रजापति को दिया गया—प्रजापति के पश्चात रुद्र ने महत्ता पाई। देवताओं के प्रतीक के रूप में कुछ वस्तुओं की भी पूजा प्रचलित हुई। इसी समय मूर्ति पूजा के आरम्भ के आभास प्राप्त होते है। वर्णों में विभक्त समाज में हर वर्ण ने अपने देवता भी पृथक किये—उदाहरणार्थ पूषन, जो पशुओं के रक्षक थे, अब शूद्रों के देवता हो गये। देवताओं की आराधना के भौतिक आधार जो पूर्व में थे इस काल में भी वही रहे। महत्वपूर्ण भेद देव-आराधना की शैली में आया। स्तुतिपाठ पूर्व की भाँति चलते रहे परन्तु अब स्तुति देवताओं को प्रसन्न करने का प्रमुख साधन न रहा। यह प्रमुख साधन अब यज्ञ हो गये जिनके सार्वजनिक एवं घरेलू, दोनों स्वरूप प्रचलित हुए। सार्वजनिक यज्ञ शासक वर्ग अपनी प्रजा के साथ

करते थे जो स्वयं अक्सर एक ही कबीले के सदस्यों की होती थी। निजी यज्ञ व्यक्ति अपने घरों में करते थे क्योंकि अब स्थायी निवासों और नियमित कुटुम्बों का प्रचलन आरम्भ हो गया था। घर का हर प्राणी अग्नि में आहुति देता था एवं यह एक यज्ञ या अनुष्ठान का रूप धारण कर लेता था। अनुष्ठानों द्वारा देवताओं को प्रसन्न करने हेतु पशुबलि का भी प्रचलन बड़े पैमाने पर स्थापित हो गया। यज्ञों में मन्त्रों के उच्चारण की सतर्कता पर बल दिया जाने लगा क्योंकि ऐसी मान्यता थी कि यज्ञों के फल की प्राप्ति इस तथ्य पर निर्भर थी कि मन्त्रों के उच्चारण में शुद्धता थी या नहीं; विशेषकर यज्ञ करने वाले **'यजमान'** का यह उत्तरदायित्व था।

इन समस्त यज्ञों, मन्त्रों का सृजन और विस्तारण पुरोहित वर्ग ने किया जो ब्राह्मण कहलाते थे। शिक्षा के फैलाव एवं उससे प्राप्त ज्ञान एकत्रित होने के कारण ब्राह्मण वर्ग का अनुष्ठान क्षेत्र में लगभग एकाधिकार सा हो गया। उनके द्वारा सम्पन्न अनुष्ठानों में कुछ आर्येतर सम्प्रदाय से भी आये थे। इन अनुष्ठानों का एक आर्थिक पहलू भी था—**दक्षिणा** में साधारणत: गायें, सोना, कपड़े एवं अश्व दिए जाते थे और कभी-कभी कुछ भूमि भी भेंटस्वरूप दी जाती थी। भूमि देने का प्रचलन अभी स्थापित न हुआ था। वैदिक काल के अन्तिम दौर में पुरोहित वर्ग के प्रभुत्व एवं एकाधिकार के विरुद्ध तथा विस्तृत कर्मकाण्डों के विरुद्ध एक प्रबल प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। यह प्रतिक्रिया पंचाल और विदेह के राज्य में हुई, जहाँ 600 ई०पू० के आसपास उपनिषदों का संकलन किया गया था। उपनिषदों में कर्मकाण्ड की निन्दा की गयी तथा **'यथार्थ और प्रत्यक्ष ज्ञान'** (real and Direct Knowledge) को महत्व प्रदान किया गया। ज्ञान अथवा वैयक्तिक आत्मा की अनुभूति एवं सर्वोच्च ब्रह्म के साथ इस आत्मा के संबंध की परम सत्ता के रूप में स्थापना हो गयी। पंचाल और विदेह में अनेक क्षत्रिय राजाओं ने इस शैली के चिन्तन को प्रोत्साहन दिया एवं आवश्यक वातावरण देने का प्रयास किया। राजसत्ता को जिस स्थायित्व की आवश्यकता थी वह इस वातावरण में विकसित हुई—आत्मा एवं ब्रह्म के बीच संबंध की भावना से प्रजा में राजा के प्रति विश्वास जगा। इस क्रम में एक नवीन विकास या प्रदेशाश्रित राज्यों का आरम्भ हुआ। युद्ध अब मात्र सम्पत्ति हथियाने के लिये नहीं, बल्कि राज्यों की भूमि पर कब्जा करने के लिए भी लड़े जाने लगे। क्षेत्रीय विस्तार अब राजा की सफलता का मापदण्ड हो गया। पशुचारण-प्रधान समाज अब कृषि प्रधान व्यवस्था में परिवर्तित हो गया। पूर्व के कबायली पशुचारक अब स्थायी कृषक हो गये एवं राजस्व का भुगतान कर अपने राजा और शासकीय ढाँचे का पोषण करने में समर्थ हो गये। पुरोहित वर्ग को प्रचुर दान-दक्षिण मिलने लगी परन्तु शूद्र समुदाय एक सेवक वर्ग ही बना रहा। समाज में अनुष्ठानों एवं संस्कारों का महत्वपूर्ण स्थान था। प्रमुख संस्कार थे :—

(1) **गर्भाधान** अथवा गर्भागमन हेतु धर्मानुष्ठान (garbhadhana)

(2) **पुंसवन** (Punsavava) अथवा पुत्र प्राप्ति के लिये अनुष्ठान

(3) **सीमन्तोन्नयन** (Simantonnayava) अथवा पति द्वारा गर्भवती पत्नी की केश-सज्जा एवं गर्भ के स्वास्थ्य हेतु भगवान विष्णु की पूजा

(4) **जातकर्म** (Jatakarman) नवजात् शिशु हेतु अनुष्ठान

(5) **नामकरण** (Namakarana) शिशु का नाम रखते समय अनुष्ठान

(6) **अन्नप्रासन** (Annaprasana) शिशु का प्रथम भोजन जो मछली, दही, घी-युक्त चावल इत्यादि का होता था। यह 6 मास पूर्ण होने पर दिया जाता था

(7) **चूड़कर्म** (Chudakarman) अथवा मुण्डन संस्कार

(8) **उपनयन** (Upnayava) अर्थात शिशु को दीक्षित कर प्रारंभिक शिक्षा एवं ब्रह्मचर्य के लिये अनुष्ठान

(9) **समावर्तन** (Samavartana) छात्र अवधि की समाप्ति एवं छात्र द्वारा अपने आचार्य का परिश्रमिक देकर स्नान करना।

(10) **विवाह** (Vivaha) गृहस्थ जीवन का आरम्भ, समान श्रेणी की युवती से विवाह इत्यादि।

इस समय विवाह के कई प्रकार समाज में प्रचलित थे। इनमें प्रमुख थे :—

(1) **ब्रह्म** (Brahma) विवाह—जब एक पिता अपनी पुत्री को वस्त्रों एवं आभूषणों के साथ किसी ऐसे व्यक्ति को सौंपता है जो शिक्षित है, अच्छे आचरण का है एवं जिसके संबंधी भी हैं।

(2) **प्रजापत्य** (Prajapatya) विवाह—लगभग ब्रह्म विवाह के समान एवं जिसमें पति-पत्नी अपने उत्तरदायित्वों का संयुक्त रूप से निर्वहन करते है।

(3) **आर्ष** (Arsha) विवाह—इसमें दूल्हा अपनी होने वाली पत्नी के घरवालों को गाय और बैल भेंट स्वरूप देता है।

(4) **दैव** (Daiva) विवाह—इस विवाह में नव-वधु को किसी पुजारी या पुरोहित को सौंप दिया जाता था। विशेषकर उस पुरोहित को जिसने कोई अनुष्ठान करवाया हो एवं जिसमें बलि दी गयी हो।

(5) **गंधर्व** (Gandharva) विवाह—जब कोई उत्सुक कन्या स्वैच्छिक मिलाप के आधार पर विवाह करती थी।

(6) **असुर** (Asura) विवाह—जब प्रभुत्व स्थापित कन्या के संबंधी पैसे से प्रसादित अथवा संतुष्ट कर दिये जाते थे।

(7) **राक्षस** (Rakahasa) विवाह—जब किसी कन्या का बलपूर्वक विवाह कराया जाता था।

(8) **पैशाच** (Paisacha) विवाह—जब अचेतन अवस्था में कन्या का अपहरण कर उसकी शादी कर दी जाय।

पहले चार विवाह ब्रह्म, प्रजापत्य, आर्ष, दैव विधि सम्मत् (lawful) माने जाते थे। गंधर्व और असुर विवाह को मात्र कुछ लोग ही वैध (Vatid) मानते थे तथा राक्षस और पैशाच विवाहों को सदा घृणित दृष्टि से देखा गया एवं उन्हें कभी समाज द्वारा स्वीकारा नहीं गया।

3.9 ग्राम एवं नगर

अधिकांश जनसंख्या गाँवों में ही बसती थी। पत्थर, मिट्टी, लकड़ी इत्यादि से निर्मित मकानों में सम्मिलित परिवार रहते थे। प्राय: प्रत्येक ग्राम आत्म निर्भर था एवं सहकारिता और वस्तुविनिमय द्वारा जीवन अब अधिक सुविधाजनक हो गया। गाँवों में आपसी झगड़ों का निपटारा पंचायतों में ही हो जाया करता था एवं अपराध कम ही हुआ करते थे। गाँव के चारों ओर चारागाह होते थे जो सम्पूर्ण गाँव की सम्पत्ति समझे जाते थे तथा इनका उपयोग सभी निवासियों के पशु करते थे। चारागाहों के आगे वन होते थे जिनका विस्तार कम होता जा रहा था। उनके स्थान पर जनसंख्या वृद्धि के कारण नई बस्तियाँ बनने लगी। समान व्यवसाय करने वाले बहुधा एक ही गाँव में निवास करते थे।

विभिन्न स्थानों पर नगरों का उदय हो रहा था जहाँ पक्के मकान अधिक होते थे। ये मकान कई मंजिल के भी होते थे। सात मंजिल वाले मकानों को '**सप्तभूमक**' (Saptabhumaka) प्रासाद कहते थे। बड़े मकानों में स्तम्भ, गवाक्ष, वातायन, नालियाँ, कुएँ, पाकशाला, स्नानगृह, शौचालय आदि की पृथक-पृथक व्यवस्था होती थी। दीवारों को अनेक प्रकार के चित्रों से सजाया जाता था। दीर्घ-निकाय नामक रचना में 6 नगरों का उल्लेख मिलता है—

(1) चम्पा

(2) राजगृह

(3) श्रावस्ती

(4) साकेत

(5) कौशाम्बी एवं

(6) वाराणसी

इनके अतिरिक्त बौद्ध साहित्य में मिथिला, वैशाली, पाटलिपुत्र, उज्जैन, साकल, पैठान एवं महिष्मती आदि नगरों का उल्लेख मिलता है। बड़े नगर नियोजित एवं निर्माण योजना के आधार पर बनते थे—कभी-कभी नगर की चारों ओर चहारदीवारी भी होती थी एवं कहीं-कहीं नगर में दुर्ग भी होते थे।

3.10 कृषि एवं खान-पान

तैत्तिरीय उपनिषद् का कथन है **''अन्न बहु कुर्वीत तद् व्रतम्''** अर्थात अधिक मात्रा में अन्न उत्पन्न करना चाहिये। गणतन्त्रों के समय कृषि हल-बैल आधारित थी। अथर्ववेद में वर्णित है कि कभी-कभी हल को 6 से लेकर 12 बैल तक खींचते थे। शतपथ ब्राह्मण जोताई, बोआई, मड़ाई एवं कटाई का उल्लेख करता है एवं अथर्ववेद में उत्पादन या उपज बढ़ाने हेतु खाद के उपयोग का उल्लेख है जो सामान्यत: गोबर या **'शकृत'** अथवा **'करीष'** थी। तैत्तिरीय उपनिषद से वर्ष में दो फसलें पैदा होने की जानकारी प्राप्त होती है। **अथर्ववेद में दो प्रकार के धान का उल्लेख है—व्रीहि** एवं **तण्डुल**। वाजसनेयि संहिता में गोधूम (गेहूँ), यव (जौ), व्रीहि (धान), मुद्ग (मूँग), तिल, मसूर आदि की उपज का वर्णन है।

अनावृष्टि के कारण कृषि को हानि होती थी। अनावृष्टि, कीड़ों टिड्डियों के निराकरण हेतु अथर्ववेद में यन्त्र-मन्त्रों का उल्लेख है। छन्दोग्य उपनिषद् में ऐसे एक दुर्भिक्ष का वर्णन है जिसका कारण टिड्डियाँ थी।

इस काल के साहित्य में **'ओदन'** एवं **'क्षीरौदन'** का उल्लेख है—ओदन किसी वस्तु को दूध में पका कर तैयार किया जाता था एवं क्षीरौदन चावल और दूध द्वारा निर्मित किया जाता था। दूध में पके तिल को **'तिलौदन'** कहा जाता था। **'बृझौदन'** का यज्ञों में प्रयोग किया जाता था एवं मांसाहार हेतु **'मंसौदन'** शब्द प्रयुक्त है। **'अपप'** वह खाद्य था जिसे गेहूँ या जौ के आटे को घी में पका कर बनाया जाता था। गेहूँ, चावल, जौ आदि अन्नों को पीसकर बनाये पदार्थ को **'पिष्ट'** कहते थे। दूध (पयस्), धृत (घी), नवनीत (मक्खन), दधि (दही) इत्यादि के प्रयोग के उल्लेख मिलते है। सुरापान अथवा मदिरापान का चलन था परन्तु अथर्ववेद में मदिरापान की निन्दा की गयी है।

3.11 गणतन्त्रों के पतन के कारण

गणतंत्रीय व्यवस्था कुछ आन्तरिक दुर्बलताओं से प्रभावित थी। मुख्य दुर्बलता यह थी कि गणतंत्र सही अर्थों में गणतंत्र न होकर कुलीनतंत्र थे, जहाँ शासन में जनसाधारण का नहीं अपितु शासकवर्ग का बोलबाला था। जनता की शासन में प्रत्यक्ष भागीदारी सुनिश्चित न थी। इसके अतिरिक्त गणराज्य छोटे थे जिनका सीमित क्षेत्र था। इसके कारण उनके आर्थिक एवं सैनिक साधन भी सीमित थे। कारणवश ये बड़ी शक्तियों का सामना करने में असमर्थ सिद्ध हुए। एक समस्या और थी—इन गणराज्यों में वर्ग-विभागन गहरा हो चुका था जिससे जनता में एकता का अभाव था। उदाहरणार्थ लिच्छवि राज्य। इन सब कारणों से आंतरिक षडयंत्र, विद्वेष, वैमनस्य एवं प्रतिस्पर्धा की भावनाएं व्याप्त हो गईं। धीरे-धीरे साम्राज्यवादी शक्तियों ने इन पर अपना आधिपत्य जमा लिया।

इस वैभवशाली व्यवस्था के पतन के कई कारण थे। इस पतन का आधारभूत कारण था कोसल, वत्स, अवन्ती आदि विस्तारवादी एवं साम्राज्यवादी राज्यों द्वारा आक्रामक नीति को अपनाना। इससे अन्य गणतन्त्रों की हानि हुई। कोसल ने शाक्य राज्य का अन्त कर दिया एवं मगध ने वज्जि संघ का। सिकन्दर का आक्रमण भी पतन की इस प्रक्रिया के लिये उत्तरदायी था। उसके आक्रमण का पंजाब एवं पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त के अनेक गणतन्त्र सफलतापूर्वक सामना नहीं कर पाए। इस सैन्य पराजय के साथ गणतन्त्रात्मक शासन प्रणाली की लोकप्रियता भी कम हो गयी एवं सम्पूर्ण व्यवस्था के रूप में वह क्षीण हो गयी। शासन प्रणाली के कमजोर पड़ने के और भी कारण थे। गणराज्यों में उपलब्ध विचार-स्वतन्त्रता के दुरुपयोग के कारण पारस्परिक कलह को जन्म मिला। हर राज्य में पृथक्-पृथक्

गृह बन गये जो अपने विचारों को स्वीकार कराने पर निरर्थक बल देते थे। संथागर में वाद-विवाद विस्तृत होने के कारण निर्णय देर से लिये जाते थे। इस विलम्ब से शासकीय अनुशासन पर बुरा प्रभाव पड़ा। एक अन्य नकारात्मक पहलू था **पुनरीक्षण** (reoiew) की लम्बी प्रक्रिया जिसके कारण अंतिम निर्णय समयानुसार नहीं लिये जाते थे। विशेषकर, सिकन्दर के आक्रमण के समय मालव और क्षुद्रक उसके विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चे का गठन कर सम्मिलित कार्यवाही करने में असफल रहे—कारण था कि क्षुद्रक समय पर पहुँच न सके। आन्तरिक भेदों का लाभ उठाया गया। अजातशत्रु के मन्त्री वस्सकार ने वज्जियों में फूट डालकर उनका विनाश कर दिया। बहुसंख्यक संथागार के प्रत्यक्ष अधिवेशन में विचार एवं निर्णयों की गोपनीयता संभव न हो पायी।

राजतन्त्रों (Movarchy) की बढ़ती लोकप्रियता ने विकास के क्रम में गणतन्त्रों को प्रभावित किया। आनुवांशिक व्यवस्था को गणतन्त्रात्मक प्रणाली में स्वीकार कर लिया गया एवं उनके प्रधानों ने महाराज एवं महाराजाधिराज जैसी उपाधियों को धारण करना प्रारम्भ कर दिया। प्रधान के निर्वाचन का सिद्धान्त समाप्त हो गया। गणतन्त्रों के पतन का एक कारण विदेशी आक्रमणकारी भी थे—मालवों को नहपान, यौधेयों को रुद्रदामन प्रथम के दमन का सामना करना पड़ा। यौधेयों, मालवों, आर्जुनायनों आदि को निरन्तर कुषाणों का प्रतिरोध करना पड़ा। इन निरन्तर संघर्षों में जन-धन की भारी हानि हुई होगी।

3.12 गणतन्त्र—परवर्ती अवस्था

पूर्वोत्तर भारत के छोटे-छोटे रजवाड़ों और गणराज्यों का विलय धीरे-धीरे मगध साम्राज्य में हो गया। पश्चिमोत्तर भारत में स्थिति सर्वथा भिन्न थी। कम्बोज, गन्धार, और मद्र आदि सदैव आपसी संघर्ष में व्यस्त रहते थे। इस क्षेत्र में मगध के समान कोई शक्तिशाली साम्राज्य भी नहीं था जो अपने में इनका विलय कर इनके संघर्षों का अन्त कर एक संगठित साम्राज्य में परिवर्तित कर सके। ऊपर से यह भू-भाग समृद्ध था एवं हिन्दूकुश श्रृंखला में दर्रों के माध्यम से इनकी सीमा में आसानी से प्रवेश संभव था। जिस समय मगधीय साम्राज्य का विस्तार हो रहा था उसी समय ईरान के इखमनी (Achaemenian) शासक भी अपने राज्य का विस्तार कर रहे थे। पश्चिमोत्तर सीमा पर व्याप्त राजनीतिक फूट का उन्होंने लाभ उठाया। ईरानी शासक दारयवहु (Darius) ने शीघ्र पंजाब, सिन्धु नदी के पश्चिम के भूभाग एवं सिन्ध पर अपना आधिपत्य जमा लिया—यह ईरानी साम्राज्य का बीसवां प्रान्त अर्थात क्षत्रपी बन गया। उसकी इस विजय का वर्णन उसके तीन अभिलेखों द्वारा प्राप्त होता है—**बेहिस्तून** (Behistun), **पर्सिपोलिस** (Persepolis) एवं **नक्श-ऐ-रुसतम** (Naksh-i-Rustam) दारयवहु के पश्चात **क्षयार्ष** (Xerxes) ने यूनानियों के विरुद्ध अपने संघर्ष में भारतीय सेना का प्रयोग किया। प्रसिद्ध इतिहासविद् आर०सी० मजुमदार का मानना है कि दारयवहु एवं क्षयार्ष के साथ युद्ध में शामिल भारतीय किसी सेना नहीं अपितु **भृतिभोगी** (Mercevary) या भाड़े के भारतीय सिपाही थे।

इस पारसीक-भारतीय सम्पर्क के कुछ परिमाण भी निकले जबकि यह संपर्क मात्र बीस वर्षों का ही रहा। इससे भारत एवं ईरान के मध्य व्यापार को बढ़ावा मिला। ईरानी लिपिकारों ने भारत में एक विशिष्ट लिपि विकसित की जो कालान्तर में **'खरोष्ठी'** (Kharoshthi) कहलाई। यह लिपि अरबी की भाँति दाईं से बाईं ओर लिखी जाती है—ई०सा० पूर्व तीसरी सदी में अशोक के कुछ अभिलेख इसी लिपि में लिखे गये है। पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त में ईरानी सिक्के मिलने से आपसी व्यापार होने के संकेत मिलते है। मौर्य वास्तुकला पर ईरानी प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देते है। अशोक कालीन स्मारक, विशेषकर घंटे के आकार के गुँबज (bell shaped capitals) एवं पाटलिपुत्र का बहु-स्तम्भी सभा भवन (Pillared Hall) अशोक के राज्यादेशों की प्रस्तावना एवं उनमें प्रयुक्त शब्दों पर ईरानी प्रभाव स्पष्ट है।

इस ईरान-भारत संपर्क ने भारत के संदर्भ में महत्वपूर्ण जानकारी प्रेषित की जिसका सफल लाभ सिकन्दर ने उठाया। उसने ईरानी सत्ता के सबसे पूर्ववर्ती प्रान्त बल्ख (Balkh or Bactria) को

हराकर भारत के विरुद्ध सैन्य कार्यवाही हेतु उसे एक अग्रिम चौकी बनाया। सिकन्दर इतिहास के पिता हीरोदोतस (Herodotus) एवं अन्य यूनानी लेखकों के उन उल्लेखों के से प्रभावित था जिनमें भारत का भव्य प्रदर्शन किया गया था। पश्चिमोत्तर भारत में स्थिति उपयुक्त थी। सम्पूर्ण क्षेत्र छोटी-छोटी कबायली व्यवस्थाओं में बँटा हुआ था एवं दो प्रमुख सत्ताओं, तक्षशिला के राजा अम्भि तथा पोरस, सिकन्दर के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा नहीं बना पाये। सिकन्दर उन्नीस महीने भारत में रहा। अधिकांश विजित राज्य उनके शासकों को लौटा दिये गये, अधीनता स्वीकार करने पर। अपने भू-भाग को उसने तीन भागों में बाँटा एवं शासन हेतु तीन यूनानी गवर्नरों (स्थानीय शासक) को सौंप दिया।

सिकन्दर का अभियान सफल रहा। भारत यूनान के मध्य संपर्क मार्ग खुल गये। कई स्थल मार्गों एवं जल मार्गों के द्वारा खुल गये जिसके कारण कालान्तर में व्यापार का विकास हुआ एवं तत्कालीन सुविधाएं बढ़ीं।

सिकन्दर के आक्रमण के फलस्वरूप पश्चिमोत्तर इलाके में यूनानी उपनिवेश स्थापित हुआ। इनमें काबुल, झेलम तट एवं सिन्ध महत्वपूर्ण थे। बाद में मौर्य शासकों ने इन क्षेत्रों पर विजय प्राप्त की पर उन उपनिवेशों का अन्त नहीं किया। यूनानी भारतीय संपर्क ने गन्धार चित्र कला एवं भारतीय नक्षत्र विज्ञान पर गहरा प्रभाव डाला।

3.13 सारांश

इतिहास के क्रम में जनों का एक विशिष्ट स्थान है। इनका उदय उस समय हुआ जब स्थापित राजतंत्रों का प्रचलन था एवं यही तत्कालीन शासकीय व्यवस्था का प्रारूप था। राजतंत्रों की व्याप्त व्यवस्था के विपरीत जनों का लोकतांत्रिक गठन प्राचीन भारतीय इतिहास में एक महत्वपूर्ण विकास था। प्रधान का चुनाव द्वारा नियुक्त किया जाना एवं प्रशासनिक संचालन में निर्णयों का पुनरीक्षण उस समय के संदर्भ में क्रान्तिकारी कदम थे। इन जनों ने समुचित विकास किया एवं प्रायः सभी क्षेत्रों में अपनी विशिष्ट छाप छोड़ी। राजनीतिक संगठन, शासन प्रणाली, सामाजिक व्यवस्था, व्यवसाय, साहित्य, शिक्षा, धर्म, अनुष्ठान, दर्शन, नगरीय व्यवस्था एवं कृषि इत्यादि सभी क्षेत्रों में जनों का महत्वपूर्ण योगदान है। एक कोण से यह जन साम्राज्यवादी शक्तियों के समक्ष एक चुनौती बन गये। एक लम्बे समय तक इन जनों ने अपना विशिष्ट स्थान बनाये रखा, परन्तु कालान्तर में आंतरिक षडयंत्र, विद्वेष, आपसी वैमनस्य एवं अंतहीन प्रतिस्पर्धा ने साम्राज्यवादी शक्तियों को वह अवसर प्रदान किया जिसकी उन्हें प्रतीक्षा थी। अंततः आक्रामक नीतियों एवं जनों की आंतरिक कमियों ने इनके पतन के क्रम का आरम्भ किया।

3.14 उपयोगी पुस्तकें

(1) Ancient India : R.C. Majumdar, Hotlal Bauarsidaos Delhi, 1987

(2) Early History of India : (Late) N.N. Ghosh, Indian Press, Allabad, 1972

(3) The Wonder that was India : A.L. Bhasham, Rupa New Delhi, 1989

(4) प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास : डॉ० विमलचन्द्र पाण्डेय, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाऊस, इलाहाबाद, 2000

(5) A History of India : Rouila Thapar, Pengmi Books, 1987, Delhi

(6) A History of India : K. Avtovoua, Bavgard Iwou, G. Kotovsky, Progess Poblshers, Moscow, 1979

(7) An Advanced History of India : R.C. Majumdar, H.C. Raychavdhri, & Kali Kin Kdar Datta, Macnillav, 1988

(8) प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास : ओम प्रकाश, मैकमिलन इंडिया 1982

(9) भारतीय राजनीतिक चिन्तन : डॉ० गोविनद प्रसाद शर्मा, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1997

(10) प्राचीन भारतीय शासन पद्धति : प्रो० अनंत सदिशिव अलतेकर, विश्वविद्यालय प्रकाशन. वाराणसी, 2003

(11) Theory of Government in Ancient India : Prof. Beni Prasad

3.15 सम्बन्धित प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न :

1. पाली साहित्य में किन प्रमुख गणों का उल्लेख मिलता है।
2. 'संथागार' को परिभाषित करें।
3. प्रमुख यज्ञों के नाम बताएं।
4. गणतान्त्रिक एवं राजतंत्र व्यवस्थाओं में प्रमुख अन्तर क्या है?
5. 'पंचजन' शब्द की परिभाषा दीजिएं?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

1. गणराज्यों के पतन के प्रमुख कारण बताएं।
2. गणों की आर्थिक व्यवसथा का वर्णन करें।
3. गणों के सामाजिक संगठन पर प्रकाश डालिए।
4. बौद्धकालीन गणों की लोकतांत्रिक कार्यप्रणाली की प्रमुख विशेषताएं बताइए।
5. लिच्छवि गणराज्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न :

1. ऐतरेय ब्राह्मण में कुलीनतान्त्रिक शासन प्रणाली के लिये कौन सा शब्द प्रयुक्त हुआ है?

(क) अराजक राज्य (ग) वैराज्य

(ख) नृपविहीन राज्य (घ) गणराज्य

2. महात्मा बुद्ध का जन्म निम्न में से किस गणराज्य में हुआ—

(क) को (ग) लिच्छवि

(ख) मोरिय (घ) शाक्य

3. बौद्ध संघों के प्रशासन पर सर्वप्रथम अध्ययन किया—

(क) रीज़ डेविड्स ने (ग) काशी प्रसाद जयसवाल ने

(ख) आर०सी० मजुमदार ने (घ) प्रो० ओल्डेन बर्ग ने

4. निम्न में से किस गणराज्य में सत्ता 7707 परिवारों के पास थी—

(क) शाक्य (ग) मल्ल

(ख) लिच्छवि (घ) चेदि

5. किस वेद में 'सभा' को 'नरिष्ठा' (सामूहिक वाद-विवाद) कहा गया है—

(क) यजुर्वेद (ग) सामवेद

(ख) अथर्ववेद (घ) ऋग्वेद

6. किस वेद में शिक्षित स्त्री पुरुष के विवाह को उपयुक्त माना गया है—

(क) यजुर्वेद (ग) ऋग्वेद

(ख) सामवेद (घ) अथर्ववेद

7. उपनिषदों में 'रसि' शब्द किस विषय हेतु प्रयुक्त किया गया है :—

(क) गणित (ग) शिक्षा

(ख) व्याकरण (घ) इतिहास

8. बौद्ध कालीन गणों में अपराध सिद्ध होने के लिये कितने न्यायालयों की सहमति आवश्यक थी :—

(क) सात (ग) पाँच

(ख) आठ (घ) तीन

9. बाह्लिक, त्रिगर्त्त, पौण्ड्र इस गणों का उल्लेख निम्नलिखित में से किस ग्रन्थ में मिलता है :

(क) अष्टाध्यायी (ग) अर्थशास्त्र

(ख) महाभारत (घ) चुल्लवग्ग

10. गणराज्यों के पतन का कारण थे :—

(क) कुछ गणराज्यों की विस्तारवादी नीति

(ख) पुनरीक्षण (neview) की लम्बी प्रक्रिया

(ग) उत्तर पश्चिम प्रान्त में आपसी फूट

(घ) उपरोक्त सभी

3.16 प्रश्नोत्तर

1. (ग)	2. (घ)	3. (घ)	4. (ख)	5. (ख)
6. (क)	7. (क)	8. (क)	9. (ख)	10.(घ)

इकाई 4 : दक्षिण भारत की राजनीतिक संस्थाएं

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 दक्षिण भारत-संक्षिप्त भौगोलिक एवं एतिहासिक परिचय
4.3 दक्षिण भारत-पुरातात्विक साक्ष्य
4.4 प्रमुख राजवंश-संक्षिप्त पृष्ठभूमि
4.5 संगम युग-समाजार्थिक जीवन एवं राजनीतिक संस्थाओं की शृंखला
4.6 सामाजिक संरचना-प्रमुख वर्ग
4.7 शिक्षा एवं साहित्य-राज संस्थाओं का आधार
4.8 केन्द्रीय शासन, प्रतिनिधि परिषदें
4.9 सैन्य संगठन
4.10 राजस्व व्यवस्था-संस्थाओं के विकास एवं स्थायित्व का आधार
4.11 न्याय एवं दंड विधान
4.12 अधिकारी एवं कार्यालय-संस्थाओं का संचालन
4.13 धार्मिक पुनर्स्थापन
4.14 सारांश
4.15 उपयोगी पुस्तकें
4.16 सम्बन्धित प्रश्न
4.17 प्रश्नोत्तर

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन द्वारा आप जानेंगे—

- दक्षिण भारत का एक संक्षिप्त परिचय,
- विभिन्न राजवंशों की व्यवस्था एवं जीवन के बारे में,
- राजनीतिक संस्थाओं के विकास एवं प्रबंधन के विषय में।

4.1 प्रस्तावना

प्राचीन काल का दक्षिणी भारत दो भागों में विभाजित था। प्रथम दक्षिणापथ अथवा दक्कन (Deccan) जिसमें उत्तर में नर्मदा नदी से लेकर दक्षिण में तुंगभद्रा नदी तक का सम्पूर्ण प्रदेश सम्मिलित था। प्राचीन साहित्य में दक्षिणापथ की सीमा दक्षिण में महिषमण्डल तक बताई गयी है। विस्तृत अर्थ में इस शब्द का प्रयोग विन्ध्य पर्वत तथा दक्षिणी समुद्र (हिन्द महासागर) के बीच स्थित विशाल भूप्रदेश के लिये किया गया है। किन्तु संकुचित अर्थ में दक्षिणपथ की परिधि में सदूर दक्षिण के तमिल राज्यों की गणना नहीं की गयी है।

दूसरा भाग सुदूर दक्षिण से संबंधित था। इस भाग के अंतर्गत तुंगभद्रा नदी के दक्षिण का समस्त भूभाग सम्मिलित था।

दक्षिण भारत में पाषाण युग के बाद दक्कन के पठार तथा सुदूर प्रायद्वीप में महापाषाण संस्कृति का उदय हुआ। एक सीमा तक यह संस्कृति भारत के पूर्वी मध्य तथा उत्तर पश्चिमी क्षेत्रों में भी पाई जाती है, किन्तु दक्षिणी भारत के संदर्भ में इस संस्कृति का विशेष महत्व है। इस संस्कृति के ऐतिहासिक महत्व की दो प्रमुख विशेषताएं हैं—प्रथम, इसका लौह युग से अविरल रुप से जुड़ा होना एवं द्वितीय, काले एवं लाल मृद्भांडों के अविर्भाव से संयुक्त होना। इस युग की पुरातत्व संबंधी वस्तुएं दो प्रकार के स्थलों से प्राप्त होती हैं। प्रथम, आवास स्थल, जहाँ लोगों के निवास थे एवं

दूसरा, कब्रगाह, जो पुरातात्विक सामग्री की प्रचुरता के कारण अधिक महत्वपूर्ण स्थल है।

महापाषाणिक लोग प्रायद्वीप के सारे ऊँचे इलाकों में पाए जाते हैं लेकिन जमाव पूर्वी आन्ध्र और तमिलनाडु में अधिक प्रतीत होता है। उनका आरम्भ लगभग 1000 ई०पू० से माना जाता है। लेकिन कई मामलों में मद्यपाषाण अवस्था ईसा-पूर्व पाँचवी सदी से लेकर ई०पू० पहली सदी तक कायम रही। ईसा सन् के आरम्भ के साथ या संभवत: उससे कुछ पहले ये लोग ऊँची भूमि से उतरकर उर्वर नदी घाटियों में आए और कछारी डेल्टा क्षेत्रों को तोड़कर कृषि योग्य बनाया। बहुत सारे व्यापारी, जैन, बौद्ध और कुछ ब्राह्मण धर्मप्रचारक लोग उत्तर से आकर प्रायद्वीप के छोर तक पहुँचे। इनके साथ आई भौतिक संस्कृति के विभिन्न तत्वों से मद्यपाषाण लोगों का सम्पर्क हुआ। अनेक गाँव, नगर एवं सामाजिक वर्गों का उदय हुआ। एक नवीन संस्कृति की स्थापना हुई।

4.2 दक्षिण भारत-संक्षिप्त भौगोलिक एवं ऐतिहासिक परिचय

प्रसिद्ध जर्मन विचारक ईमैनुअल काण्ट का यह निर्वचन सर्वथा माननीय है कि इतिहास का वास्तविक आधार भूगोल है। किसी विशिष्ट क्षेत्र अथवा देश की ऐतिहासिक गतिविधियाँ वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों से ही निर्धारित एवं सम्पन्न होती हैं। दक्षिण भारत अपनी भौगोलिक बनावट में दक्षिणी इटली की भाँति अपने में स्वतंत्र भौगोलिक इकाई प्रतीत होता है। इसके उत्तरी भाग में विन्ध्य एवं सतपुड़ा पर्वत श्रेणियाँ, पूर्व में बंगाल की खाड़ी, पश्चिम में अरब सागर एवं दक्षिण में हिन्द महासागर की प्राकृतिक अवस्थिति इसके सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन को उत्तर भारत की अपेक्षा भिन्न प्रकृति प्रदान करने में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। दक्षिण के पठार के पूर्व तथा पश्चिम में क्रमश: पूर्वी घाट एवं पश्चिमी घाट की पर्वत श्रेणियाँ विराजमान हैं। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में इन घाटों के उत्तरी भाग को सह्याद्रि एवं दक्षिणी भाग को मलय पर्वत कहा गया है। महानदी, गोदावरी, कृष्णा, पन्ना तथा कावेरी नदियाँ इसी घाट को काटते हुए प्रवाहित होती हैं।

दक्षिण भारत की भौगोलिक सीमा विन्ध्य पर्वत और दक्षिण समुद्र के बीच अनुरेखित की जा सकती है जिसका उल्लेख भरतमुनि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में किया है। (**दक्षिणस्य समुद्रस्य तथा विन्ध्यस्य चान्तरे**) सर्वथा प्रयुक्त शब्द 'दक्कन', दक्षिण का अपभ्रंश है जिसे 'दक्षिण दिशा' के अर्थ में स्वीकारा जा सकता है। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों एवं अभिलेखों में 'दक्षिणापथ' शब्द का उल्लेख मिलता है। महर्षि वाल्मीकि ने रामायण में महाराज दशरथ के विशाल साम्राज्य में उत्तरी भारत के अतिरिक्त सौराष्ट्र, द्रविड़ तथा दक्षिणापथ के देशों का वर्णन किया है। इसी प्रकार महाभारत में सहदेव की दक्षिण भारत की दिग्विजय के संदर्भ में 'दक्षिणापथ' का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। प्रयाग स्थित समुद्रगुप्त के स्तम्भ में प्रशस्तिकार हरिषेण ने 'दक्षिणापथ' का उल्लेख किया है।

महाक्षत्रप रुद्रदमन के गिरनार लेख (संभवत: 120 ई०) में सातवाहन नृपति सातकर्णि को 'दक्षिणापथमति' कहा गया है। बौद्ध जातकों में इसकी पश्चिमी-दक्षिणी सीमा विन्ध्य के समीपस्य अवान्तित्र क्षेत्र स्पष्ट की गयी है। राजशेखर ने अपनी रचना 'काव्य मीमांसा' में महिष्मती के दक्षिण अवस्थित भू-भाग को दक्षिणापथ स्वीकारा है एवं परवर्ती चालुक्य अभिलेखों में नर्मदा से रामेश्वरम् तक फैले भू-क्षेत्र को 'दक्षिणापथम्' कहा गया है। अपनान्तर काल में 'दक्कन' तथा 'दक्षिणापथ' शब्दों का भौगोलिक तात्पर्य विन्ध्य पर्वत के दक्षिण तथा कृष्णा एवं तुंगभद्रा नदियों के उत्तर अवस्थित भू-क्षेत्रों को स्वीकारा गया है। वर्तमान दक्षिण भारतीय इतिहास के अनुशीलन में अब विन्ध्य पर्वत श्रेणियों के दक्षिणी समुद्रपर्यन्त त्रिभुजाकार प्रायद्वीपीय दक्षिण भारत की भौगोलिक सीमाओं को समाहित माना जाता है जिसमें मोटे तौर पर महाराष्ट्र कर्नाटक, केरल, तमिलनाडु, पाण्डिचेरी, गोवा, आन्ध्रप्रदेश तथा उड़ीसा प्रान्त स्थित हैं।

4.3 दक्षिण भारत -पुरातात्विक साक्ष्य

दक्षिण भारतीय इतिहास की संरचना एवं परिज्ञान में पुरातात्विक साक्ष्यों की महत्वपूर्ण भूमिका तथा

योगदान है। इस कार्य में अन्वेषणों एवं सर्वेक्षणों से प्राप्त प्राचीन स्मारकावशेषों, सिक्कों तथा अभिलेखों द्वारा दक्षिणपथ के इतिहास एवं संस्कृति के विविध पहलू उजागर होते हैं। इन ऐतिहासिक साक्ष्यों में अभिलेखों की असाधारण महत्ता है। ये अभिलेख वास्तविक तथ्यों की सम्पुष्टि के साथ-साथ इतिहास के उन अज्ञात बिन्दुओं पर भी प्रकाश डालते हैं जो अभी तक हमारे संज्ञान में नहीं आये हैं। अध्ययन की दृष्टि से इन अभिलेखों को शिलालेख, ताम्रपत्र लेख एवं मुद्रा लेख में विभाजित किया गया है। भारत में शिलालेखों उत्कीर्ण कराने की प्रथा ई०पू० तृतीय शताब्दी से विशेष लोकप्रिय हुई। सम्राट् अशोक द्वारा खुदवाये गये ब्राह्मी लिपि के अनेक शिलालेख दक्षिण भारत के विभिन्न प्रदेशों से प्राप्त हुए हैं जिनमें सिद्धपुर, ब्रह्मगिरि एवं मास्की उल्लेखनीय हैं। चतुर्दश शिलालेखों के दूसरे लेख में अशाके ने चोल, पाण्ड्य, केरलपुत्र एवं सयि (सत्य पुत्र) राज्यों को अपने साम्राज्य की सीमा पर उपस्थित बताया है। उक्त शिलालेख में यह तथ्य उजागर किया गया है कि यद्यपि ये मौर्य प्रशासन के अंतर्गत न होकर स्वतंत्र राज्य थे परन्तु वे देवानांप्रिय (अशोक) के धर्मानुशासन का पालन करते थे।

आन्ध्र सातवाहन राजवंश की सूचनाएं पुराणों में विवृत हैं, तथापि इस राजवंश की प्रामाणिक तिथि, राजाओं की उपलब्धियों, धार्मिक एवं समाजार्थिक जीवन तथा अन्य जीवन धाराओं के सम्यक् परिज्ञान में अभिलेख, जो प्राकृत भाषा में है, अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इनमें प्रमुख हैं नासिक एवं कार्ले की गुफा में गौतमीपुत्र सातकर्णि (संवप्सर 18) का लेख, वसिष्ठीपुत्र पुलभावि का नासिक गुफा (संवत्सर 19) एवं कार्ले गुफा (संवत्सर 24) का लेख, नागरर्जुन कोड में गौतमीपुत्र सातकर्णि का स्तंभ लेख (संवत्सर 6), अमरावती स्तूप में वसिष्ठीपुत्र पुलमावी का लेख इत्यादि।

गुप्तयुगीन दक्षिण भारतीय वाकाटक राजवंश का इतिहास पुराणों से अधिक उनके अभिलेखों से ज्ञात हुआ है। इनमें प्रमुख हैं प्रवरसेन द्वितीय का रिद्धपुर ताम्रपत्र एवं हरिषेण का अजन्ता गुहाभिलेख। प्रभावती गुप्ता का पूना ताम्रपत्र भी महत्वपूर्ण है—जिससे ज्ञात होता है कि इस राजवंश का संस्थापक नरेश विन्ध्य शक्ति था एवं इस वंश की उपलब्धियों पर भी प्रकाश डालता है। कर्नाटक के वातापि के चालुक्य राजवंश के अभिलेख बड़े प्रमाणिक एवं उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इनमें पुलकेशिन द्वितीय के ऐहोल अभिलेख, ब्राह्मी अभिलेख, महाकूट स्तम्भलेख, एवं हैदराबाद दानपत्र लेख महत्वपूर्ण हैं। महाकवि रविकीर्ति द्वारा प्रणीत ऐहोल अभिलेख पुलकेशिन द्वितीय की उपलब्धियों तथा समसामयिक राजवंशों के साथ उसके सम्बन्धों पर प्रकाश डालता है। इसी अभिलेख में मध्य नर्मदा के आस-पास पुलकेशिन-हर्षवर्धन संघर्ष की जानकारी अंकित है जिसमें संभवत: राजा हर्ष की पराजय हुई थी। इसी प्रकार पल्लव, राष्ट्रकूट, वेंगी एवं कल्याणी के चालुक्य एवं चोल राजवंशों की समग्र जानकारी उनके अभिलेखों में वर्णित है।

अभिलेखों की ही तरह दक्षिण भारतीय राजाओं द्वारा प्रचलित सिक्कों की धातुओं, उन पर अंकित तिथियों इत्यादि की सूचनाएं उपलब्ध हैं। उत्तर भारत की भाँति दक्षिण भारत में भी सर्वाधिक प्राचीन आहत-सिक्के (Punchmarked coivs) ही प्रचलित थे। अभिलेखों तथा सिक्कों की ही भाँति दक्षिण भारतीय धातु तथा प्रस्तरमूर्तियों, स्मारकों तथा दुर्गादि अवशेषों से भी तत्कालीन इतिहास का परिज्ञान होता है। सातवाहन युग से लेकर पन्द्रहवीं शती तक प्रादुर्भूत अधिकांश दक्षिण भारतीय राजवंशों एवं शासकों द्वारा निर्मित दुर्गों, नगरों, मन्दिरों, भवनों आदि से तत्युगीन राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक एवं आर्थिक जीवन के संदर्भ में जानकारी प्राप्त होती है।

4.4 प्रमुख राजवंश-संक्षिप्त पृष्ठभूमि

अशोक के आदेशपत्रों में सुदूर दक्षिणी भू-भागों की सूचियां हैं जो उसके साम्राज्य की सीमाओं के बाहर थे—पांड्य, चोल, चेर, सत्यपुत्र एवं केरलपुत्र राज्यक्षेत्र। अशोक के पूर्ववर्ती काल में मेगस्थनीज (Megasthenes) ने अपनी रचना में पांड्य साम्राज्य का उल्लेख किया है जो इस तथ्य का सूचक है कि ईसा पूर्व चौथी शती में वहां पर एक संगठित राज्य विद्यमान था। सिकन्दर के विश्वव्यापी अभियान में शामिल सहयात्री ओनेसीक्रीटस (Onesicritus) ने दक्षिण भारत, यहाँ तक कि श्रीलंका का उल्लेख किया है—विख्यात व्याकरणकर्ता काव्यायन (ईसा०पू० चौथी शताब्दी) एवं

तत्पश्चात् पतंजलि के कृत्यों में दक्षिण भारत का उल्लेख विद्यमान है। उत्तर भारतीय संस्कृति का विस्तार दक्षिण भारत में होना आरम्भ हुआ जिनमें आपस में आर्थिक सहयोग स्थापित था। घटनाओं एवं प्रभावों में गतिवर्द्धन तब हुआ जब दक्षिण भारतीय कुछ हिस्से मौर्य साम्राज्य का भाग हो गए। अर्थशास्त्र में दक्षिण भारतीय मृद्भाण्डों का उल्लेख मिलता है एवं उन व्यापार मार्गों के सम्बन्ध में जानकारी उपलब्ध है जो इस क्षेत्र को विभाजित करते थे। मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् दक्षिण भारत के कुछ क्षेत्रों में जो अभी तक मौर्य राज्य का एक भाग थे, स्वतन्त्रता संघर्ष आरम्भ हो गए। इस संघर्ष में उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई। मौर्योत्तर काल में आन्ध्र सातवाहन, जिसकी स्थापना सिमुक (Simuka) ने की थी, एवं चेदि नरेश खारवेल (Kharavela) का उत्कर्ष संभव हुआ। इसी शृंखला में शामिल प्रमुख राजवंश थे—संगमकालीन चेर, चोल एवं पाण्ड्य राज्य, वातापि एवं वेंगी के चालुक्य, पल्लव, राष्ट्रकूट, कल्याणी के चालुक्य, देवगिरि के यादव, काकतीय, कदम्ब, गंग एवं विजयनगर राज्य।

4.5 संगम युग-समाजार्थिक जीवन एवं राजनीतिक संस्थाओं की शृंखला

दक्षिण भारत के इतिहास पर सर्वाधिक प्रकाश ईसा की तृतीय एवं चतुर्थ शताब्दियों में संकलित संगम साहित्य से पड़ता है। इस साहित्य द्वारा, अध्ययन की दृष्टि से, तत्कालीन समाज की संरचना, आर्थिक विकास एवं स्थायित्व और धार्मिक जीवन पर प्रकाश डाला जा सकता है। संगम (**गोष्ठी परिषद् अथवा संस्थान**) मूलतः बुद्धिजीवी ब्राह्मण कवियों एवं साहित्यकारों का वर्चस्व स्थान था जिसे सर्वप्रथम पाण्ड्य शासनकाल में राजकीय संरक्षण प्राप्त हुआ। तिथि निर्धारण की दृष्टि से, नीलकण्ठ शास्त्री के अनुसार, संगम ग्रन्थों का रचनाकाल, 100 ई० से 300 ई० के मध्य है। श्रीनिवास आयंगर की धारणा है कि संगम साहित्य 500 ई०पू० से 500 ई० के अन्तराल में विकसित हुआ—आयंगर के इस मत से कुछ विद्वान सहमत नहीं हैं। राम शरण शर्मा के अनुसार संगम साहित्य की संरचना तथा उसका संकलन काल ईसा की लगभग तीसरी से छठी शताब्दियों के मध्य रखा जा सकता है। अनुश्रुतियों के आधार पर संगम साहित्य तीन कालों में विभक्त है—जिसमें प्रथम काल खण्ड 4400, द्वितीय 3700 एवं तृतीय खण्ड 1850 वर्ष का माना गया है। राजनीतिक संस्थाओं के विकास की दृष्टि से दक्षिण भारत के इतिहास में दो अवस्थाएं प्रदर्शित हैं—एक ईसा की पहली शताब्दी के निकट का प्रारंभिक इतिहास एवं दूसरी, राजवंशों का विकसित इतिहास। संगमकाल इस पहलू एवं दृष्टिकोण से विकसित है कि इस युग में प्रशासनिक और राजनीतिक संस्थाएं अधिक समृद्ध तथा परिपक्व रूप में दिखाई पड़ती हैं। ऐतिहासिक साक्ष्य भी संगम युग की उपलब्धियों को अधिक प्रचुरता में वर्णित करते हैं। मुख्यतः पल्लव, पाण्ड्य, चालुक्य, राष्ट्रकूट एवं चोल राजवंशों की शृंखला में सर्वाधिक उल्लेखनीय योगदान चोल राजवंश का है, जिसने एक विशाल साम्राज्य के साथ-साथ एक उत्कृष्ट, सुव्यवस्थित शासन प्रणाली का निर्माण किया। चोल व्यवस्था का स्थायित्व एवं उसकी दीर्घजीविता तत्कालीन दक्षिण भारतीय राजनीतिक तथा प्रशासनिक विशिष्टता और प्रतिभा का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

4.6 सामाजिक संरचना-प्रमुख वर्ग

संगम युग का तमिल समाज में वर्ग-विभाजन तो था परन्तु उत्तर-भारतीय चार वर्णों में सामाजिक विभाजन की कोई रूप-रेखा इस काल के तमिल समाज में परिलक्षित नहीं होती एवं चातुर्वर्ण व्यवस्था के स्पष्ट साक्ष्य नहीं मिलते हैं। इस युग में तमिल देश में ब्राह्मण-पुरोहितों का एक नवीन वर्ग उदित हो चुका था। वर्ग के रूप में क्षत्रियों एवं वैश्यों का उल्लेख तमिल संगम साहित्य में उल्लिखित तो नहीं है, परन्तु एक सैनिक वर्ग के संदर्भ में स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। सेना के नायकों को औपचारिक राजकीय आयोजनों द्वारा **'एनाडि'** (Enadi) की उपाधि प्रदान की जाती थी जिससे उन्हें उच्च सामाजिक स्थान उपलब्ध होता था। मोटे तौर पर संगम-कालीन समाज में निम्न पाँच प्रमुख वर्ग सम्मिलित थे—ब्राह्मण, (पुरोहित वर्ग) अरसर (शासक वर्ग), बेनिगर (वाणिक् वर्ग),

वल्लाल (बड़े कृषक) एवं वेल्लालर (श्रमिक कृषक वर्ग)।

ब्राह्मण वर्ग का अविर्भाव प्रथम संगम में ही वैदिक परम्पराओं के पोषक के रूप में हो गया था। इस वर्ग को किसी प्रकार की क्षति पहुँचाना वर्जित था एवं इनको सम्मान प्रदान करना इस काल के शासकों का आदर्श था। पुरोहित दैनिक क्रियाकलापों तथा राजकीय-कार्यों के सम्पादन में मंत्रणा प्रदान करते थे। संगम साहित्य से ज्ञात होता है कि सुदूर दक्षिणपथ में वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान का प्रचलन हो चुका था। विस्तृत यज्ञों के संपादन में अधिक व्यय होता था एवं जिन्हें राजा एवं धनाढ्य वर्ग ही संपन्न कराते थे। इन यज्ञों के प्रचलन तथा इनमें विकसित होती तमिलों की आस्था के फलस्वरूप राजदरबारों एवं संपन्न परिवारों में पुरोहित वर्ग की प्रतिष्ठा की स्थापना हो चुकी थी। राजदरबारों में कवि के रूप में ब्राह्मणों का सहज प्रवेश एक आदर्श बन चुका था। राजा को प्राय: उनके उत्तरदायित्वों अथवा कर्तव्य का बोध ब्राह्मण कविगण ही कराते थे एवं कभी-कभी अनुदार शासक के सामाजिक प्रभाव को क्षीण करने में भी इन कवियों की प्रभावशाली भूमिका रहती थी।

ब्राह्मणों के अतिरिक्त समाज में शासक वर्ग को भी उच्च सामाजिक स्थान प्राप्त था। इस काल में अधिकांश राज्यों में उत्तराधिकार के लिये हुए युद्धों के विवरणों से ज्ञात होता है कि तमिल देश में राज्यों का स्वरूप संभवत: कुलसंघात्मक था। प्राय: किसी विशेष कुल के विभिन्न परिवारों के योग्य एवं सक्षम पुरुष ही राज्य के कार्यों में भाग लेते थे। राजा का परम आदर्श लोकोपकारी कार्यों का सफल निष्पादन एवं न्यायोचित व्यवहार का पालन था। राजा, राज्य एवं समाज का प्रधान पुरुष होता था। वह अपने निर्धारित कार्यों के अतिरिक्त समाज के सांस्कृतिक विकास हेतु प्रयास करता था जिनमें ललित कलाओं को प्रोत्साहन एवं संरक्षण देना भी सम्मिलित था।

एम०जी०एस० नारायणन ने संगम साहित्य में वर्णित लड़ाकू जनजातियों के शासकों के विशिष्ट रीति-रिवाजों का वर्णन किया है, जिनमें 'मरवा' नामक जनजाति थी। इस जनजाति में विशेषकर उल्लेखनीय उनमें प्रचलित 'वेत्ची' प्रथा है—इस प्रथा के अंतर्गत पशुओं की चोरी, सम्पत्ति की लूटमार आदि कर्मों को पूरी छूट होती थी। 'मरवा' जनजाति के युवकों को संगमयुगीन अनेक राजाओं ने अपनी सेना में स्थायी रूप से शामिल कर लिया था। इस वर्ग के सदस्य मुख्यत: सैन्य-कर्मी थे।

सामाजिक संरचना में स्त्रियों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। संगम युग में स्त्री वर्ग के विशिष्ट उल्लेख मिलते हैं। परवर्ती संगम ग्रन्थ मणिमेखला के अनुसार शासक तथा उच्च सामाजिक वर्गों की महिलाओं को नियमित रूप से शिक्षा दी जाती थी। इस पाठ्यक्रम में सम्मिलित थे—नृत्य, लोकनृत्य गायन, वेणु-वादन, चित्रकारी एवं अन्य उपकलाएं। ओवैयर, नच्चेलियर, कण्णगी, कौवलन आदि स्त्रियों की कहानी संगमयुगीन स्त्री की विकसित छवि की पुष्टि करती है। अन्य वर्गों से सम्बन्धित स्त्रियों की दशा इतनी उत्कृष्ट न थी। वे प्राय: गृहकार्य, कृषि एवं सूत कातने का परम्परागत कार्य ही करती थीं। कभी-कभी इस काल के राजाओं के महलों में स्त्रियाँ सशस्त्ररक्षिका के रूप में भी कार्य करती थीं।

शासकवर्ग एवं धनाढ्य लोग प्राय: एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करते थे। संगम ग्रन्थों में प्रेमविवाह का स्पष्ट उल्लेख मिलता है जिसे 'पंचतिणै' संज्ञा दी गयी है। एक पक्षीय प्रणय को 'कैक्किणै' एवं अनुचित प्रणय को 'पेरुन्दिणै' नामों से सम्बोधित किया गया है।

इस युग में विधवाओं की दशा दयनीय थी—विधवा को हरी सब्जी, आभूषण इत्यादि का त्याग करना पड़ता था एवं सर्वथा ठंडे जल से ही स्नान करना पड़ता था।

राजनीतिक संस्थाओं के विकास की श्रृंखला में सामाजिक गठन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। संगम युग से पूर्व दक्षिण भारतीय समाज में ब्राह्मणों अर्थात् पुरोहित वर्ग का अस्तित्व नहीं था—इसी युग में वैदिक परम्परा के पोषक इस वर्ग का अविर्भाव हुआ। शासकीय निर्णयों में ब्राह्मणों के सुझावों का विशेष आदर था एवं समय-समय पर उन्हें स्वर्ण, भूमि, अश्व, गज आदि उपहारों से सम्मानित किया जाता था।

संगम साहित्य में '**वेनिगर**' अर्थात् व्यापारी वर्ग का उल्लेख मिलता है। इस काल के पुहार, तोण्डी, मुशिरी एवं वज्जि आदि नगरों के उत्खनन द्वारा उपलब्ध साक्ष्यों तथा साहित्यिक उल्लेखों से तत्कालीन दक्षिण भारतीय आन्तरिक एवं विदेशी व्यापार की प्रगति का ज्ञान होता है। बन्दरगाहों में विदेशी व्यापारी आकर ठहरते थे। वेनिगरों की तुलना में चेति वर्ग के व्यापारियों का कम महत्व था क्योंकि वे साधारण कोटि के व्यापारी थे एवं साधारण स्तर पर ही व्यापार करते थे। इस काल के अन्य व्यावसायिक वर्गों में पुलैयन (रस्सी बुनकर), शिकारी, कुम्हार, लुहार, स्वर्णकार, बढ़ई एवं गड़रिये सम्मिलित थे, जो जाति निर्धारित पेशों द्वारा जीविका चलाते थे।

संगम काल में सर्वाधिक उल्लेखनीय वर्ग '**वल्लालों**' अथवा कृषकों का था—संगम कालीन काव्य ग्रन्थ 'पुरनानुरु' में संकलित एक कविता से ज्ञात होता है कि वल्लालों का एक वर्ग तत्कालीन समाज में शासक वर्ग के समान महत्वपूर्ण हो गया था एवं वे उच्च सैनिक तथा शासकीय पदों पर नियुक्त किए जाते थे। चोल सेना में उनकी उपाधि '**अरशु**' तथा '**वेल**' एवं पाण्ड्य सेना में '**काविदी**' थी। इसके अतिरिक्त वल्लालों का जो वर्ग अपने मूल पेशे, खेती में संलग्न था, उन्हें '**वल्लालर**' तथा उनके मुखिया वर्ग को '**वल्लिर**' की संज्ञा दी गयी थी। संगम युगीन समाज में विभिन्न वर्गों की सामाजिक स्थिति पर नीलकण्ठ शास्त्री का मत है कि द्रविड़ संस्कृति एवं आर्य संस्कृति के मूलभूत आदर्शों के मध्य सामञ्जस्य स्थापित हो रहा था—उनके अनुसार इस समाज में वैचारिक अथवा सैद्धान्तिक स्तर पर आपसी तनाव नहीं था एवं सभी वर्ग आपसी सामंजस्य द्वारा प्रेरित एक उत्कृष्ट समाज में पृथक् इकाइयों के रूप में क्रियाशील थे। जाति एवं व्यवसाय के बीच जुड़ाव था परन्तु यह अपरिवर्तनशील भी न था। नवीन परिस्थितियों द्वारा प्रेरित परिवर्तन भी समाज में व्याप्त थे।

4.7 शिक्षा एवं साहित्य-राज संस्थाओं का आधार

उपलब्ध संगम साहित्य की रचनाओं की संख्या लगभग 2289 है। इनमें कुछ बड़ी, कुछ छोटी कविताएँ तथा कुछ काव्य हैं। इन सभी की रचना का श्रेय 473 कवियों एवं कुछ कवियित्रियों को दिया गया है। इनमें प्रमुख हैं, तमिल व्याकरण ग्रंथ '**तोल्कापियम**', '**एत्तुतोकै**' अथवा आठ संग्रह, '**पत्तुपत्तु**' अथवा दस गीत, '**पदिनेकिलकण्कु**' अथवा अठ्ठारह लघु गीत। '**तोल्कापियम**' व्याकरण का विस्तृत ग्रंथ है जिसकी रचना सूत्र शैली में हुई है। यह ग्रंथ तीन खंडो में विभक्त है जिसमें विचार, व्युत्पत्ति एवं पदार्थ का वर्णन है। व्याकरण के अतिरिक्त इसमें धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष संबंधी तथ्यों का भी उल्लेख समाहित है। इसके रचनाकार तोल्कापियर अगस्त्य ऋषि के बारह शिष्यों में से एक थे। इस ग्रंथ पर कालान्तर में अनेक टीकाएँ लिखी गयीं।

एत्तुतोकै के अंतर्गत आठ संकलित ग्रंथों का उल्लेख किया जाता है—

(1) नरिणई (Narrivai)

(2) कुरुन्दोगई (Kurundogai)

(3) एंगरुन्नरु (Aingurunuru)

(4) पदिरुपत्तु (Paddirrupathu)

(5) परिपदाल (Paripadal)

(6) कलित्तोगई (Kallitogei)

(7) अहनानुरु (Ahnanuri) एवं

(8) पुरनानुरु (Purovannuva)

इन ग्रंथों में प्रेमविषयक बातों के अतिरिक्त तमिल प्रदेश की भौगोलिक स्थिति, सांस्कृतिक जीवन एवं राजनीतिक महत्व के विषयों का विवेचन किया गया है। पुत्तुपात्तु अथवा दस गीत में भी सांस्कृतिक एवं राजनीतिक जीवन की एक झाँकी मिलती है।

इन दस गीतों के संकलन में निम्न सम्मिलित हैं—

(1) तिरुमुरुकात्रुप्पदै

(2) पेरुम्पनत्रुप्पदै

(3) पत्तिनप्पलै

(4) मदुरैकांचि

(5) पोरुनरात्रुप्पदै

(6) मुल्लैप्पातु

(7) सिरुपानात्रुप्पदै

(8) कुरिन्जिप्पातु एवं

(9) मलैपदुदकाम।

उपरोक्त में अधिकांश गीत चोल एवं पांड्य शासकों को समर्पित हैं, कुछ गीत मुरुगन (कार्तिकेय) की प्रशंसा में हैं, कुछ ग्राम्य जीवन, विदेशी व्यापार एवं राजाओं की प्रशंसा से सम्बन्धित हैं।

राजनीतिक संस्थाओं के समुचित विकास एवं उनके परिरक्षण (Preservation) में शिक्षा तथा उसके द्वारा उत्पन्न बोध की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इस युग में सामान्य शिक्षा की तुलना में संस्कृत में उच्च शिक्षा के संदर्भ में अधिक जानकारी प्राप्त होती है। व्यावसायिक शिक्षा के भी प्रमाण प्राप्त होते हैं जिसका प्रबन्धन परिवार के मुखिया का कार्य होता था। प्रौढ़ शिक्षा मन्दिरों में वृत्तिदान (endowments) द्वारा सम्पन्न की जाती थी। महाकाव्यों एवं पुराणों का प्रतिपादन किया जाता था। हिन्दू मठों के अतिरिक्त जैन 'पल्ली' (Palli) एवं बौद्ध विहार (Vihara) भी शिक्षा के प्रभावी केन्द्र थे। संस्कृत शिक्षा पर मुख्यत: ब्राह्मण वर्ग का एकाधिकार था एवं शिक्षा के साधारण क्रम में अठारह विषयों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है जिसमें आन्वीक्षकी (Philosophy), दण्डनीति (Politics), तर्क (Logic), मीमांसा (exegesis), धर्मशास्त्र (Law), गन्धर्ववेद (Music) इत्यादि प्रमुख थे। कुछ स्थानों पर समष्टि विद्यालयों (corpovate colleges) का भी उल्लेख मिलता है जिन्हें ब्रह्मपुरी (Brahmapuri) एवं घटिका (Ghatika) कहा जाता था एवं जो बेलगाँव, काँची, बाहूर, नगई, त्रिभुवनी एवं ईनाइरम में स्थित थे।

4.8 केन्द्रीय शासन, प्रतिनिधि परिषदें

दक्षिण भारतीय, विशेषकर चोल युगीन शासन व्यवस्था राजतंत्रात्मक थी—सम्पूर्ण व्यवस्था का प्रमुख एवं मूल केन्द्र स्वयं राजा होता था जो सर्वशक्तिमान तथा शासन तन्त्र का सर्वोच्च अधिकारी होता था। राजा को त्रिलोक सम्राट्, चक्रवर्तिगल, उदैयर आदि उपाधियों से विभूषित किया जाता था जो उसकी सार्वभौमिक सत्ता का परिचायक था। संस्थागत रूप में राजा वंशानुगत आधार पर ही सत्ताधिकारी होता था। उत्तराधिकार सम्बन्धी गृहयुद्धों का घटित होना राजवंश में ज्येष्ठ पुत्र की इस सम्बन्ध में प्रचलित परम्परा को दर्शाता है—उत्तराधिकार क्रम में उसी को प्रथम अधिकार प्राप्त थे। युवराज पद का भी प्रचलन था एवं युवराज के मनोनयन के साथ ही उत्तराधिकार के लिए भावी संघर्षों की संभावना क्षीण हो जाती थी। युवराज के अतिरिक्त राज परिवार के अन्य राजकुमारों को महत्वपूर्ण प्रान्तों में शासक के रूप में नियुक्त किया जाता था जिसमें निष्ठा तथा उत्तरदायित्व निर्वहन आवश्यक तत्व थे। राजा सत्ता का सर्वोच्च अधिकारी होता था—वह कार्यपालिका, न्यायपालिका, सामाजिक व्यवस्था एवं धर्मानुष्ठान आदि सभी का प्रथम सूत्रधार होता था। राजा अपने शासकीय उत्तरदायित्वों की सफलता के क्रम में विद्वान ब्राह्मणों से परामर्श लेता था तथा उनको अपने इस सहयोग के लिए समय-समय पर जीविका हेतु भूखण्ड इत्यादि प्रदान किए जाते थे। राजा के प्रशासन सम्बन्धी आदेशों को कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व 'औले' नामक एक विशिष्ट अधिकारी को दिया

जाता था। औले राजा की इच्छानुसार राजकीय आदेश का प्रारूप तैयार करते थे तत्पश्चात् इन आदेशों की जाँच राजा ही द्वारा नियुक्त एक प्रवर समिति के अधिकारी करते थे जिन्हें **'औलनायकम्'** की संज्ञा दी गयी थी। केन्द्रीय प्रशासन के सम्पादन हेतु **'पेरुन्दरम्'** नामक प्रधान कर्मचारी कार्यरत थे एवं इनके अतिरिक्त **'विडैयाधिकारन'** नामक अधिकारी कार्यप्रेषक किरानी के रूप में कार्यसम्पन्न करते थे।

प्रशासनिक क्रम में स्थानीय कार्यालयों के कार्य केन्द्रीय कार्यालयों के अधीन सम्पन्न किए जाते थे एवं राजा स्वयं समय-समय पर विभिन्न शासकीय कार्यों की जाँच हेतु अंचलों में दौरे करता था। चोल शासकों के अभिलेखों में लेखा-विभाग की जाँच के लिए केन्द्रीय प्रशासन द्वारा नियुक्त **'ककाणियों'** नामक अधिकारियों का उल्लेख मिलता है। प्रतिनिधि परिषदों की शृंखला में **'ऊर'** आधारभूत सामान्य ग्राम सभा थी जिसमें ग्राम, पुर या नगर दोनों सम्मिलित होते थे (**'ऊर'** का शाब्दिक तात्पर्य है **'पुर'**)। इसकी कार्यकारिणी समिति को **'आलुंगणम्'** कहा जाता था। ऊर सभा का प्रमुख कार्य अपने प्रतिनिधियों द्वारा आवश्यक दस्तावेजों के मसौदे तैयार कराकर उन्हें लिपिबद्ध करना होता था। कभी-कभी विस्तृत क्षेत्रों के लिए दो ऊर भी होते थे जिनके प्रमुख कार्य भूमि एवं कर (tax) प्रबंधन, लगान की वसूली तथा सार्वजनिक हितों की पूर्ति होते थे। चोल साक्ष्यों में ग्राम सभा अथवा **'पेरुगुरि'** का उल्लेख मिलता है जिनके सदस्यों को **'पेरुमक्कल'** कहते थे जो **'वारियम्'** नामक विभिन्न समितियों में गठित थे। सदस्यों की संख्या को ग्राम प्रशासन की आवश्यकतानुसार घटाया अथवा बढ़ाया जाता था एवं जिनकी सेवाओं हेतु कोई पूर्व निर्धारित पारिश्रमिक निश्चित नहीं था।

'नगरम्' व्यापारी समुदाय की सबसे महत्वपूर्व प्रशासनिक सभा अथवा इकाई थी—विभिन्न व्यापारिक वर्गों, प्रतिष्ठानों तथा उद्योगों पर कर की दरों का निर्धारण तथा वसूली का उत्तरदायित्व नगरम् का ही था जो संग्रहीत धन का उपयोग नगरविकास, यातायात व्यवस्था, बाजार प्रशासन एवं व्यापारिक और औद्योगिक विकास हेतु समय-समय पर कर सकती थी। **'नाडु'** में अनेक ग्रामों का समूह अथवा **'कुर्रम'** समाहित होता था—सम्भवत: नाडु राजस्व सम्बन्धी विशिष्ट अधिकार रखती थी तथा उपर्युक्त ग्राम सभा एवं नगरम् की प्रशासनिक संस्थाओं की गतिविधियों पर भी दृष्टि रखती थी। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नाडु जनपद-प्रशासन की भाँति अपने कार्यों का सम्पादन करती थी। दक्षिण भारतीय राज्य कई प्रान्तों या **'मण्डलम्'** में विभाजित होते थे। इतिहासविद् एम०एन० वेंकटरमनप्पा के अनुसार प्रारम्भिक चोल साक्ष्यों से छह ऐसे मण्डलों की जानकारी मिलती है। इसी क्रम में नीलकण्ठ शास्त्री तथा आर० सथियन अय्यर का मानना है कि चोल सम्राट् राजराज के शासन में आठ या नौ मण्डल थे—श्रीलंका भी इसी शृंखला में एक महत्वपूर्ण मण्डल था। इन मण्डलों का नामकरण शासकों की तत्कालीन उपाधियों के साथ किया जाता था—जैसे अयगोण्डचोलमण्डम्, अधिराजमण्डम् एवं राजराजमण्डम्।

4.9 सैन्य संगठन

राजनीतिक संस्थाओं के अनुरक्षण एवं सम्पोषण की दृष्टि से सेना एवं उसके संगठन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। विशेषकर सत्ता द्वारा अर्जित एवं उत्पन्न लाभ के परिरक्षण के दृष्टिकोण से। राजा सैन्य संगठन का प्रधान होता था एवं सेनाध्यक्ष को **'महादण्डनायक'** की उपाधि से अलंकृत किया जाता था। एक विस्तृत सार्वभौम साम्राज्य की स्थापना संगमयुगीन शासकों की राजनीतिक आकांक्षाओं में सबसे प्रबल थी। दिग्विजय के आदर्श के कारण स्वीकृत युद्धों की निरपेक्ष महत्ता ने उस युग में युद्ध को एक स्पष्ट कला के रूप में विकसित होने का अवसर दिया। शासकों के पास सतत युद्ध तत्पर, प्रशिक्षित सैनिकों से युक्त चतुरंगिणी सेना होने के विस्तृत प्रमाण मिलते हैं। युद्ध घोषणा, संचालन, शिविर स्थापन एवं प्रबंधन की विशिष्ट शैली को विकसित किया गया। चोल थल सेना अनेक दलों में विभक्त थी—**'कुंजिर-मल्लर'** (गजारोही दल), **'कुदिरैच्चैवगर'** (अश्वारोही दल), **'विल्लिगल'** (धनुर्धारी दल), **'शैगुन्दर'** (भाला चलाने में निपुण सैनिक), **'बड़पेर्र-कैककोलस'** (राजा की निजी सुरक्षा में तैनात पदाति दल) राजा के अंगरक्षक विशेष विश्वसनीय व्यक्ति होते थे

जिन्हें **'वेलैक्कार'** कहा जाता था। सेना की यह विभिन्न टुकड़ियाँ अलग-अलग छावनियों **'कडगम'** में रहती थीं।

चोल नरेश राजराज प्रथम एवं राजेन्द्र के शासन काल में नौसैनिक शक्ति का विपुल विस्तार हो चुका था जिसके बल पर लंका तथा दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों एवं द्वीपों पर चोल सत्ता की स्थापना हुई। नौसेना मात्र उपर्युक्त भूमिका तक सीमित नहीं थी—वह व्यापारियों की सुरक्षा भी करती थी जिसके कारण चोल काल में समुद्री व्यापार का समुचित विकास एवं स्थायित्व संभव हो पाया।

4.10 राजस्व व्यवस्था-संस्थाओं के विकास एवं स्थायित्व का आधार

राजस्व अथवा राजकीय आय किसी भी राज्य या देश का सबसे महत्वपूर्ण क्रमिक घटक होती है तथा जिसकी उपलब्धता विकास एवं स्थायित्व को प्रभावित करती है। दक्षिण भारत में कावेरी डेल्टा की उर्वरता के कारण एवं बन्दरगाहों से स्थापित विदेशी व्यापार के कारण कृषि एवं वाणिज्य अत्यन्त समुन्नत दशा में था। कृषि तथा व्यापार-वाणिज्य से प्राप्त कर (tax) राज्य की आय का प्रधान स्रोत थे। आन्तरिक व्यापार के समृद्ध होने के कारण परिवहन शुल्क भी राजकीय आय का महत्वपूर्ण स्रोत था। विजित क्षेत्रों की सम्पत्ति से भी राजकोष में वृद्धि होती थी तथा सिंचाई व्यवस्था पर भी राजकीय कर लगाए जाते थे।

संगम युग के दौरान अर्थव्यवस्था सशक्त किन्तु सरल थी एवं चोल काल तक वह अधिक व्यापक तथा सुनिश्चित हो गयी। नियमित करों में प्रमुख थे भूमिकर, भवनकर, सीमा शुल्क, खानों की उपज, वन-सम्पदा तथा नमक उत्पादन पर कर इत्यादि। केन्द्रीय शासन के अलावा स्थानीय संस्थाएं भी कर वसूलती थीं।

संगम युग के दौरान राजस्व व्यय के मदों के सन्दर्भ में जानकारी अत्यन्त सीमित है परन्तु चोल शासन काल एवं प्रशासन में इसके यथेष्ट साक्ष्य उपस्थित हैं। राजकोष का धन सरकारी कर्मचारियों के वेतन, सेना, नगरों, सड़कों तथा तालाबों इत्यादि के निर्माण पर व्यय होता था—इसके बाद शासक वर्ग अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं पर राजकोष का धन खर्च करता था। इन सब के उपरान्त, शेष धनराशि को मन्दिरों में जमा कर दिया जाता था जिसका प्रयोग राजा की जनहितकारी छवि के अनुरूप संकटकाल तथा विपदा प्रबंधन में किया जाता था।

4.11 न्याय एवं दण्ड विधान

धर्म अथवा औचित्य का आधारभूत प्रतीक है न्याय, जो समाज में धर्म स्थापना का सर्वाधिक महत्वपूर्ण लौकिक साधन होता है एवं जो विभिन्न संस्थाओं का वास्तविक मूल भी होता है। उचित न्याय के अभाव में अनुचित आचरण का विस्तार होता है जिसके कारण समाज में अनिश्चितता, अस्थिरता उत्पन्न होती है एवं आपसी सामाञ्जस्य का सन्तुलन बिगड़ जाता है—इन विचारों से अनुप्रमाणित प्राचीन भारतीय चिन्तन ने न्यायानुशासन को शासक के प्रथम पुनीत कर्तव्य के रूप में प्रतिष्ठित किया एवं न्याय को राजनीतिक संस्थाओं के अनुरक्षण (Preservation) का दायित्व सौंपा।

दक्षिण भारत की न्यायिक व्यवस्था के अंतर्गत दीवानी तथा फौजदारी मामले राजा की सभा **(मनरम्) में निर्णयार्थ भेजे जाते थे। न्याय कर्म की महत्ता एवं संवेदनशीलता के कारण राजा एक** समिति के परामर्श से उसे सम्पन्न करता था। संगमयुगीन न्यायिक प्रणाली का अधिक संस्थागत, प्रजातान्त्रिक तथा मानवीय रूप चोल प्रशासन में प्रदर्शित होता है। स्वशासन की चेतना के समग्र विकास के साथ न्यायपालिका का विकेन्द्रीकरण स्पष्ट रूप से होने लगा था। यद्यपि राजा अभी भी न्याय व्यवस्था के शीर्ष पर विराजमान था परन्तु मुख्य रूप से इस कार्य को निगमों एवं सभाओं जैसी स्वायत्त और विकेन्द्रित संस्थाओं द्वारा सम्पादित किया जाता था। इस क्रम में ग्राम सभा को व्यापक

अधिकार दिए गए थे एवं अपने स्तर पर वही समस्त वादों पर निर्णय देती थी। ग्राम सभा के फैसले से यदि कोई असन्तुष्ट होता था तो उसे नाडु (जिले) की न्यायिक समिति के पास जाने की अनुमति थी। व्यावसायिक निगम एवं स्थानीय संगठन अपनी परिधि के वादों का निस्तारण स्वयं करते थे। अभिलेखों से यह भी ज्ञात होता है कि **'धर्मासन'** (राजा का दरबार) में आए वादों को राजा स्मृति के विद्वानों की सहायता से सुलझाता था। इन विद्वानों को **'धर्मासन्‌भट्ट'** कहा जाता था। इकरारनामों की सुरक्षा हेतु अभिलेखागार उपलब्ध थे। दण्ड व्यवस्था का अधिक मानवीय हो जाना चोल शासन की उत्कृष्ट उपलब्धि थी। अधिकांशतः अर्थदण्ड या मन्दिरों में दीप जलाने का आदेश दिया जाता था एवं मृत्युदण्ड राजद्रोह इत्यादि में ही प्रदान किया जाता था।

4.12 अधिकारी एवं कार्यालय-संस्थाओं का संचालन

संगम काल में स्थापित परम्पराओं के विस्तार के क्रम में, चोल शासकों ने विशेषकर एक विशाल प्रशासकीय तन्त्र निर्मित किया। नीलकण्ठ शास्त्री के अनुसार चोल शासक नीति निर्माण से पूर्व कुछ विशिष्ट पदाधिकारियों से परामर्श लिया करते थे परन्तु ऐसी किसी औपचारिक परामर्शदात्री परिषद् के प्रमाण नहीं उपलब्ध हैं। उनके अनुसार **'उड़नकूहम्'** (अर्थात् सदा प्रस्तुत समूह या जमाव) नामक अधिकारियों का एक समूह राजा के आसपास बना रहता था जो निजी सहायक के रूप में शासक एवं अन्य कर्मचारियों के मध्य सेतु का कार्य करते थे। वे शासक को विभिन्न प्रान्तों के प्रति उसके कर्तव्यों से अवगत कराते थे एवं समबद्ध विभागीय कर्मचारियों को राजा द्वारा अपनाई नीतियों से परिचित कराते थे।

ऐतिहासिक साक्ष्य चोल प्रशासन की कुछ नवीन विशेषताओं को दर्शाते हैं : राज्याधिकारियों तथा कर्मचारियों में भेद स्थापित करने हेतु पृथक् उपाधियों का प्रचलन था एवं अधिकारियों की नियुक्ति के समय वंश का ध्यान रखा जाता था। शास्त्री जी के अनुसार पदोन्नति योग्यता एवं कार्यकुशलता के आधार पर प्राप्त होती थी तथा अधिकारी वर्ग को पारिश्रमिक के रूप में जमीनों की आमदनी प्राप्त होती थी। निम्न श्रेणी के कर्मचारियों को नकद अथवा अन्न वेतन के रूप में मिलता था। चोल शासन प्रणाली में प्रशासन के विशेषीकृत (Specialised) और प्रणालीबद्ध (Systematised) होने के प्रमाण मिलते हैं—उदाहरणस्वरूप कार्यालयों की संरचना तथा कार्यपद्धति, प्रशासनिक इकाइयाँ, न्यायिक प्रक्रिया, कर प्रणाली, सेना एवं स्थानीय शासन की संस्थाएं। चोल अभिलेखों से प्राप्त कुछ अधिकारियों के पदनामों एवं कार्यों के विवरण से कार्यपालिका की कार्यशैली तथा संगठन पर प्रकाश पड़ता है। राजा के आदेशों का कच्चा मसौदा **'ओलै'** नामक अधिकारी तैयार करता था जिसे कहीं-कहीं **'तिरुमन्दिर ओलै'** (मन्दिर का लिपिक) भी कहा गया है। तत्पश्चात् इस मसौदे की जाँच **'ओलैनायगम्'** नामक अधिकारी करता था जिसे राजकीय प्रारूपों तथा प्रथाओं की जानकारी होती थी। इसके पश्चात् स्थानीय संस्थाओं को इन आदेशों से अवगत कराया जाता था। आदेशों को **'श्रीमुखम्'** या **'तिरुमुगम्'** कहा जाता था। राजस्व विभाग के छोटे अधिकारियों को **'मुगवेहि'** एवं **'पहोलै'** नामक संज्ञाएं दी गयी थीं। चोल अभिलेखों में अनेक ऐसे कार्यालयों का उल्लेख मिलता है जो प्रान्तों में केन्द्र सरकार का प्रतिनिधित्व करते थे, जैसे **'शंदुविग्रहम नाडु'**, **'वगै'** तथा **'नाहुक कण्डु काटिच'**—दुर्भाग्यवश इनके कार्यों के सम्बन्ध में जानकारियाँ उपलब्ध नहीं हैं।

4.13 धार्मिक पुर्नस्थापन

संगम साहित्य में वर्णित धार्मिक जीवन की विवेचना से दक्षिण भारत में आर्यों का प्रभाव परिलक्षित होता है। इस काल के धार्मिक जीवन में तमिलों की प्राचीन मान्यताओं के अतिरिक्त आर्यों के धार्मिक विश्वास का समन्वय दिखाई देता है। तमिल भूमि में भी ऋषि अगस्त्य और कौंडिण्य का पर्याप्त प्रभाव था। दक्षिणपथ में वैदिक धर्म के प्रचार प्रसार में इन दोनों की प्रमुख भूमिका थी। मुरुगन (सुब्रमण्य) के अतिरिक्त बलराम, विष्णु (अनंतशैयायी रूपद्ध) एवं शिव (अर्द्धनारीश्वर रुप) की उपासना भी प्रचलित थी। इन प्रमुख देवताओं के अलावा कुछ ग्राम-देवों की पूजा भी की जाती थी।

यद्यपि वैदिक धर्म इस काल का प्रमुख धर्म था, परन्तु मौर्यकाल तक दक्षिण में जैन एवं बौद्ध धर्मों का प्रभाव फैल चुका था। शिलाप्पदिकारम् एवं मणिमेखलै में जैन और बौद्ध धर्म का उल्लेख मिलता है।

दक्षिण भारत में पल्लव राजवंश के उपरान्त शक्तिशाली चोल राजवंश का उदय हुआ जिसके शासन काल में पौराणिक शैव एवं वैष्णव धर्मों का पुनर्जागरण सम्भव हुआ। इन धर्मों के प्रचारक शैव नायनारों तथा वैष्णव आलवारों के धार्मिक गीतों, भजनों एवं प्रवचनों की अलौकिकता के फलस्वरूप दक्षिण भारत में हिन्दू धर्म का पुन:स्थापन इस युग की एक उल्लेखनीय घटना है। चोल शासकों द्वारा अपनाया गया शैव धर्म समाज में सर्वाधिक लोकप्रिय हुआ। इस काल में दार्शनिक ग्रन्थों का लेखन अधिक हुआ जिनमें शैवसिद्धान्तों की व्यापक व्याख्याएं निबद्ध की गयी हैं।

4.14 सारांश

दक्षिण भारतीय व्यवस्था अत्यन्त विकसित एवं वैभवशाली व्यवस्था थी। प्रमुख राजवंशों के संरक्षण में इस संस्कृति के अनेक पहलुओं का समुचित विकास हुआ। इनके शासनकाल के दौरान राजनीतिक संस्थाओं की एक विस्तृत श्रृंखला का उद्घाटन हुआ जिसमें समाज, आर्थिक जीवन, व्यापार, सैन्य शक्ति, शिक्षा, साहित्य, प्रशासन, न्याय प्रक्रिया एवं धर्म इत्यादि सम्मिलित थे। उपरोक्त सभी बिन्दुओं से संबंधित जानकारी इस काल में संकलित एवं रचित ग्रन्थों से प्राप्त होती है जिसमें सबसे प्रबल एवं महत्वपूर्ण स्रोत है संगम साहित्य।

4.15 उपयोगी पुस्तकें

दक्षिण भारत का बृहत् इतिहास : **डा० एच०एन० दुबे**, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2002

प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास : **ओम प्रकाश** नई दिल्ली, 1986

The Wonder that was India : **A.L. Bhasham**, Rupa New Delhi, 1989

Ealy History of India : (Late) **N.N. Ghosh**, Indian Press Pvt Ltd, Allahabad, 1972

An Advanced History of India : **R.C. Majumdar, H.C. Raychavdhri, & Kali Kin Kdar Datta,** Macnillav, 1988

प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास : **विमल चन्द्र पाण्डेय,** सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाऊस, इलाहाबाद, 2000

A History of India : **K. Antonova, G. Bangard fevri, G. Kotovshy,** Progess Publishers, Moscow, 1979

A History of South India : **K.A. Nilakavta Sastri** (Ed), Osford University Press, Madras, 1987

4.16 सम्बन्धित प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. संगमकाल के राजतन्त्रात्मक आदर्श कौन से थे?
2. प्रतिनिधि परिषदों के कार्य बताएं।
3. 'नगरम्' के प्रशासन का संक्षिप्त विवरण दें।

4. 'नाडु' के विषय में आप क्या जानते हैं?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. चोलों के शासन में न्यायिक व्यवस्था की विशेषताएं बताइए।
2. स्थानीय स्वशासन में महासभा के कार्यों का विवरण दीजिए।
3. दक्षिण भारतीय संस्थाओं पर आर्य राजनीतिक प्रभावों पर प्रकाश डालें।
4. चोल कालीन धार्मिक आन्दोलन का वर्णन करें।
5. दक्षिण भारतीय सामाजिक संरचना के प्रमुख वर्गों के बारे में जानकारी दें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. दक्षिण भारत के राज्यों का प्रथम उल्लेख प्राप्त होता है—

   (क) पुराणों से (ग) अशोक के अभिलेखों से

   (ख) राजशेखर की काव्य मीमांसा से (घ) संगम साहित्य से

2. संगम साहित्य निम्नलिखित में से किसे कहते हैं—

   (क) आर्यावर्त एवं दक्षिण भारत का मिश्रित साहित्य

   (ख) प्राचीनतम तमिल साहित्य

   (ग) चालुक्यों, पल्लवों एवं पांड्यों से प्रभावित साहित्य

   (घ) राष्ट्रकूटों तथा चोल राजवंश का संयुक्त साहित्य

3. दक्षिण भारत की राजनीतिक संस्थाओं के निर्माण में सर्वाधिक योगदान निम्न में से किस राजवंश का है—

   (क) चोल राजवंश का (ग) पल्लव राजवंश का

   (ख) चालुक्य राजवंश का (घ) पाण्ड्य राजवंश का

4. चोल शासक उपासक थे—

   (क) वैष्णव धर्म के (ग) ब्राह्मण धर्म के

   (ख) शैव धर्म के (घ) शाश्वत धर्म के

5. चोल शासन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि है—

   (क) स्थानीय स्वशासन (ग) दण्ड विधान

   (ख) न्याय व्यवस्था (घ) समुद्री व्यापार

6. सातवाहन अभिलेखों की भाषा है—

   (क) पाली (ग) प्राकृत

   (ख) संस्कृत (घ) ब्राह्मी

7. सिंहली बौद्ध-काव्य 'महावंश' निम्न में से किस राजवंश पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है—

   (क) पल्लव (ग) राष्ट्रकूट

   (ख) चोल (घ) चेर

8. यूनानी लेखक मेगस्थनीज (Megastheves) द्वारा रचित ग्रन्थ इण्डिका में वर्णित है—

(क) पल्लव राज्य (ग) चालुक्य राज्य

(ख) पाण्ड्य राज्य (घ) काकतीय राज्य

9. 'मत्तविलासप्रहसन' के रचनाकार हैं—

(क) पुलकेशिन द्वितीय (ग) कीर्ति वर्मन

(ख) महेन्द्र वर्मन (घ) विक्रादित्य

10. किस चोल सम्राट् ने तंजौर स्थित विश्वविद्यालय राजराजेश्वर मन्दिर का निर्माण करवाया—

(क) आदित्य प्रथम (ग) राजराज प्रथम

(ख) परान्तक (घ) राजेन्द्र

4.17 प्रश्नोत्तर

1. (ग)	2. (ख)	3. (क)	4. (ख)	5. (अ)
6. (ग)	7. (क)	8. (ख)	9. (ख)	10.(ग)

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय

MAPS – 02

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन

खंड

2

मनुस्मृति में प्रतिपादित राजनीतिक एवं सामाजिक सिद्धान्त

इकाई 5

वर्णाश्रम व्यवस्था 5

इकाई 6

मनुस्मृति में नारी धर्म 15

इकाई 7

राजा, मंत्रिपरिषद् एवं राष्ट्र 21

इकाई 8

कोष, बल एवं मित्र 31

विशेषज्ञ समिति

प्रो. देवेन्द्र प्रताप सिंह — अध्यक्ष
कुलपति
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

डॉ. आर.के. मणि त्रिपाठी — विषय विशेषज्ञ
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर

डॉ. एल.डी. ठाकुर — विषय विशेषज्ञ
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
राजनीतिशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रो. एस.एम. सईद — विषय विशेषज्ञ
राजनीतिशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

डॉ. मंजूलिका श्रीवास्तव — दूरस्थ शिक्षा विशेषज्ञ
रीडर, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

डॉ. आर.के. बसलस — सचिव
कुलसचिव
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

कार्यक्रम संयोजक : डॉ. हरीश चन्द्र जायसवाल, परामर्शदाता, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सम्पादन : प्रो. एस. के. द्विवेदी, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

PGPS-02 :– *प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन*

लेखक मण्डल

खण्ड एक: डॉ. मुकुल अस्थाना, रीडर,राजनीतिशास्त्र विभाग, सेन्ट एन्ड्रूज पी.जी. कालेज, गोरखपुर 2 इकाई
खण्ड एक: डॉ. कार्तिकेय, राजनीतिशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद 2 इकाइ
खण्ड दो: प्रो. राकेश कुमार मिश्र, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ 4 इकाई
खण्ड तीन: डॉ. बी.के. राय, राजनीतिशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद 4 इकाई
खण्ड चार: डॉ. कमल कुमार रीडर, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ 4 इकाई
खण्ड पाँच: डॉ. के.सी. पाण्डेय, राजनीतिशास्त्र विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी 4 इकाई

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य का कोई भी अंश उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुति अनुमन्य नहीं है।

दूरस्थ शिक्षा परिषद, नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित।

खण्ड 2 का परिचय : मनुस्मृति में प्रतिपादित राजनीतिक व सामाजिक सिद्धान्त

इस खंड में मनुस्मृति में प्रतिपादित राजनीतिक एवं सामाजिक विचारों की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। भारतीय राजदर्शन में मनुस्मृति एक महत्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है। वस्तुत: स्मृतिकारों में मनु का स्थान सर्वोपरि है। भारतीय व पाश्चात्य विद्वान् इस बात पर एकमत हैं कि मनुस्मृति विश्व का सर्वप्रथम विधान है। मनु ने जिन राजनीतिक एवं सामाजिक विचारों का प्रतिपादन किया है, उनका मूलाधार वेद हैं। मनुस्मृति के 12 अध्याय हैं जिनमें मानव जीवन के लौकिक एवं पारलौकिक पक्षों का मार्गदर्शन करने के लिए विविध सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं। वस्तुत: मनुस्मृति एक सम्पूर्ण ग्रंथ है जिसमें मानव जीवन के चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए वर्णों, आश्रमों, संस्कारों आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसमें अध्यात्म विद्या का भी विवेचन है, समाज व्यवस्था, राज्य प्रकृतियों और विविध यज्ञों व अनुष्ठानों का भी।

इस खंड की **प्रथम इकाई** में मनु द्वारा प्रतिपादित वर्णाश्रम धर्म की व्याख्या है। मनु ने समाज को चार वर्णों--ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र और जीवन को चार आश्रमों—ब्रह्मचर्य, ग्रहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास में विभाजित किया है और चारों वर्णों व आश्रमों के कर्तव्यों-अकर्तव्यों का विवेचन किया है। मनु ने वर्णाश्रम धर्म को समाज की आधारशिला माना है और इसीलिए राजा का एक प्रमुख दायित्व वर्णाश्रम धर्म की रक्षा माना है।

द्वितीय इकाई में मनु द्वारा प्रतिपादित नारीधर्म की व्याख्या की गयी है। मनु ने नारी को परिवार का केन्द्र बिन्दु माना है और उसको आदर देने का प्रबल समर्थन किया है। मनु ने स्त्री की भूमिका व दायित्व के अनुरूप उसकी शिक्षा को भी बहुत महत्व प्रदान किया है। विवाह की संस्था को मनुस्मृति में बहुत उच्च व पवित्र स्थान प्रदान किया गया है। मनु विवाह को शर्तनामा नहीं मानते, वरन् एक पवित्र व स्थायी बन्धन मानते है जो परिवार व समाज की श्रेष्ठता का आधार है।

तृतीय इकाई में मनु के राजदर्शन के कुछ पक्षों जैसे—राजधर्म की अवधारणा, मंत्रिपरिषद् व राष्ट्र सम्बन्धी विचारों का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। अन्य प्राचीन आचार्यों की भाँति मनु भी राज्य के सात अंग मानते हैं। राजा या स्वामी राज्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग है क्योंकि राजा के स्वरूप पर ही राज्य का स्वरूप निर्भर करता है। मनु ने राजा को अधिकार-सम्पन्न व शक्ति-सम्पन्न तो माना है, पर निरंकुश नहीं। राज-शक्ति साधन है, साध्य नहीं। राजा राज्य का न्यासी है, मालिक नहीं क्योंकि प्रजापालन एवं प्रजारक्षण ही उसका मुख्य धर्म है। राजा धर्म के अधीन है, वह विधि का स्रोत नहीं वरन् प्रशासक व न्यायकर्ता है। राज्य कार्य के संचालन में कुलीन, निस्पृह व बुद्धिमान मंत्रियों से परामर्श करना राजा का कर्तव्य है। मनु ने 'राष्ट्र' को राज्य का महत्वपूर्ण अंग माना है, एवं राज्य के भौगोलिक एवं भौतिक पक्ष पर भी विचार किया है।

चतुर्थ इकाई में राज्य के अन्य अंगो-कोश, बल एवं मित्र का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। मनु ने कर-संग्रह के सिद्धान्तों का भी विवेचन किया है एवं कर के प्रकारों का भी। सैन्य-संगठन का भी संक्षिप्त उल्लेख मनुस्मृति में प्राप्त होता है। 'मित्र' के अन्तर्गत परराष्ट्र नीति का विवेचन किया जाता है। मनु ने मंडल सिद्धान्त के द्वारा राज्य के मित्र, शत्रु, उदासीन व मध्यम देशों के साथ सम्बन्धों पर विचार किया है। गुप्तचरी का संक्षिप्त विवेचन मनुस्मृति में हुआ है। न्याय व दण्ड की व्यवस्था पर मनु के विचारों के वर्णन के साथ द्वितीय खंड का समापन होता है।

इकाई 5. वर्णाश्रम व्यवस्था

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.1.1 ब्राह्मण के धर्म

5.1.2 क्षत्रिय के धर्म

5.1.3 वैश्य के धर्म

5.1.4 शूद्र के धर्म

5.2. आश्रम व्यवस्था-ब्रह्मचर्याश्रम

5.2.1 गृहस्थाश्रम

5.2.2 वानप्रस्थाश्रम

5.2.3 सन्यासाश्रम

5.3 समीक्षा

5.4 सारांश

5.5 उपयोगी पुस्तकें

5.6 संबंधित प्रश्न

5.7 प्रश्नोत्तर

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप मनु की समाज व्यवस्था का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

भारतीय धर्मशास्त्र में स्मृति-ग्रंथों का असाधारण महत्व है। 'मनुस्मृति', 'पराशर स्मृति', 'याज्ञवल्क्य स्मृति', 'शंख स्मृति', 'वशिष्ठ स्मृति' आदि अनेक स्मृति ग्रंथ हमें परम्परा से प्राप्त हैं। मनुष्य को धर्म के स्वरूप से अवगत कराना, सदाचार के नियमों का प्रतिपादन करना और सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था के संचालक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना इन स्मृतियों का प्रधान लक्ष्य है। महर्षि पराशर के अनुसार श्रुति अर्थात वेद एवं स्मृतियाँ ईश्वर की आज्ञाएं हैं और ये विश्व के संचालन हेतु ईश्वर का विधान है। वस्तुत: स्मृतियाँ श्रुति के अर्थ एवं मर्म का ही प्रतिपादन करती हैं और वैदिक धर्म की व्याख्या करती हैं। स्मृतियों का विशाल क्षेत्र है, पर सामान्यत: इनमें तीन प्रधान विषयों का विवेचन किया गया है—आचार, व्यवहार एवं प्रायश्चित्त। आचार के अन्तर्गत चारों वर्णों के कर्तव्यों एवं दायित्वों का विवेचन है। इसी के अन्तर्गत राजा के कर्तव्य, प्रजा के प्रति उसके व्यवहार, दण्ड-विधान आदि का विस्तृत विवेचन है। व्यवहार में न्याय, न्याय निर्धारण की नीति, अपराध व दण्डनीति का विवेचन है, साथ ही सम्पत्ति का विभाजन, स्त्रीधन, कर-ग्रहण की व्यवस्था आदि का भी वर्णन किया गया है। प्रायश्चित्त खंड में धार्मिक व सामाजिक कृत्यों के न करने तथा उनकी अवहेलना करने से जो पाप होते हैं, उनके प्रायश्चित्त का विधान बतलाया गया है।

स्मृतिकारों में मनु का स्थान सर्वोपरि है। मनु मानव-जाति के आदि पिता हैं और सभी क्षेत्रों में मानव-जाति के पथ प्रदर्शक हैं। आचार्यों का मत है कि उनके द्वारा रचित 'मनुस्मृति' विश्व का सर्वप्रथम विधान है। स्मृतियों में मनुस्मृति की प्रधानता है क्योंकि वह वेद के अर्थ को प्रकाशित करती है—

'वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनो:स्मृते:।'

'श्रीमद्भागवत' के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति के लिए ब्रह्मा जी ने अविद्या, माया, सनकादि ऋषि, रुद्र तथा मरीचि आदि दस मानस-पुत्र उत्पन्न किए। इनसे सृष्टि की वृद्धि न देखकर उन्होंने मनु-शतरुपा को उत्पन्न किया। वस्तुत: ब्रह्मा के शरीर के दो भाग हो गए और उनसे प्रकट स्त्री-पुरुष ही मनु-शतरूपा के नाम से विख्यात हुए। स्वयम्भू (ब्रह्मा) से उत्पन्न होने के कारण ये इतिहास में स्वायम्भुव

मनु के नाम से प्रसिद्ध हैं। महाराज मनु ने धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करके धर्मराज्य का आदर्श प्रस्तुत किया।

महाभारत के 'शान्तिपर्व' में लिखा है कि वेदों के गहन विषय को स्पष्ट करने के लिए ब्रह्मा ने अपने मानस-पुत्र मनु को एक लाख श्लोकों में उपदेश दिया। मनु ने इस विस्तृत उपदेश को संक्षिप्त करके मरीचि आदि ऋषियों को जो उपदेश दिया वही 'मनुस्मृति' के रूप में प्रसिद्ध है। 'मनुस्मृति' की महत्ता इसी से स्पष्ट हो जाती है कि 'तैत्तिरीय संहिता' के अनुसार मनु का कथन परम भेषज है—

'मनुवै यत्किंचिदवदत् तद् भेषजं भेषजतायाः।'

'मनु स्मृति' को सम्पूर्ण धर्मशास्त्र माना जाता है। मानव जीवन से सम्बन्धित प्रत्येक विषय का इसमें प्रतिपादन हुआ है। इसके प्रथम अध्याय में विश्व की उत्पत्ति, द्वितीय अध्याय में जातकर्म आदि संस्कार-विधि, तृतीय अध्याय में समावर्तन संस्कार, पंचमहायज्ञ विधि आदि, चतुर्थ अध्याय में गृहस्थ के नियम आदि, पंचम अध्याय में भक्ष्य-अभक्ष्य पदार्थों आदि का, षष्ठ अध्याय में वानप्रस्थ एवं सन्यास आदि का, सप्तम अध्याय में राजधर्म का, अष्टम् एवं नवम् अध्याय में स्त्री-पुरुष के धर्म आदि का, दशम् अध्याय में अनुलोम-प्रतिलोम विवाह आदि का, एकादश अध्याय में प्रायश्चित विधान का, एवं द्वादश अध्याय में मोक्ष एवं आत्म ज्ञान आदि का वर्णन किया गया है।

सृष्टि विद्या

मनुस्मृति का प्रारंभ ब्रह्मतत्व के प्रतिपादन से होता है। जगत् की सृष्टि, स्थित और संहार जिससे होता है उसे ब्रह्म कहा जाता है। मनु ऋषियों को बताते हैं कि प्रलय के समय यह जगत् प्रकृति में लीन हो गया था। प्रलय की समाप्ति के बाद अव्यक्त परमात्मा ने प्रकृति को प्रेरित किया। प्रकृति पंच महाभूतों में परिणत हुई और फिर परमात्मा के संकल्प से विविध प्रकार की प्रजाओं की उत्पत्ति हुई।

सर्वप्रथम जल की सृष्टि हुई जिसमें परमात्मा ने शक्ति-रूप बीज को छोड़ा। परमात्मा की इच्छा से वह बीज सोने की तरह चमकता अंडा बन गया, यही ब्रह्मांड है। उस अंडे में ब्रह्मा एक वर्ष तक रहे। बाद में उन्होंने अपनी इच्छा से इस अंडे के दो टुकड़े कर दिए जिनसे पृथ्वी व स्वर्ग का निर्माण हुआ। उन दोनों के बीच आकाश, आठ दिशाओं व समुद्र की सृष्टि हुई। पृथ्वी आदि लोकों की वृद्धि के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन चार वर्णों की रचना ब्रह्मा के द्वारा की गयी। स्वायम्भुव मनु ने दस प्रजापतियों—मरीचि, आर्य, अंगिरा आदि की सृष्टि की और तपोबल के द्वारा इन दस प्रजापतियों ने जड़ एवं चेतन प्राणियों की सृष्टि की। इस प्रकार मनुस्मृति का प्रारंभ ब्रह्म की मीमांसा एवं ब्रह्मांड की उत्पत्ति के वर्णन से होता है।

वर्णाश्रम धर्म

भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का ढाँचा मनु द्वारा प्रतिपादित वर्णाश्रम धर्म पर प्रतिष्ठित है। बीसवीं सदी के महान दार्शनिक एवं योगी श्री अरविन्द ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'भारतीय संस्कृति के आधार' में लिखा है कि वैदिक संस्कृति ने अपने मूलभाव और जीवन सम्बन्धी अपने विचार को कार्यरूप देने के लिए वर्णाश्रम धर्म की स्थापना की। वर्णाश्रम धर्म का उद्देश्य है-मनुष्य जीवन को पर्याप्त स्वतंत्रता एवं विविधता प्रदान करते हुए उसे एक विधान, धर्म या नियम के अधीन रखना और इस प्रकार उसके लौकिक और आध्यात्मिक कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना। वर्ण-व्यवस्था सामाजिक संगठन का आधार है और आश्रम व्यवस्था मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन को सुव्यस्थित और परिष्कृत करने का माध्यम। मनु का विचार है कि वर्णाश्रम धर्म की स्थापना से केवल व्यक्ति या समाज का ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण सृष्टि का रक्षण एवं उन्नयन होता है।

मनु के अनुसार 'सृष्टि की रक्षा के लिए ब्रह्मा ने अपने मुख, बाहु, उरु (जंघा) एवं पैरों से चारों वर्णों की उत्पत्ति की और उनकी प्रकृति को देखकर उनके लिए पृथक्-पृथक् कर्मों को निर्देश किया।' यहाँ 'गुण' शब्द से आशय प्रकृति के तीन गुणों से है—सत्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण। इन तीन गुणों का मिश्रण होकर चार गुणों का आविर्भाव होता है—शुद्ध सत्व गुण, रजस्सत्वगुण रजस्तमोगुण एवं तमोगुण। इन्हीं चारों गुण विभागों के अनुसार कर्म का विभाजन होता है। अर्थात् जिसमें जिस गुण का प्राधान्य है वह उसी प्रकार के कर्म करने लगता है। उसी गुण एवं कर्म के अनुसार उसकी जाति होती है। यह गुण एवं कर्म पूर्वजन्म के संस्कारों से आते है। क्योंकि पूर्वजन्मों में मनुष्य जिस प्रकार के

कर्म कर चुका है, उसी के अनुसार उसकी प्रकृति बनती है और उसी प्रकृति एवं गुण के अनुसार ही मनुष्यों का आगामी जन्मों में स्थूल शरीर मिलता है, और उसी गुण-कर्म के अनुसार मनुष्य इस जन्म में कर्म करने लगता है। मनु के अनुसार मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र भी है और इसलिए पूर्व कर्मों के ऊपर उन्नति भी कर सकता है। यदि मनुष्य जन्म-जन्मान्तर में उन्नत एवं श्रेष्ठ कर्म करता जाए, तो वह क्रमश: उच्च वर्णों को प्राप्त कर लेगा। इसी प्रकार अधम कर्म करते जाने से वह अधोगति को प्राप्त होता जाता है और उच्च वर्णों से पतित हो निम्न वर्णों में जाता है।

मनु के अनुसार समाज में चार वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होते हैं। ब्राह्मणों के स्वाभाविक कर्म शम, दम, तप, ज्ञान, विज्ञान, शान्ति और सरलता से ओतप्रोत होते हैं। क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म वीरता, तेज, धैर्य, दान भाव आदि से युक्त हाते हैं। वैश्यों के स्वाभाविक कर्म कृषि, गोरक्षा एवं वाणिज्य हैं। सेवा करना शूद्रों का स्वाभाविक धर्म है। मनु का विचार है कि समाज के चतुर्दिक् उन्नयन के लिए आवश्यक है कि श्रेष्ठ बुद्धि, पौरुष, पर्याप्त धन-सम्पत्ति एवं समुचित अवकाश का संयोग हो। विद्या द्वारा समाज में श्रेष्ठ बुद्धि का योगक्षेम करना ब्राह्मण वर्ण का दायित्व है, बल-वीर्य द्वारा समाज में पौरुष बनाए रखना और समाज की रक्षा करना क्षत्रिय वर्ण का कार्य है, धन-सम्पत्ति के द्वारा समाज की समृद्धि को बनाए रखना वैश्य वर्ण का दायित्व है, एवं शारीरिक श्रम द्वारा समाज को गतिशील रखने वाला शूद्र वर्ण है। मनु के अनुसार समाज के आध्यात्मिक, राजनीतिक, आर्थिक विकास के लिए चारों वर्णों में कर्तव्य-निष्ठा एवं पारस्परिक सहयोग एवं सद्‌भाव अति आवश्यक है।

मनुस्मृति में चारों वर्णो के दायित्वों का विस्तृत एवं स्पष्ट निर्देश प्राप्त होता है। चारों वर्णों की मर्यादाएं भी प्रतिपादित की गयी हैं। इनका विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है—

5.1.1 ब्राह्मण के धर्म

मनु ने ब्राह्मण के कर्मों का उल्लेख करते हुए कहा है—

> 'अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
> दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयन्॥'

अर्थात् पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-यज्ञ करवाना, दान देना-दान लेना ये छह कर्म ब्राह्मण के लिए रचे गए हैं। इनमें यज्ञ करना, विद्याध्ययन एवं दान देना ये तीन तो धर्म पालन के लिए हैं और यज्ञ कराना, दान लेना एवं विद्या पढ़ाना ये तीन जीविका उपार्जन के लिए हैं। उक्त छहों कर्मों का निष्काम भाव से पालन करने से ब्राह्मण का कल्याण होता है। इनमें जो दानवृत्ति है वह बिना मांगे यदि अपने आप दान प्राप्तं हो जाए तो वह 'अमृत' के समान है और दान माँग कर उससे निर्वाह करना 'मृत' है अर्थात् निन्दनीय है।

यदि ब्राह्मण का निर्वाह अपने लिए निर्दिष्ट कर्मों से न हो सके तो आपत्तिकाल में वह क्षत्रिय या वैश्य वृत्ति से भी अपना निर्वाह कर सकता है। परन्तु मनु का स्पष्ट निर्देश है कि ब्राह्मण किसी भी दशा में सेवा वृत्ति न अपनाए।

5.1.2 क्षत्रिय का धर्म

मनु स्मृति में क्षत्रिय के कर्म का इस प्रकार निर्देश है—

> 'प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
> विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासत:॥

अर्थात् प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना एवं विषयों में अनासक्ति-ये क्षत्रिय के कर्म हैं। मनु का विचार है कि अपने इन कर्मो को भलीभांति करने के लिए क्षत्रिय में तेज, बल, शौर्य, उद्योग, तितिक्षा, स्थिरता, वेदाध्ययन में रूचि, दानशीलता आदि आन्तरिक गुण होने चाहिए। यदि क्षत्रिय का निर्वाह अपने निर्दिष्ट कर्म से न हो तो आपत्तिकाल में वह वैश्य की वृत्ति अपना कर अपनी आजीविका चला सकता है। परन्तु आपत्तिकाल में भी उसे ब्राह्मण वृत्ति की इच्छा नहीं करनी चाहिए।

5.1.3 वैश्य के धर्म

मनु ने वैश्य के धर्म को इस प्रकार निर्दिष्ट किया है—

> 'पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च
> वणिक्पथम् कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च।'

अर्थात् पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन, व्यापार, ब्याज एवं खेती-ये सब वैश्य के लिए बताए गए कर्म हैं। यदि वैश्य का अपनी वैश्यवृत्ति से निर्वाह न हो सके तो वह आपद्काल में शिल्प आदि का काम कर सकता है अर्थात् शूद्र वर्ण के कार्यों को करते हुए अपना निर्वाह कर सकता है।

5.1.4 शूद्र के धर्म

मनुस्मृति के अनुसार—

> 'एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्
> एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया।'

अर्थात् ईश्वर ने शूद्र को एक ही कर्म करने का आदेश दिया है कि वह इन चारों वर्णों की सेवा-सहायता करे। जो शूद्र सेवा करने में असमर्थ है अथवा जिसके परिवार का निर्वाह सेवा धर्म से नहीं होता, वह कारीगरी (शिल्प) से अपनी जीविका चला सकता है।

मनु का विचार है कि प्रत्येक वर्ण की पूर्णता तभी संभव है जब उसमें जन्म लेने वाला मनुष्य जन्म से, कर्म से एवं ज्ञान से पूर्ण है। अर्थात् पूर्ण ब्राह्मण या पूर्ण क्षत्रिय वही है जो जन्म, कर्म एवं ज्ञान से ब्राह्मण या क्षत्रिय हो। यदि कोई जन्म से ब्राह्मण हो परन्तु कर्म व ज्ञान से न हो, तो वह पूर्ण ब्राह्मण नहीं कहलाएगा। मनु ने कहा भी है—

> 'यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
> यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति।'

अर्थात् जिस प्रकार काठ का हाथी एवं चर्म का मृग नकली है, उसी प्रकार मूर्ख ब्राह्मण भी नाममात्र ब्राह्मण है।

मनु ने वर्णधर्म को बहुत महत्वपूर्ण स्थान दिया है। मनुष्य में विषय-भोग की जो तीव्र वासना है, वर्णधर्म उसको कम करके मनुष्य जाति को गिरने से रोकता है। दूसरी ओर **आश्रम धर्म** प्रवृत्ति से हटाकर निवृत्ति की ओर उन्मुख करके मनुष्य जाति को मोक्ष की ओर अग्रसर करता है। मनुस्मृति में चार आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास का प्रतिपादन किया गया है। वर्ण-व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। वर्ण-व्यवस्था के द्वारा मनुष्य को समाज में उसके धर्म का, दायित्व का बोध कराया जाता है। परन्तु कर्तव्यपालन की यह क्षमता हममें तभी उत्पन्न हो सकेगी जब हमारे मन, बुद्धि एवं शरीर की अनुकूल रचना हो। मन, बुद्धि एवं शरीर की अनुकूल रचना करने में जहाँ जन्म-जन्मांतर के संस्कारों का प्रभाव होता है वहीं वर्तमान जीवन में भी उसके लिए समुचित व्यवस्था बनानी पड़ती है। आश्रम-व्यवस्था का यही लक्ष्य है। मनुष्य की सामान्य आयु के चार भाग किए गए हैं। प्रथम भाग अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में उसकी बुद्धि, मन एवं शरीर को श्रेष्ठ बनाने का प्रयास किया जाता है। द्वितीय भाग अर्थात् गृहस्थाश्रम में उसे अपनी क्षमताओं के द्वारा समाज व देश की सेवा करनी पड़ती है। तृतीय भाग अथवा वानप्रस्थ आश्रम में गृहस्थाश्रम से हटकर समाज के समक्ष नैतिक-आत्मिक मूल्यों को रखता है व सबका मार्गदर्शन करता है। चतुर्थ भाग अर्थात् संन्यास आश्रम में वह ब्रह्म-चिन्तन करते हुए मोक्ष व परमानन्द की ओर अग्रसर होता है। इन चारों आश्रमों का विवेचन निम्नप्रकार से किया जा सकता है—

5.2 आश्रम व्यवस्था-ब्रह्मचर्याश्रम

माता-पिता का यह कर्तव्य है कि पाँच वर्ष का होने के बाद बालक को गुरुकुल में भेज दें अथवा घर

पर ही विद्याभ्यास कराएं। बालक का यह कर्तव्य है कि वह यज्ञोपवीत संस्कार करा कर वेद एवं विद्यांओं का अभ्यास करे। मनु के अनुसार ब्राह्मण का यज्ञोपवीत संस्कार गर्भ से आठवें वर्ष में, क्षत्रिय का गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में और वैश्य का गर्भ से बारहवें वर्ष में करें। यज्ञोपवीत के उपरान्त बालक भिक्षा लाकर पहले गुरु को समर्पित करे और फिर गुरु का दिया गया भोजन स्वयं करे।

नित्यप्रति गुरु को नमस्कार करना, उनकी सेवा करना, उनकी आज्ञा का पालन करना ब्रह्मचारी का धर्म है। उसे पूर्ण तत्परता से विद्या प्राप्त करनी चाहिए। जो बालक बाल्यावस्था में शिक्षा प्राप्त नहीं करता और कुमार्ग पर चलता है उसे सदैव पश्चाताप करना होता है। शिक्षा ग्रहण करना, विद्या का अभ्यास करना, ब्रह्मचर्य का पालन—ये तीनों उसे लोक एवं परलोक दोनों में लाभ प्रदान करते हैं। ब्रह्मचर्य के बिना आयु, बल, बुद्धि, तेज, कीर्ति और यश का विनाश होता है एवं मरने के बाद दुर्गति होती है। विद्या का अर्थ नाना प्रकार की भाषाओं और लिपियों का ज्ञान तथा शिक्षा का अर्थ उत्तम गुण एवं आचरण सीख कर अपने जीवन में उतारना है। ब्रह्मचर्य व्रत का अर्थ है सब प्रकार के मैथुनों का त्याग करना और ब्रह्म के स्वरूप में विचरण करना।

मनु के अनुसार विद्यार्थी को मन को संयमित करने के लिए यम-नियमों का पालन करना चाहिए। वह नित्य स्नान कर एवं शुद्ध होकर देवता, ऋषि एवं पितरों को तर्पण करे ओर अग्निहोत्र करे। मनु ने ब्रह्मचारी को निर्देश दिया है कि वह इन बातों का त्याग कर दे—शहद, माँस, सुगन्धित वस्तु, फूलों के हार, मादक वस्तुएं, प्राणियों की हिंसा, उबटन एवं काजल लगाना, क्रोध एवं लोभ का आचरण, नाचना, गाना, जुँआ, निन्दा, गाली-गलौज, झूठ बोलना, स्त्री को देखना या आलिंगन करना, दूसरों का तिरस्कार।

यदि बालक घर पर रहकर विद्याध्ययन करे तो उसे माता, पिता एवं गुरु की तन-मन से सेवा करनी चाहिए। इनकी सेवा से मनुष्य तीनों लोकों को जीत लेता है। इन तीनों की सेवा को मनु ने परमतप कहा है। इनकी आज्ञा के बिना मनुष्य अन्य किसी धर्म का आचरण न करे। माता पिता की सेवा का महत्व बताते हुए मनु ने लिखा है—

> 'यं माता पितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
> न तस्य निष्कृति: शक्या कर्तुं वर्ष शतैरपि।'

अर्थात् मनुष्य की उत्पत्ति के समय जो क्लेश माता-पिता सहते हैं, उसका बदला सौ वर्षों में भी उनकी सेवा करके नहीं चुकाया जा सकता।

5.2.1 गृहस्थाश्रम

विद्याध्ययन के उपरान्त स्नातक का यह कर्तव्य है कि माता पिता एवं गुरुजनों की आज्ञा के अनुसार उत्तम गुण, लक्षण और आचरण से युक्त कन्या के साथ विवाह करे और माता-पिता गुरुजनों की सेवा करते हुए सदाचार से रहकर अपना जीवन बिताए—

> 'गुरुणानुमत: स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
> उद्वहेत् द्विजो चार्या सवर्णां लक्षणान्विताम्।'

मनु स्मृति में माता-पिता आदि को नित्य नमस्कार करने और उनकी सेवा करने का बहुत महत्व बताया गया है। जो नित्य वृद्धों की सेवा करता है उसके आयु, विद्या, यश और बल—ये चारों बढ़ते हैं। गृहस्थ पुरुष को किस प्रकार जीवन बिताना चाहिए इसका वर्णन मनु इस प्रकार करते हैं—'ब्राह्ममुहूर्त में जागना चाहिए और परब्रह्म परमात्मा का बारंबार चिन्तन करना चाहिए। फिर शैया से उठकर शौचादि आवश्यक कार्य करके स्नान से शुद्ध होकर सूर्योदय से पूर्व प्रात:संध्या और सूर्यास्त से पूर्व सायं-सध्या कर गायत्री जप करना चाहिए।'

इस प्रकार गृहस्थ को नित्यप्रति संध्योपासन, वेदादि शास्त्रों का स्वाध्याय, अतिथियों की सेवा आदि गृहस्थाश्रम के कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। गृहस्थाश्रम में रहते हुए नित्य पाँच प्रकार के पाप होते हैं जिनकी निवृत्ति के लिए पंच महायज्ञों का अनुष्ठान करना चाहिए। ये पंच महायज्ञ इस प्रकार है—वेद पढ़ना-पढ़ाना, ब्रह्मयज्ञ है, श्राद्ध-तर्पण करना पितृयज्ञ है, हवन करना देवयज्ञ है, बलि वैश्य

देव करना भूतयज्ञ है और अतिथियों का पूजन-सत्कार करना मनुष्य यज्ञ है। जो गृहस्थ इन पाँच यज्ञों का यथाशक्ति अनुष्ठान करता हैं वह दोषों से मुक्त रहता है, और जो इन पाँचों को नहीं करता, वह सांस लेता हुआ भी मरे के समान ही है।

गृहस्थों को सत्य और न्यायपूर्वक धनोपार्जन करके देवता; पितरों, मनुष्यों व अन्य प्राणियों की सेवा करनी चाहिए। गृहस्थ सदा अपने कर्तव्य कर्मों में लगा रहे और काम, क्रोध, लोभ, द्वेष, दंभ एवं नास्तिकता आदि दुर्गुणों का परित्याग कर सदा मन-इन्द्रियों को संयम में रखते हुए सदाचार में स्थित रहे। इस प्रकार 50 वर्ष तक अपने गृहस्थ धर्म का निर्वाह करे। मनु के अनुसार सभी आश्रमों में गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ है क्योंकि वही अन्य तीनों आश्रमों का भरण पोषण करता है—

'सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृति विधानत:।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठ: स त्रीनेतान् विभर्ति हि॥'

5.2.2 वानप्रस्थाश्रम

जब गृहस्थ पुरुष की पचास वर्ष की आयु पूरी हो जाय और वह यह देखे कि अब शरीर का चमड़ा ढीला पड़ गया है, केश पक गए हैं, पुत्र के भी पुत्र हो गया है तब वह सम्पूर्ण ग्राम्य आहारों का परित्याग कर व समस्त सामग्रियों को छोड़कर अपनी पत्नी एवं गृहस्थी का सारा भार अपने पुत्रों को देकर वानप्रस्थ आश्रम में जा सकता है। यदि स्त्री की साथ जाने की इच्छा हो तो वह भी जा सकती है। किन्तु वहाँ स्त्री पुरुष दोनों ब्रह्मचर्य का पालन करें। वह पवित्र मृग चर्म या वस्त्र धारण करे, प्रात: काल, मध्याह्नकाल और सायंकाल-तीनों समय स्नान करे। जो खाने योग्य पदार्थ हो उनमें से ही बलिवैश्य करे, अपनी शक्ति के अनुसार भिक्षा दे, आश्रम में आए अभ्यागतों का जल, मूल, फल से सत्कार करे। नित्य वेदादि शास्त्रों के अध्ययन में लगा रहे, सब में मैत्रीभाव रखे, सदा दान दे पर प्रतिग्रह न ले और सब प्रणियों पर दया रखे।

वानप्रस्थी द्विज यम नियमों का पालन करते हुए पंच महायज्ञों का अनुष्ठान करता रहे, पूर्णिमा, अमावस्या एवं चान्द्रायण आदि व्रतों का पालन करे और अपने आप पृथ्वी या जल में उत्पन्न कंदमूल, फलफूल, शाक आदि से जीवन का निर्वाह करे। वह मधु-माँस का सेवन कभी न करे। एक ही दिन के लिए अथवा एकमास अथवा छ: माह अथवा एक वर्ष के निर्वाह के लिए अन्न का संचय करे। वह भूमि पर शयन करे और अपने तप को निरन्तर बढ़ाता रहे। ग्रीष्म, वर्षा और शीत ऋतु पर तप एवं साधना के द्वारा विजय प्राप्त करे। सुख देने वाले पदार्थों में लिप्त होने का यत्न न करे। आवश्यकता पड़ने पर वृक्ष की जड़ में निवास करे। अपनी जीविका के निर्वाह के लिए वह भिक्षा ले सकता है।

इस प्रकार वानप्रस्थी को वन में रहकर इस आश्रम के सब नियमों का पालन करना चाहिए एवं आत्मज्ञान की सिद्धि के लिए उपनिषद् की विभिन्न श्रुतियों का अभ्यास करना चाहिए।

5.2.3 संन्यास आश्रम

इस प्रकार आयु के तीसरे भाग (50 वर्ष से 75 वर्ष) को वन में व्यतीत करके आयु के चतुर्थ भाग में संन्यास ग्रहण करने का विधान मनुस्मृति में प्रतिपादित है। सन्यास का आशय यह है कि 75 वर्ष का हो जाने पर यज्ञ आदि सम्पूर्ण कर्मों का, धर्मपत्नी का और शिखा-सूत्र का त्याग कर देना चाहिए और प्राणिमात्र को अभयदान देकर संन्यास ले लेना चाहिए। मनु जी का कथन है—

'यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्य: प्रवृजत्यभयं गृहात्,
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिन:।
यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम्,
तस्य देहाद् विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन॥

संन्यासी का कर्तव्य है कि वह अकेला ही विचरण करे और चातुर्मास्य के अतिरिक्त तीन दिन से अधिक कहीं न ठहरे। दण्ड, कमंडल, कौपीन आदि के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का संग्रह न करे। परिग्रह के त्याग में ही उसका परम गौरव है। वह कंचन एवं कामिनी का कभी स्पर्श न करे

क्योंकि इनका सर्वथा त्याग ही उसका परम कर्तव्य है। वह शहर में केवल भिक्षा के लिए जाए। वह पूर्ण निस्पृह रहकर, मौन धारण कर ब्रह्मभाव में समाधिस्थ होकर समय बिताए। सन्यासी को आठ पहर में एक बार ही दिन में भोजन करना चाहिए। उसे भिक्षा में आसक्त नहीं हो जाना चाहिए। क्योंकि यदि भिक्षा में उसकी आसक्ति बढ़ गयी तो धीरे-धीरे वह अन्यान्य विषयों में भी आसक्त हो जाएगा। मनु कहते हैं कि सन्यासी को भिक्षा न मिलने पर दु:खी नहीं होना चाहिए और मिल जाने पर हर्षित नहीं होना चाहिए। जितने में प्राणों का निर्वाह हो जाए, उतना ही अन्न मांगना चाहिए।

जहाँ अतिशय आदर-सत्कार हो वहाँ सन्यासी भिक्षा हेतु न जाए क्योंकि अत्यन्त सत्कार से बन्धन हो जाता है। वह यम-नियमों का पूर्णत: पालन करे और अपना जीवन यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि में ही लगाए क्योंकि इनके करने से वह सब पापों से मुक्त हो जाता है। वह न तो मरने की इच्छा करे और न ही जीने की अभिलाषा करे, वरन् जैसे सेवक वेतन पाने के लिए नियत समय की प्रतीक्षा करता है वैसे ही संन्यासी मरणकाल की प्रतीक्षा करे। दूसरे के कटुवचन सह ले परन्तु किसी का अपमान न करे और न ही किसी से वैर करे। मनु के अनुसार इन्द्रियों को वश में करने से, राग-द्वेष के नाश से, सम्पूर्ण प्राणियों की अहिंसा से संन्यासी मोक्ष पाने में समर्थ हो जाता है।

इस प्रकार मनुस्मृति में चारों आश्रम के धर्मों का यथोचित रीति से पालन करने का निर्देश है। ऐसा करने वाले को परमगति प्राप्त होती है—

'सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविता:
यथोक्त कारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम्।'

5.3 समीक्षा

'मनुस्मृति' में प्रतिपादित वर्णाश्रम धर्म वैदिक-संस्कृति का अभिन्न अंग है। वस्तुत: मनुस्मृति में वेद-प्रतिपादित आदर्शों व सिद्धान्तों की ही व्याख्या की गयी है। पाश्चात्य व भारतीय विद्वानों के बीच वर्णाश्रम धर्म की मान्यताओं को लेकर काफी विवाद एवं तर्क-विर्तक चलता आया है। जहाँ एक ओर विलयम आर्चर एवं डा० भीमराव अम्बेडकर जैसे विद्वानों ने मनुस्मृति में प्रतिपादित वर्ण-व्यवस्था को स्वतंत्रता एवं समानता के अधिकारों के विरुद्ध माना है, वहीं सर हेनरी कॉटन, जान उड्रफ, अरविंद घोष एवं बुहलर आदि विद्वानों ने वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था को भारतीय संस्कृति की विशिष्ट देन माना है। कुछ समीक्षकों का यह भी विचार है कि 'वर्ण' शब्द की वैज्ञानिक व्याख्या करने की आवश्यकता है एवं अस्पृश्यता का प्रचलन एक विकृति थी जो कि कालान्तर में अनेक ऐतिहासिक एवं सामाजिक कारणों से उत्पन्न हो गयी।

इस संदर्भ में महान दार्शनिक अरविंद घोष द्वारा रचित प्रसिद्ध पुस्तक 'भारतीय संस्कृति के आधार' का उल्लेख आवश्यक हैं जिसमें उन्होंने वर्णाश्रम धर्म की व्याख्या करते हुए उस पर उठाई जाने वाली आपत्तियों व आलोचनाओं पर भी विचार किया है। उनके विचारों को निम्न रूप से व्यक्त किया जा सकता है—

1. प्राचीन चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का मूल्य उसकी आधुनिक विकृति अर्थात् जातिप्रथा के आधार पर नहीं आँका जा सकता। भारत की वर्ण-व्यवस्था वह वर्ग-प्रणाली भी नहीं थी जिसे हम अन्य सभ्यताओं में पाते हैं। प्राचीन भारतीय विचार यह था कि मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुसार चार प्रकार के होते हैं। इनमें सर्वप्रथम व सर्वोच्च हैं विद्या एवं ज्ञान से सम्पन्न मनुष्य, दूसरा है शक्तिशाली एवं कर्मप्रधान मनुष्य अर्थात शासक, योद्धा, नेता, इस क्रम में तीसरा है आर्थिक मनुष्य अर्थात् उत्पादक और व्यापारी और अन्तिम है शारीरिक श्रम करने में कुशल मनुष्य। भारतीय विचार ने अपने विशुद्ध रूप में इस व्यवस्था के अन्तर्गत मनुष्य की स्थिति केवल जन्म के द्वारा नहीं, वरन् उसकी क्षमताओं और आन्तरिक प्रकृति द्वारा निश्चित की थी और यदि इस नियम का कठोरता से पालन किया गया होता तो एक अद्‌भुत पहचान का सृजन होता। परन्तु अच्छे से अच्छा समाज भी कुछ अंशों में एक मशीन सा

होता है और वह भौतिक चिह्न एवं प्रतिमान की ओर आकृष्ट होता है। क्रियात्मक रूप में हम देखते हैं कि केवल जन्म ही वर्ण का आधार बन गया। अतः जिस प्रबल विशिष्ट गुण ने इस समाज-रचना को अपने ढंग की एक अद्भुत वस्तु बनाया, उसकी खोज हमें कहीं और ही करनी होगी।

2. व्यवस्था के आदर्श सिद्धान्त और उसके स्थूल व्यवहार में सदा ही भेद होता है। कारण यह है कि किसी विचार या व्यवस्था के भौतिक पहलू में उसके अच्छे से अच्छे युग में भी सदैव अपनी कुछ कमजोरियाँ होती है। इस प्रकार की सभी व्यवस्थाएं यंत्रवत् संचालित होने लगती हैं और अपनी मूल पवित्रता को खो बैठती हैं। भारतीय समाज भी इस सर्वसामान्य नियम से नहीं बचा। वह इन त्रुटियों से घिरकर वस्तुओं के उस असली अभिप्राय को खो बैठा जिसे लेकर वह अपने को रूपायित करने चला था। जात-पांत की अस्त-व्यस्तता उसी का परिणाम है।

3. भारतीय वर्ण-व्यवस्था की असली महत्ता आर्थिक कर्तव्यों के सुव्यवस्थित विभाजन में नहीं थी, इसकी सच्ची मौलिकता और इसका स्थायी मूल्य तो उस नैतिक एवं आध्यात्मिक तत्व में था जिसे मनीषियों ने इन रूपों के अन्दर ढाला था। यह आभ्यन्तरिक तत्व इस विचार को लेकर चला था कि व्यक्ति का बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास ही मानव जाति की प्रधान आवश्यकता है। समाज इस विकास के लिए आवश्यक ढांचा मात्र है। वह सम्बन्धों की एक प्रणाली है जो इसे इसका अपेक्षित माध्यम, क्षेत्र और अवस्थाओं का एक केन्द्र प्रदान करती है। वर्ण के निर्धारण में जन्म के साथ मनुष्य की बौद्धिक क्षमता, उसके स्वभाव का रूझान, उसकी नैतिक प्रवृत्ति उसकी आध्यात्मिक उच्चता-ये आवश्यक तत्व है। अतः पारिवारिक जीवन के नियम आत्म-अनुशासन की एक पद्धति, स्वधर्म पालन आदि की स्थापना इन मूल तत्वों को प्रकट एवं गठित करने के लिए की गयी। व्यक्ति को उक्त क्षमताओं और गुणों की सावधानीपूर्वक शिक्षा दी जाती थी और सम्मान एवं कर्तव्य की उस भावना का अभ्यासी बनाया जाता था जो उसके निर्दिष्ट जीवन कार्य की पूर्ति के लिए आवश्यक थी। जो कार्य उसे करना होता था, उसमें सफल होने और अपने कार्य के उच्चतम नियम और पूर्णत्व को प्राप्त करने की सर्वोत्तम पद्धति उसे सतर्कता के साथ सिखायी जाती थी। यहाँ तक कि अत्यन्त जघन्य धन्धों की भी अपनी शिक्षा होती थी, उनका भी अपना नियम एवं विधान होता था, उन्हें अच्छी तरह पूरा करने में आत्म-सम्मान की एक भावना और एक गौरव होता था।

परन्तु जब इन सब चीजों के लिए प्रबन्ध था, तब भी भारतीय संस्कृति की आत्मा अन्य प्राचीन संस्कृतियों की भाँति यहीं रूक नहीं गयी। यह तो केवल नीचे का आधार है। निःसन्देह यह महत्वपूर्ण व अनिवार्य है, परन्तु फिर भी यह अन्तिम और सबसे बड़ी वस्तु नहीं है। चतुर्वर्ण पर आधारित समाज-व्यवस्था मूलतः अन्तरात्मा, मन और प्राण की उन्नति का साधन है जिसके द्वारा अर्थ और काम की ही खोज नहीं की जाती वरन् उच्चतम आध्यात्मिक अवस्था का अनुसंधान किया जाता है। जीवन का अन्तिम एवं सच्चा लक्ष्य अमृतत्व की उपलब्धि ही है।

4. भारतीय प्रणाली मनुष्य को आश्रमधर्म के रूप में एक सीढ़ी प्रदान करती है जिसके द्वारा मनुष्य समष्टि के प्रति अपने कर्तव्यों को निभाता हुआ अन्ततः परमतत्व में विलीन हो जाता है। जीवन चार स्वाभाविक कालों में विभाजित था और उनमें से प्रत्येक काल जीवन-यापन सम्बन्धी इस सांस्कृतिक विचार को क्रियान्वित करने की एक अवस्था को परिलक्षित करता था। विद्यार्थी जीवन का गठन उस सबकी भित्ति स्थापित करने के लिए किया गया था, जो मनुष्य को जानना, करना और बनना होता था। यह मनुष्य को आवश्यक कलाओं और विद्याओं की पूर्ण शिक्षा प्रदान करता था, साथ ही नैतिक प्रकृति के अनुशासन पर भी बहुत बल देता था। यह शिक्षा शहरों के जीवन से बहुत दूर अनुकूल वातावरण में दी जाती थी और शिक्षक ऐसा व्यक्ति होता था जो आध्यात्मिक ज्ञान की कोई विशिष्ट अनुभूति प्राप्त कर चुका होता था। आर्यपुरुष को वस्तुतः जीवन के चार महान् लक्ष्यों—अर्थ, काम, धर्म एवं मोक्ष के लिए कुछ अंश में तैयार किया जाता था। अपने ज्ञान को जीवन में चरितार्थ करने के लिए वह गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कर पहले तीन लक्ष्यों को पूरा करने में समर्थ होता था। जहाँ एक ओर वह गृहस्थाश्रम में रहते हुए अपनी स्वाभाविक प्राकृत इच्छाओं को तृप्त करता था, वहीं दूसरी ओर वह समाज और उसकी मांगों के प्रति भी अपना ऋण चुकाता था। अपने जीवन की तीसरी अवस्था में वन में जाकर वह एकान्तवास करता और आत्मिक सत्य को जीवन में उतारने का प्रयत्न

करता था। वहाँ वह अनावश्यक सामाजिक बन्धनों से मुक्त होकर जीवन यापन करता था पर साथ ही युवकों का समुचित मार्गदर्शन कर अपना ज्ञान नयी पीढ़ी को प्रदान करता था। जीवन की अन्तिम अवस्था में हर बचे-खुचे बन्धन को त्याग कर पूर्ण रूप से अनासक्त होकर जीवन व्यतीत करता और केवल अति आवश्यक आवश्यकताओं को पूरा करता हुआ परमात्मा में लय होने की तैयारी करता था। यह अन्तिम अवस्था सबके लिए अनिवार्य नहीं थी। अधिकांश लोग पहली दो अवस्थाओं से परे नहीं जाते थे, बहुत से लोग वानप्रस्थ अवस्था में ही स्वर्ग सिधार जाते थे। केवल मुट्ठीभर लोग ही परिव्राजक व संन्यासी का जीवन अपनाते थे। परन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि आश्रम-धर्म के पालन से मानवीय जीवन की पूर्णता प्राप्त हो जाती है, और इस जन्म में ही हमारी नैतिक-आत्मिक क्षमताओं का काफी विकास हो जाता है।

5. ऐसे आधार पर प्रतिष्ठित और प्रशिक्षित होकर प्राचीन भारत में आर्य जाति ने संस्कृति एवं सभ्यता के उच्च शिखरों का स्पर्श किया। उसने नीतियुक्त स्वतंत्रता के साथ जीवन व्यतीत किया। उसने महान साहित्य, कलाओं, विद्याओं, शिल्पों और उद्योगों का विकास किया। अद्भुत आध्यात्मिक उपलब्धियों को संचित किया। बाह्य प्रकृति के रहस्यों की छानबीन की और अन्तः सत्ता के निस्सीम व आश्चर्यजनक सत्यों को ढूंढ़ निकाला।

5.4 सारांश

इस इकाई में आपने मनु द्वारा प्रतिपादित वर्णाश्रम व्यवस्था का अध्ययन किया। वस्तुतः मनुस्मृति में वेदों में उल्लिखित सिद्धान्त को ही विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किया गया है। मनु ने चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र एवं चार आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास का प्रावधान किया है। वर्ण-व्यवस्था का उद्देश्य सामाजिक जीवन की संरचना करना है और आश्रम-व्यवस्था व्यक्ति के जीवन के उत्तरोत्तर विकास का साधन है। मनुस्मृति में चारों वर्णों और चारों आश्रमों के कर्तव्यों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। महर्षि अरविन्द घोष का मानना है कि यद्यपि वर्ण-व्यवस्था का एक भौतिक-आर्थिक पक्ष एवं उद्देश्य भी है पर वह मूलतः मनुष्य के नैतिक-आत्मिक विकास पर आधारित है। आश्रम व्यवस्था का उद्देश्य जहाँ एक ओर मनुष्य को अपने सांसरिक व सामाजिक दायित्वों की पूर्ति के लिए तैयार करना है वहीं दूसरी ओर मनुष्य को अपने चरम पुरुषार्थ-मोक्ष की ओर प्रवृत्त करना भी। मनु द्वारा प्रतिपादित वर्ण-व्यवस्था कालान्तर में जाति प्रथा में विकृत हो गयी और इसी कारण अनेक भ्रामक व्याख्याओं का जन्म हुआ। पाश्चात्य विद्वानों के एक वर्ग ने, जिनका दृष्टिकोण मूलतः लौकिकवादी एवं प्रत्यक्षवादी है ओर जो स्वतंत्रता व समानता को इस कारण चरम साध्य मानते हैं, मनु की समाज व्यवस्था की काफी आलोचना की है। वस्तुतः वर्णाश्रम व्यवस्था का आधार आत्म-विद्या है और आत्म-विद्या के समुचित ज्ञान के बिना उसके मर्म को समझ पाना कठिन है। भारत के महान दार्शनिक डा० भगवान दास ने इसी दृष्टि से वर्णाश्रम धर्म का विवेचन किया है।

5.5 उपयोगी पुस्तकें

1. भारतीय संस्कृति के आधार - श्री अरविन्द
2. भारतीय राजशास्त्र के प्रणेता - डा० श्याम लाल पाण्डेय
3. Manu : A Study in Hindi Social Theory - Prof. Kewal Motwani
4. Manusmriti - Dr. M. V. Patwardhan

5.6 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

1. मनु स्मृति में प्रतिपादित वर्ण-व्यवस्था का विवेचन कीजिए।
2. मनु द्वारा प्रतिपादित आश्रम-धर्म का वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. मनु कौन थे?
2. मनु की वर्ण-व्यवस्था का उद्देश्य बताइए।
3. ग्रहस्थ आश्रम का स्वरूप बताइए।
4. मनु के अनुसार ब्रह्मचारी के क्या कर्तव्य हैं?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्न में से कौन ब्राह्मण का कर्म नहीं ?

   (अ) वेद पढ़ना (ब) दान देना

   (स) कृषि कार्य (द) यज्ञ कराना

2. यज्ञोपवीत संस्कार किस आश्रम में किया जाना चाहिए?

   (अ) गृहस्थ (ब) वान प्रस्थ

   (स) सन्यास (द) उक्त में कोई नहीं

3. भारतीय धर्मशास्त्र के अनुसार मनु किसके पुत्र थे?

   (अ) व्यास (ब) विष्णु

   (स) ब्रह्मा (द) वाल्मीकि

4. मनु ने किसको निर्देश दिया है कि वह तीन दिन से अधिक एक स्थान पर न ठहरे?

   (अ) ब्रह्मचारी (ब) संन्यासी

   (स) ग्रहस्थ (द) व्यापारी

5.7 प्रश्नोत्तर

1. स 2. द 3. स 4. ब

इकाई 6. मनुस्मृति में नारी धर्म

इकाई की रुपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2. मनु के विवाह सम्बन्धी विचार
6.3 स्त्री-शिक्षा
6.4 स्त्री धन
6.5 सारांश
6.6 उपयोगी पुस्तकें
6.7 संबंधित प्रश्न
6.8 प्रश्नोत्तर

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के माध्यम से आप मनुस्मृति में प्रतिपादित नारी धर्म से अवगत हो सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

भारतीय परम्परा के अनुसार इस जगत् की रचना प्रकृति एवं पुरुष के संयोग से हुई है। दोनों ही अनादि हैं और दोनों के संयोग से ही अखिल विश्व का संचालन हो रहा है। प्रकृति शक्ति है और पुरुष शक्तिमान। दोनों एक दूसरे पर निर्भर हैं क्योंकि एक के अभाव में दूसरे की सत्ता संभव नहीं है। इसी आधार पर नर-नारी का सम्बन्ध है। पुरुष का प्रतीक नर है और प्रकृति का प्रतीक नारी। दोनों के पृथक्-पृथक् कर्तव्य हैं पर दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। अपने-अपने क्षेत्र में दोनों की ही प्रधानता एवं श्रेष्ठता है और दोनों का लक्ष्य 'परम श्रेष्ठ' की प्राप्ति है। दोनों मिलकर अपने निर्धारित कर्तव्यों का पालन करके जीवन के परम लक्ष्य-मोक्ष की प्राप्ति कर सकते हैं।

नर और नारी परस्पर मित्र और मार्गदर्शक हैं। भारतीय परम्परा में नारी के पातिव्रत्य को विशेष महत्व प्रदान किया गया है। 'मनुस्मृति' में नारी के धर्म और उसकी सामाजिक भूमिका का विस्तार पूर्वक उल्लेख किया गया है। नारी-धर्म से सम्बन्धित मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं—विवाह का उद्देश्य एवं विवाह काल, श्रेष्ठ सन्तान प्राप्ति के नियम, बच्चों के निर्माण में माता की भूमिका, स्त्री-शिक्षा, नारी के भूषण और दूषण आदि।

प्राय: ऐसा माना जाता है कि हिन्दू धर्म में स्त्री को समुचित सम्मान प्राप्त नहीं है। पर यह विचार सत्य से परे हैं। अन्य हिन्दू शास्त्रों की भाँति मनु भी नारी जाति के प्रति अत्यन्त आदर का भाव रखते हैं। मनु ने कहा है कि स्त्री घर की साम्राज्ञी है एवं घर में उसका एकछत्र राज्य है। एक कुशल गृहिणी और स्नेहमयी माता के रूप में वह परिवार के निर्माण एवं संचालन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। स्त्री की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए मनु ने तृतीय अध्याय में कहा है—

'पितृभिर्भ्रातृभिश्चैता: पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभि:॥
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:,
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला: क्रिया:॥
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्,
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा॥
जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजता:,
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्तत:॥
तस्मादेता: सदा पूज्या: भूषणाच्छादनाशनै:
भूति कामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥'

अर्थात् परम कल्याण चाहने वाले पिता, भाई, पति एवं देवर-इन सभी को चाहिए कि वे स्त्रियों का सत्कार करें और उन्हें भूषण वस्त्रादि से अलंकृत करें। जिस परिवार में स्त्रियों का पूजन सत्कार किया जाता है वहाँ सम्पूर्ण देवता प्रसन्नता पूर्वक निवास करते हैं और जिस कुल में स्त्रियों का आदर सत्कार नहीं किया जाता, उस कुल की सम्पूर्ण क्रियाएं, सारे धर्म कर्म नष्ट हो जाते हैं। जिस कुल में बहिन, बेटी, बहू और माता आदि स्त्रियाँ दु:खी रहती हैं वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है और जिस कुल में यह सुखी रहती हैं वह सदा वृद्धि को प्राप्त करता है। स्त्रियाँ उचित सम्मान न मिलने के कारण जिन घरों को शाप दे देती हैं वे घर कृत्या से सताए हुए की भाँति सब ओर से नष्ट हो जाते हैं। इसलिए कल्याणकामी पुरुषों को चाहिए कि वे सदा वस्त्र, आभूषण और उत्तम भोजन आदि से स्त्रियों को सन्तुष्ट करें और उनका सत्कार करें। मनुस्मृति के आठवें अध्याय में कहा गया है कि जो सगे सम्बन्धी नारी के जीवनकाल में ही उसका धन हरण कर लें उनको राजा चोर के समान दण्ड दे।

स्त्री के सम्बन्ध में मनु के इन श्रेष्ठ उद्‌गारों को पढ़कर प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक नीत्शे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अपने ग्रंथ में लिखा-"मनुस्मृति को छोड़कर मेरे देखने में ऐसी कोई भी दूसरी कानूनी पुस्तक नहीं आयी जिसमें स्त्रियों के प्रति इतने ममतापूर्ण और दयापूर्ण उद्‌गार हों। इन प्राचीन ऋषियों का स्त्रियों के प्रति सम्मान का ऐसा ढंग है कि उसका कदाचित् अतिक्रमण नहीं हो सकता।" ('I know of no book in which so many decent and kindly things are said of the woman as in the law-book of Manu. These old greyheads and saints have a manner of being gallant to woman which perhaps can not be surpassed'-'Anti-Christ')

6.2 मनु के विवाह सम्बन्धी विचार :

मनु के अनुसार विवाह धार्मिक संस्कार है और मोक्ष-प्राप्ति का साधन है। इससे वासना का सूत्रपात नहीं होता, वरन् संयमपूर्ण जीवन का आरंभ होता है। स्त्री के विवाह के विभिन्न पक्षों पर मनुस्मृति में विचार किया गया है। साथ ही वैवाहिक सम्बन्धों की मर्यादाओं का भी उल्लेख किया गया है। कन्या के विवाह की आयु 8 वर्ष से 12 वर्ष के बीच मानी गयी है। विवाह के विषय में एक सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए वह कहते हैं कि स्त्री व पुरुष का विवाह उसी समय होना चाहिए जिस समय उनमें भोग्य व भोक्ता भाव उत्पन्न हो क्योंकि उचित समय पर विवाह न कराने से मन और प्रवृत्ति भटक सकती है और मनुष्य की अधोगति हो सकती है। यदि विवाह योग्य होने पर भी माता-पिता योग्य वर को प्राप्त न कर सकें तो कन्या तीन वर्ष तक प्रतीक्षा करने के उपरान्त स्वयं ही अपने लिए उचित वर का चयन कर सकती है। यह आपद्धर्म के रूप में प्रतिपादित है, सामान्य धर्म के रूप में नहीं।

मनुस्मृति में आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया गया है-ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्रजापत्य, असुर, गन्धर्व, राक्षस एवं पिशाच। इनमें से प्रथम चार प्रकार के विवाह श्रेष्ठ एवं आर्य जाति की रक्षा करने वाले माने गए हैं। मनु का यह भी विचार है कि स्त्री-पुरुष का विवाह करते समय यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि दोनों एक ही वर्ण के हों। दूसरे शब्दों में कन्या का विचार करने से पूर्व माता-पिता को वर के रूप, गुण, शील, नीरोगता, कुल, वर्ण आदि का विचार करना चाहिए ताकि विवाह सफल हो और श्रेष्ठ सन्तान का जन्म हो। मनु का विचार है कि ब्राह्म, दैव, आर्ष एवं प्रजापत्य इन चार विवाहों से जो सन्तान उत्पन्न होती है वह तेजस्वी, सुन्दर एवं धर्मशील होती है जबकि आसुर, गान्धर्व, राक्षस एवं पैशाच विवाहों से उत्पन्न होने वाली सन्तान मिथ्यावादी, क्रूर, नास्तिक होती है। मनु ने धन लेकर कन्यादान करने की घोर निन्दा की है। इसे वह कन्या विक्रय कहते हैं। कन्या विक्रय की ही तरह पुत्र-विक्रय की भी वह कटु निन्दा करते हैं। कन्या के पिता का यह कर्तव्य है कि कन्या को आभूषण आदि देकर वर के हाथ में समर्पित करें क्योंकि पुत्र की तरह कन्या का भी पिता के धन पर अधिकार है। परन्तु वर के पिता को कन्या के माता-पिता से दबाव डालकर या बलपूर्वक धन कदापि नहीं लेना चाहिए। धन के लिए कन्या को पीड़ित करना नीच एवं निन्दनीय कार्य माना गया है।

इस प्रकार हिन्दू विवाह एक पवित्र संस्कार है, यह सौदा या अनुबंध (contract) नहीं है। मनु का कथन है कि विवाह संस्कार के बाद नारी जीवन की द्वितीय अथवा गृहिणी अवस्था प्रारंभ होती है। गृहिणी अवस्था पतिव्रत या सती-धर्म के पालन हेतु है। स्त्री समर्पण के भाव से अपने पति का अनुसरण करती है। पति को प्रसन्न रखना, उसके सुख की कामना करना स्त्री का धर्म है। सतीत्व की महिमा का वर्णन करते हुए मनु कहते हैं कि जो स्त्री मन, शरीर व वाणी से अपने पति के अलावा अन्य किसी से सम्बन्ध नहीं रखती, वह सती कहलाती है और ऐसी सती साक्षात् लक्ष्मी है। स्त्रियों के लिए पतिव्रत से अधिक कल्याणकारी व्रत अन्य कोई नहीं है क्योंकि इसी से स्त्री धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त करती है।

6.3 स्त्री शिक्षा

मनुस्मृति में स्त्री शिक्षा को बहुत महत्वपूर्ण माना गया है। मनु का विचार है कि स्त्री व पुरुष को एक जैसी शिक्षा देना उचित नहीं है। स्त्री व पुरुष की प्रकृति में भिन्नता, शरीर रचना में भिन्नता के कारण दोनों की शिक्षा भी भिन्न प्रकार की होनी चाहिए।

कन्यावस्था में शिक्षा के स्वरूप का प्रतिपादन करते हए वह कहते हैं कन्या को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए जिससे भविष्य में वह निष्ठावान पत्नी एवं अच्छी माता बन सके क्योंकि अपनी उन्नति एवं सन्तानों की प्राथमिक शिक्षा के लिए पिता की तुलना में माता का सम्बन्ध अधिक रहता है। मनु का विचार है कि समाज के सुचारु संचालन में गृहस्थ धर्म का बहुत महत्व है और गृहस्थ धर्म का केन्द्र बिन्दु गृहिणी है। मनु के अनुसार स्त्री एक मूल्यवान रत्न है इसलिये बाल्यावस्था में पिता, युवावस्था में पति एवं वृद्धावस्था में पुत्र को उसकी रक्षा करना चाहिए।

6.4 स्त्री धन

मनुस्मृति में स्त्रीधन का भी विवेचन प्राप्त होता है। इसके अर्न्तगत प्रमुख तीन विषय आते हैं-स्त्रीधन क्या है, स्त्रीधन पर स्त्री का आधिपत्य एवं स्त्रीधन का उत्तराधिकार। स्त्रीधन का शाब्दिक अर्थ है स्त्री की सम्पत्ति। परन्तु प्राचीन साहित्य में इस प्रकार की सम्पत्ति को विशेष अर्थ में प्रयुक्त किया गया है—वह सम्पत्ति जो स्त्री को विशिष्ट अवसरों या जीवन के विभिन्न अवसरों पर प्राप्त होती है। मनु ने इसे परिभाषित करते हुए लिखा है—''विवाह के समय अग्नि के समक्ष जो कुछ दिया गया, प्रेमवश जो कुछ दिया गया, जो कुछ भ्राता, माता और पिता से प्राप्त हुआ, विदाई के समय जो कुछ प्राप्त हुआ-यही छः प्रकार का स्त्रीधन है।'' मनु ने इसमें एक प्रकार और भी जोड़ दिया-अन्वाधेय अर्थात् बाद में मिलने वाली भेंट। स्त्रीधन के उत्तराधिकार के विषय में मनु ने पुत्र एवं पुत्रियों के अधिकार का विवेचन किया है। स्त्रीधन को हड़पने के प्रयास की मनु ने घोर निन्दा की है और कहा है कि जो सगे-सम्बन्धी मोह में पड़कर नारी की धन-सम्पत्ति, उसके बैल घोड़े, गाड़ी आदि सवारियाँ और उसके गहने-कपड़े अपहरण करके स्वयं भोगते हैं, उससे अपनी आजीविका चलाते हैं, वे पाप-बुद्धि मनुष्य भयानक अधोगति को प्राप्त करते हैं।

'स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति बान्धवाः,
नारीयानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगतिम्॥'

इस प्रकार मनुस्मृति में नारी जीवन के विविध पक्षों की व्याख्या की गयी है और उसको महिमामंडित किया गया है। मनु का कथन है कि दस उपाध्यायों की अपेक्षा आचार्य, सौ आचार्यो की अपेक्षा पिता और हजार पिताओं की अपेक्षा माता का गौरव अधिक होता है—

'उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितृन् माता गौरवेणातिरिच्यते।'

आधुनिक समाजशास्त्रियों ने मनुस्मृति में प्रतिपादित अनेक मान्यताओं की आलोचना की है और कहा

है कि मनुस्मृति में स्त्री को समुचित आदर व महत्ता नहीं दी गयी है। आधुनिक विद्वान् स्त्री-पुरुष की समान एवं सह शिक्षा के पक्षधर हैं। उनका विचार है कि स्त्री पुरुष को स्वतंत्र प्रेम का अधिकार है एवं विवाह-विच्छेद में कुछ भी बुरा नहीं है। वे यह भी आरोप लगाते हैं कि मनुस्मृति में स्त्री पर अनावश्यक प्रतिबन्ध लगा दिए गए हैं और उसकी स्वतंत्रता समाप्त कर दी गयी है। वस्तुत: यह दृष्टिकोण स्त्री को उसके सभी संदर्भों और सम्बन्धों से काटकर देखने का परिणाम है। मनु द्वारा प्रतिपादित नारी धर्म स्त्री को एक वृहद् संदर्भ में देखने का परिणाम है। निम्न बातें दृष्टव्य हैं—

1. नर और नारी का शारीरिक एवं मानसिक संगठन नैसर्गिक दृष्टि से भिन्न-भिन्न है। अतएव दोनों की स्वतंत्रता के क्षेत्र एवं मार्ग भी पृथक्-पृथक् हैं। यही स्वधर्म है। स्त्री घर की साम्राज्ञी है पर वह स्नेहमयी माता और कुशल गृहणी होकर ही घर पर राज्य कर सकती है। यही उसकी नैसर्गिक स्वतंत्रता है। नारी का यह सनातन मातृत्व ही उसका स्वरूप है। नारी में प्राणों की एवं हृदय की प्रधानता है और पुरुष में शरीर की। पुरुष की स्वतंत्रता का क्षेत्र शरीर है और नारी की स्वतंत्रता का क्षेत्र है प्राण व हृदय। नारी शरीर से चाहे दुर्बल हो पर प्राण व हृदय की दृष्टि से पुरुष से अत्यन्त सबल है। त्याग, तप, धैर्य, सहिष्णुता, सेवा आदि सदगुण उसमें स्वभावत: होते हैं और इन्हीं सद्गुणों के बल पर वह परिवार का निर्माण कर समाज को श्रेष्ठ नागरिक प्रदान करती है। नारी का स्वातंत्र्य एवं उन्नयन अपने स्वाभाविक गुणों का अनुपालन करने में है न कि उनको अस्वीकार करने में। यही मनुस्मृति का मंतव्य है।

2. मनुस्मृति में स्त्री के लिए विशिष्ट शिक्षा की बात कही गयी है न कि स्त्री-पुरुष की समान शिक्षा की। शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्तियों का विकास करना है|अत: इसके द्वारा स्त्री-पुरुष में विद्यमान उनके विशिष्ट गुणों की वृद्धि होनी चाहिए। स्त्री के द्वारा अपनी भूमिका कुशलता और बुद्धिमत्ता से निभाने से ही परिवार का अभ्युदय और इसके द्वारा समाज का उन्नयन संभव है, और इसी भूमिका के लिए इसे शिक्षित किया जाना चाहिए।

3. मनुस्मृति में प्रतिपादित विवाह की धारणा आधुनिक पाश्चात्य जगत् में प्रचलित विचारों से नितान्त भिन्न है। हिन्दू धर्म में विवाह एक धार्मिक कृत्य है, एक आध्यात्मिक साधना है। वह कोई शर्तनामा नहीं है जिसे जब चाहे तोड़ दिया जाए। उसमें संयमित भोग के लिए स्थान है परन्तु वासना के प्रबल प्रवाह के लिए कोई स्थान नहीं है। विवाह सत्कार्यों के द्वारा परिवार, समाज एवं ब्रह्मांड के कल्याण का साधन है। यह जन्मजन्मातर का सम्बन्ध है जिसमें पति पत्नी एक दूसरे के अर्धांग हो जाते है एवं परस्पर प्रेम व त्याग पर चलते हुए एक दूसरे को सन्मार्ग पर ले जाते हैं। वहाँ विवाह-विच्छेद या तलाक स्त्री या पुरुष की स्वतंत्रता का प्रतीक नहीं है, वरन् स्वेच्छाचार है। विवाह के साथ ही यदि विवाह-विच्छेद का द्वार खुला छोड़ दिया जाए तब तो उच्छृंखलता और अनाचार का मार्ग आसान हो जाएगा। विवाह-विच्छेद को अधिकार मान लेने से मातृत्व और पितृत्व की भावना ही लुप्त हो जाएगी और फिर बच्चों को किसी प्रकार का सुसंस्कार नहीं मिल पाएगा।

इस प्रकार मनु ने स्त्रियों की भूमिका, शिक्षा, विवाह आदि प्रश्नों पर व्यापक संदर्भ में विचार किया है, व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के आधार पर नहीं।

6.5 सारांश

इस इकाई में आपने मनुस्मृति में प्रतिपादित नारी की भूमिका का अध्ययन किया। मनु ने स्त्री एवं पुरुष को एक दूसरे का मित्र एवं मार्गदर्शक माना है। वे एक दूसरे के पूरक हैं न कि प्रतिद्वन्दी। मनुस्मृति में नारी को वन्दनीय एवं पूजनीय माना गया है। विवाह के आठ प्रकारों का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि विवाह एक धार्मिक संस्कार है, एक पवित्र बन्धन है और गृहस्थ धर्म की आधारशिला है। मनु ने स्त्री-शिक्षा पर भी बल दिया है, और उनका विचार है कि नारी के स्वाभाविक गुणों की वृद्धि करना ही उसकी शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। स्त्री-धन के स्वरूप को भी मनु ने स्पष्ट किया है, और कहा है कि स्त्रीधन का अपहरण करने वाला कठोर दण्ड का पात्र है।

6.6 उपयोगी पुस्तकें

1. भारतीय राजशास्त्र के प्रणेता - डा० श्याम लाल पाण्डेय

2. Manu : A Study in Hindu Social Theory - Dr. Kewal Motwani

6.7 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. मनु द्वारा प्रतिपादित स्त्री–धर्म का विवेचन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. विवाह के सम्बन्ध में मनु के विचार बताइए।
2. स्त्रीधन क्या है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्न में से कौन विवाह उत्तम कोटि का माना गया?

   (अ) पैशाच विवाह (ब) गन्धर्व विवाह

   (स) आर्ष विवाह (द) राक्षस विवाह

2. मनु के अनुसार कन्या के विवाह की आयु क्या होनी चाहिए?

   (अ) 8 वर्ष से 12 वर्ष के बीच (ब) 12 वर्ष से 16 वर्ष के बीच

   (स) 20 वर्ष (द) 15 वर्ष

6.8 प्रश्नोत्तर

1. स 2. अ

इकाई 7. राजा, मंत्रिपरिषद् एवं राष्ट्र

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य
7.1 प्रस्तावना
7.2. राजा
 7.2.1 राजा के गुण
 7.2.2 राजा के कर्तव्य
 7.2.3 राजा की दिनचर्या
 7.2.4 राजा पर नियंत्रण
7.3 मनु एवं राजा का दैवी अधिकार सिद्धान्त
7.4 मंत्रिपरिषद्
7.5 विधि
7.6 राष्ट्र
7.7 दुर्ग
7.8 सारांश
7.9 उपयोगी पुस्तकें
7.10 संबंधित प्रश्न
7.11 प्रश्नोत्तर

7.0 उद्देश्य

- इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप राजपद पर मनु के विचार से अवगत हो सकेंगे।
- इस इकाई के अध्ययन के फलस्वरूप आप मनु द्वारा प्रतिपादित मंत्रिपरिषद् एवं राष्ट्र की अवधारणाओं से अवगत हो सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

भारतीय परम्परा में धर्मशास्त्र के अन्तर्गत राजधर्म अथवा राजविद्या का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इस विषय की महत्ता इसी बात से स्पष्ट हो जाती है कि आदिकाल से ही राजशास्त्र पर स्वतंत्र ग्रंथों का प्रणयन होता रहा है। सभी धर्मशास्त्रकारों ने इसका सांगोपांग विवेचन किया है। राजधर्म को वस्तुतः सभी धर्मों का सार माना गया है, इसे विश्व का सर्वोपरि उद्देश्य माना गया है। महाभारत के 'शान्तिपर्व' में राजधर्म की प्रशंसा करते हुए कहा गया है–

'सर्वा विद्या राजधर्मेषु युक्ताः, सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टा।'

राजा को अपने युग का प्रवर्तक कहा गया है। देश में स्वर्ण युग या अन्धयुग का होना राजा एवं राजधर्म के सम्पादन पर निर्भर है। शुक्रनीति के अनुसार–

'युग प्रवर्तको राजा धर्माधर्म प्रशिक्षणात्।'

प्राचीन भारतीय साहित्य में राजशास्त्र के लिए अनेक शब्दों एवं नामों का प्रयोग हुआ है। कुछ ग्रंथकारों ने इसे 'नृपशास्त्र' कहा है तो अन्य आचार्यों ने इसके लिए 'दण्डनीति', 'अर्थशास्त्र' और 'नीति शास्त्र' शब्दों का प्रयोग किया है। राजशास्त्र या अर्थशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय राज्य के अंग एवं राजा के अधिकार एवं उत्तरदायित्व रहे हैं। कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—'अर्थ सम्पूर्ण मानवों का जीवन या वृत्ति है, अर्थात् मानवों से भरी हुई पृथ्वी अर्थ है। वह शास्त्र जो पृथ्वी की प्राप्ति एवं संरक्षण का साधन है, अर्थशास्त्र है।' इस प्रकार अर्थशास्त्र के चार प्रमुख उद्देश्य निश्चित किए गए हैं—अलब्ध की प्राप्ति, लब्ध का परिरक्षण, रक्षित का संवर्धन और

संवर्धित का सुपात्रों में विभाजन।

भारतीय परम्परा में राजशास्त्र की दैवी उत्पत्ति मानी गयी है। महाभारत के 'शान्तिपर्व' के अनुसार आदिकाल में न तो राजा था और न ही राजव्यवस्था। इसके कारण मनुष्यों में लोभ, मोह, घृणा, संघर्ष आदि का प्रवेश हो गया था और अधर्म का बोलबाला था। धर्म को पूर्णनाश से बचाने के लिए ब्रह्मा ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पर एक लाख अध्यायों वाला एक महान् ग्रंथ लिखा। इस ग्रंथ के राजनीति नामक भाग को भगवान शिव अथवा विशालाक्ष ने संक्षिप्त कर दस हजार अध्यायों में लिखा जिसे 'वैशालाक्ष' कहा गया। बाद में इन्द्र ने इसे पाँच हजार अध्यायों में संक्षिप्त किया और इसे 'बाहुदन्तक' कहा गया। इसके बाद देवगुरु बृहस्पति ने इसे तीन हजार अध्यायों में संक्षिप्त किया और यह 'बार्हस्पत्य नीतिशास्त्र' कहलाया। फिर शुक्राचार्य ने इसे एक हजार अध्यायों में संक्षिप्त किया। इस प्रकार सभी आचार्यों द्वारा मनुष्य की आयु का ह्रास जानकर जगत् के हित के लिए इसको संक्षिप्त किया गया। भारतीय परम्परा अर्थशास्त्र का आरंभ सृष्टि के साथ ही मानती है।

मनु के राजशास्त्रीय सिद्धान्त भी इसी प्राचीन परम्परा के अंग हैं और उसी दृष्टिकोण को आगे बढ़ाते हैं। प्राय: सभी राजशास्त्रकारों की भाँति मनु भी राज्य के सात अंग मानते हैं, जैसे—स्वामी या राजा, अमात्य, राष्ट्र या जनपद, दुर्ग अथवा राजधानी, कोष, दण्ड (सेना) एवं मित्र।

> ''स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोषदण्डौ सुहृत्तथा।
> सप्त प्रकृतयो ह्येता: सप्तांग राज्यमुच्यते।''

अंगों को प्रकृति भी कहा गया है। राजशास्त्रकारों ने राजा को सातों अंगों में सर्वश्रेष्ठ माना है क्योंकि अन्य प्रकृतियों पर संकट आने पर वही उनके निवारण का प्रबन्ध करता है। मनु द्वारा प्रतिपादित राजा एवं राजधर्म सम्बन्धी विचारों का विवरण निम्न प्रकार है—

7.2 स्वामी या राजा

मनु ने राजा की दैवी उत्पत्ति का विचार प्रतिपादित किया है। मनु ने लिखा है कि प्रारम्भ में सभी धर्मनिष्ठ एवं विवेकशील थे। सब धर्म-नियन्त्रित होकर एक दूसरे के पोषक, रक्षक एवं हित चिन्तक थे। लेकिन जब प्रजा में राजस एवं तामस भाव की अधिक वृद्धि हो गयी तो अधर्म व अनाचार से त्राहि-त्राहि मच गयी और सर्वत्र 'मात्स्य न्याय' (जिसकी लाठी उसकी भैंस) का बोलबाला हो गया। इस अराजकता के होने पर सारी प्रजा घबड़ाकर भय से इधर उधर भागने लगी। तब प्रजा की रक्षा के लिए प्रजापति ब्रह्मा ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर-इन आठ लोकपालों के अंश से राजा का निर्माण किया। व्यवस्था स्थापित हो सके और धर्म-मार्ग की रक्षा हो सके-यही राजा की उत्पत्ति का प्रयोजन था—

> 'अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात्।
> रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत प्रभु:॥
> इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
> चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वती:॥

इस प्रकार प्रजापालन के लिए देवतुल्य एवं नीतिमान राजा की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार आठ लोकपाल अपनी-अपनी शक्तियों के द्वारा ब्रह्मांड का पोषण एवं रक्षण करते हैं उसी प्रकार राजा समयानुसार कभी अग्नि, कभी सूर्य, कभी यम, कभी कुबेर और कभी चन्द्र आदि रूप धारण कर प्रजापालन करता है। 'पंचतंत्र' मनु को उद्धृत करते हुए कहता है कि राजा सर्वदेवमय है—'सर्व देवमयो राजा मनुना संप्रकीर्तित:।' यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कालान्तर में इसी आधार पर क्षत्रिय राजकुलों ने अपने को सूर्यवंशीय या चन्द्रवंशीय कहा। कई क्षत्रिय कुलों ने अपने को अग्निकुल से उत्पन्न माना।

देवताओं के अंशों से उत्पन्न होने के कारण ही राजा अपने तेज से सब प्राणियों को दबा लेता है। राजा बालक हो तो भी मनुष्य समझ कर उसका अपमान नहीं करना चाहिए। राजा किसे होना

चाहिए? मनु ने क्षत्रिय को ही राजा होने के योग्य ठहराया है। राजपद को आनुवंशिक माना गया है और ज्येष्ठ पुत्र को ही राजा बनने का अधिकार है। यदि ज्येष्ठ पुत्र अंधा या विक्षिप्त हो तो उसके स्थान पर छोटा भाई राजा होता है।

मनु का कथन है कि सब प्राणियों की रक्षा करने वाले राजा की सहायता के लिए ईश्वर ने ब्रह्मतेजोमय दंड का निर्माण किया। उस दण्ड के भय से जड़ चेतन सभी प्राणी अपने कर्तव्य से विचलित नहीं हो पाते और उचित पदार्थों का उपभोग करते हैं। दण्ड ही राजा, पुरुष, नेता, शासक और चारों आश्रमों के धर्म का साक्षी है—

'स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः।'

दण्ड ही प्रजा का शासक एवं रक्षक है। सबके सोने पर दण्ड ही जागकर प्रजा की रक्षा करता है। मनु के अनुसार यदि राजा विचारपूर्वक दण्ड-शक्ति का प्रयोग करेगा तो प्रज्ञा का कल्याण होगा, लेकिन अविचारपूर्वक दिया गया दण्ड प्रजा का विनाशक होता है और इससे अन्ततः राजा का पराभव होता है। यदि राजा आलस्य छोड़कर दण्ड का विधान न करे तो बलवान प्राणी दुर्बलों को वैसे ही खा जाएं जैसे लोग मछलियों को भूनकर खा जाते हैं। यदि दण्ड न हो तो छोटे बड़े हो जाएं एवं बड़े छोटे, अपनी वस्तुओं पर व्यक्ति का अधिकार न रहे, मर्यादाएं भंग हो जाएं, सभी वर्ग दूषित हो जाएं और संसार में उथल पुथल मच जाए-

'दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति,
दण्ड सुप्तेषु आवर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः।
समीक्ष्य स धृत सम्यक सर्वा रंजयति प्रजाः।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः।'

7.2.1 राजा के गुण

दण्ड बड़ा तेजस्वी है, इसलिए धर्मशील एवं गुणशील राजा ही उसका समुचित विधान कर सकते हैं। अत मनु ने एक श्रेष्ठ राजा के गुणों पर भी विचार किया है। राजा को शक्तिमान, दयालु, तप, ज्ञान और अनुभव से युक्त, अनुशासित मन वाला, अच्छे एवं बुरे काल में समान स्वभाव रहने वाला, वचन और कर्म में मृदु वर्णाश्रम धर्म के नियमों का पालन करने वाला, रहस्य गोपनीय रखने में चतुर एवं तीनों वेदों में प्रशिक्षित होना चाहिए। उसे ब्राह्मणों के प्रति सहनशील मित्रों के प्रति सरल, शत्रुओं के प्रति क्रूर एवं सेवकों व प्रज्ञा के प्रति पितृवत् होना चाहिए राजा में विनय के गुण को मनु ने बहुत महत्व दिया। व्रतों और विद्याओं में प्रवीण और बड़ी अवस्था वालों के प्रति आदरभाव को विनय कहते हैं। बहुत से राजा विनय के अभाव में शक्तिशाली रहने पर भी नष्ट हो गए जबकि बहुत से राजा जैसे पृथु आदि विनय के कारण राजपद पर सुशोभित हुए। वेन, नहुष, सुदास आदि राजाओं के नाश का कारण उनका अविनयी होना ही था।

राजा में उक्त गुणों का विकास करने के लिए मनु ने राजा की शिक्षा को बहुत महत्व दिया है। राजा की शिक्षा के चार विषय हैं- आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति। उपनयन के उपरान्त राजकुमारों को वेदज्ञों से वेद एवं आन्वीक्षिकी का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और विभिन्न विभागों के अधीक्षकों से वार्ता, और व्यावहारिक राजनीतिज्ञों एवं व्याख्याताओं से दण्डनीति का अध्ययन करना चाहिए। राजा को हाथी, घोड़े, रथ की सवारी और अस्त्र-शस्त्र का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार मनु ने राजा के लिए नैतिक अनुशासन, संवेगों और इच्छा का सम्यक निर्देशन तथा परिमार्जन अत्यन्त आवश्यक माना है।

मनु ने ऐसे दुर्गुणों की भी चर्चा की है जिनसे राजा को बचना चाहिए। शिकार, जुआ, दिवास्वप्न, निन्दा, स्त्री, मद (नशा), नृत्य, गीत, वादित्र और व्यर्थ घूमना-इन दस कामज व्यसनों से राजा को दूर रहना चाहिए। आठ क्रोधज व्यसनों-चुगली, साहस, द्रोह, ईर्ष्या, असूया, दूसरे का धन छीन लेना, गाली गलौज, मारपीट से राजा को बचना चाहिए। इन कामज और क्रोधज व्यसनों का मूल लोभ है

अत: उसे लोभ से भी सर्वथा बचना चाहिए।

7.2.2 राजा के कर्तव्य

मनु स्मृति में राजा के तीन प्रधान कर्तव्य बताए गए हैं—प्रजा रक्षण या पालन, वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा और न्याय करना।

राजा का यह परमदायित्व है कि दुष्टों को दंडित करे एवं शिष्टों की रक्षा करे। यदि वह ऐसा करने में असमर्थ है तो अधर्म एवं पाप का भागी है और ऐसा राजा बन्धु-बान्धवों सहित नष्ट हो जाता है। राज्य के संचालन में राजा को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जो अदण्ड्य हों वे दण्डित तथा जो दण्ड्य हों वे मुक्त न हो जाएं। यदि इस प्रकार की घटना घटित हो जाए तो राजा के साथ मंत्री, पुरोहित आदि सभी उत्तरदायी होते हैं और उन्हें प्रायश्चित करना पड़ेगा।

'अदण्ड्यान्दण्डयन् दंड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्,
अयशो महादाप्नोति नरकं चैव गच्छति।'

मनु के अनुसार प्रजा को पाँच भय सताते हैं—राज्य के बड़े कर्मचारियों का भय, चोरों का भय, शत्रुओं का भय, राजवल्लभों का भय एवं स्वयं राजा के लोभ का भय। प्रजा की इन पाँच भयों से रक्षा करना राजा का कर्तव्य है। मेधातिथि ने मनु की व्याख्या करते हुए लिखा है कि विपत्ति व अकाल के समय राजा को अपने कोष से भोजन आदि की व्यवस्था करके प्रजा-पालन करना चाहिए। मनु ने राजा पर ब्राह्मणों की रक्षा का दायित्व भी सौंपा है।

प्राचीन भारत में वर्णाश्रम धर्म का अत्यधिक महत्व था। अत: राजा का एक महत्वपूर्ण कर्तव्य वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करना था। समाज के सभी लोग अपने वर्ण-धर्म और आश्रम धर्म का पालन करें, यह देखना राजा का दायित्व है। वर्ण-धर्म के लुप्त हो जाने पर समाज में वर्ण-संकरता फैल जाती है जिसका समाज के चारित्रिक और आर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। राजा की मौलिक आवश्यकता इस रूप में है कि वह तीनों वेदों में प्रत्येक वर्ष एवं प्रत्येक आश्रम के लिए निर्दिष्ट धर्मों का पूर्णरूपेण पालन कराए और समाज के आर्य स्वरूप की रक्षा करे। राजा इसके लिए यदि उचित दण्ड की व्यवस्था नहीं करता तो सभी वर्ण दूषित हो जाएंगे, धर्म के सभी बन्धन टूट जाएंगे और विप्लव की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। मनु वैदिक परम्परा पर आधारित समाज-व्यवस्था को आर्य-संस्कृति की रक्षा व उन्नयन के लिए आवश्यक मानते हैं—

'स्वे स्वे धर्में निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वश:,
वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता।'

मनु ने राजा को न्याय का स्रोत माना है। राजा प्रारंभिक व अन्तिम न्यायालय है। दृष्ट एवं अदृष्ट दोनों लक्ष्यों की पूर्ति में आने वाली बाधाओं से प्रजा की रक्षा करना राजा का धर्म है। मनु कहते हैं कि कुछ ऐसे विवाद हैं जिनका निर्णय राजा 'स्वमत' से कर सकता है। ऐसे विषय 'प्रकीर्णक' कहे गए हैं। 'प्रकीर्णक' में जिन विषयों का उल्लेख किया गया है उनका सम्बन्ध व्यक्ति के व्यावहारिक एवं दैनिक जीवन से रहा है अत: इन विषयों पर निर्णय देने के लिए राजा के लिए ब्राह्मण, पुरोहित, मंत्रियों एवं संघ विशेष के प्रतिनिधियों से परामर्श की आवश्यकता नहीं है। प्रकीर्णक में दिए गए कुछ विषय इस प्रकार हैं—राजा की आज्ञा का उल्लंघन, वर्ण-संकर दोष, प्रायश्चित्त में व्यतिक्रम, पिता-पुत्र के झगड़े आदि।

राज्य के कल्याण एवं प्रजापालन का कर्तव्य इतना महत्वपूर्ण है कि राजा को सचेष्ट एवं गतिशील रहते हुए अपने दायित्व का निर्वहन करना चाहिए। मनु का निर्देश है कि जिस प्रकार सभी प्राणियों में वायु प्रवेश कर विचरण करता है, उसी प्रकार राजा को अपने गुप्तचरों के माध्यम से पूरे राष्ट्र में घूमना चाहिए—

'प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुत:,
तथा चरै: प्रवेष्टव्य व्रतमेतद्धि मारुतम्।'

7.2.3 राजा की दिनचर्या

मनु ने राजा की दिनचर्या का विवरण प्रस्तुत किया है। राजा के प्रातःकालीन कर्तव्य इस प्रकार हैं—(1) स्नान, ध्यान, स्वाध्याय, (2) मंत्रियों के साथ मंत्रणा, (3) जनता की शिकायतों को सुनना व न्याय करना (4) राष्ट्र की सुरक्षा के विषय में सेनापति से विचार करना (5) पर राष्ट्र नीति पर राजदूतों एवं गुप्तचरों के साथ विचार करना। मध्याह्न में राजा का यह कर्तव्य है कि वह राजपरिवार से सम्बन्धित विषयों को निपटाए, सेना एवं युद्ध सामग्री का निरीक्षण करे एवं विश्राम करे। सायंकाल में ईश्वर की आराधना के उपरान्त राज्य के विविध प्रश्नों पर गुप्त परामर्श करे, संगीत श्रवण करे और अपने दायित्वों को निपटाकर शयन करे। राजा की यह दिनचर्या न केवल उसको अनुशासित व व्यवस्थित करती है वरन सभी राजनीतिक, सैनिक, वैदशिक मामलों पर समुचित परामर्श का अवसर प्रदान करती है।

7.2.4 राजा पर नियंत्रण

मनु स्मृति में राजा के दायित्वों एवं शक्तियों का तो विवेचन है ही, राजा पर समुचित नियंत्रणों का भी प्रतिपादन है ताकि राजा निरंकुश न हो जाए। मनु उसी राजा को आदर्श मानते हैं जो अपना जीवन प्रजापालन में न्यौछावर कर दे। मनु के अनुसार मनुष्य होने के नाते राजा के भी भटक जाने की आशंका रहती है। राजा विधि और समाज से उच्चतर नहीं है, और वह सदैव ही धर्म, विधि एवं समष्टि के कल्याण की धारणाओं से शासित है।

भारतीय राजदर्शन में राजा पर सर्वोपरि नियंत्रण धर्म का माना गया है। राजा को शास्त्रानुशासन में रहना है। धर्म पालन राजा का नित्य एवं निरंतर कर्तव्य है। जैसे बिना अंकुश का हाथी एवं बिना लगाम का घोड़ा हानिकारक होते हैं उसी प्रकार धर्म की मर्यादा को त्यागने वाला राजा प्रजाघातक होता है। 'वृहदारण्यक' उपनिषद् में धर्म को राजा का रक्षक ('क्षत्रस्य क्षत्रम्) कहा गया है। राजा प्रजा का नायक है, प्रजा उसका अनुगमन तभी करती है जब उसका आचरण आदर्श होता है। धर्मशील राजा के राज्य में प्रजा सुखी रहती है और अधर्मी राजा के राज्य में रोग, शोक एवं कष्ट का आधिक्य रहता है। मनु का विचार है कि जो राजा धर्म विरुद्ध आचरण करता है वह सकुटुम्ब नष्ट हो जाता है। धर्मशील राजा ही दण्ड को धारण करने का अधिकारी है, और यदि वह धर्मयुक्त नहीं है तो दण्ड उसे भी नष्ट कर देगा। राजा को दण्ड-शक्ति का प्रयोग स्वेच्छाचारी होकर नहीं, वरन् धर्म की मर्यादा में और धर्म की रक्षा के निमित्त प्रयोग करना चाहिए। राजा को काम एवं क्रोध को संयमित करते हुए अपने धर्म का पालन करना चाहिए।

पाश्चात्य समीक्षकों ने राजा पर धर्म के इस नियंत्रण को 'मात्र नैतिक प्रतिबन्ध' कह कर महत्वहीन बता दिया है और कहा है कि पारलौकिक धारणाओं पर आधारित ये नियंत्रण राजा की निरंकुशता को रोकने में असमर्थ रहेंगे। ऐसे समीक्षक यह भूल जाते हैं कि भारतीय परम्परा में धर्म का लौकिकता से भी उतना ही गहरा सम्बन्ध है जितना कि पारलौकिकता से। धर्म अभ्युदय का भी कारक है और निः श्रेयस का भी। मनुस्मृति में जब राजधर्म की चर्चा की गयी है तो शास्त्रानुशासन के संदर्भ में की गयी है। शास्त्र में प्रतिपादित धर्म राजा के लौकिक-व्यावहारिक आचरण को मर्यादित करते हैं, और इस मर्यादा के साथ धर्म-अधर्म के पारलौकिक परिणामों का भी उल्लेख करते हैं। शास्त्र-प्रतिपादित मान्यताओं का राजा को आदर करना ही है। सम्पत्ति, उत्तराधिकार, स्वामी-सेवक सम्बन्ध, सामाजिक परम्पराएं आदि से सम्बन्धित शास्त्रीय विधान राजा की शक्ति को सीमित करते हैं और राजा का यह दायित्व है कि इन नियमों की वह रक्षा करे। भारतीय राजदर्शन में राजा को समाज-धर्म, लोकाचार आदि में हस्तक्षेप का अधिकार नहीं है। राजा शास्त्र-प्रतिपादित नियमों व निर्देशों में संशोधन नहीं कर सकता, न ही वह उन्हें समाप्त कर सकता है। इस प्रकार धर्म का नियंत्रण मात्र औपचारिकता नहीं है, यह अत्यन्त प्रभावी एवं व्यावहारिक है।

भारतीय राज विद्या में राजा के अभिषेक का असाधारण महत्व है, यह एक अत्यन्त मर्मपूर्ण प्रक्रिया है। राज्याभिषेक के कृत्यों के बिना राजत्व की प्राप्ति अवैधानिक मानी गयी है। यद्यपि मनुस्मृति में राज्याभिषेक की प्रक्रिया का वर्णन नहीं है लेकिन युगों से चली आ रही इस परम्परा को मनु मान्यता

प्रदान करते हैं। राज्याभिषेक के अन्तर्गत राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान होता है और प्रसिद्ध विद्वान बी० आर० दीक्षितार के अनुसार राजसूय यज्ञ व्यक्ति का राजनीतिक संस्कार है। राजसूय के अन्तर्गत होने वाले कर्मकाण्डों का असाधारण महत्व है क्योंकि वे राजा की मर्यादाओं को निरूपित करते हैं। एक कर्मकांड है राजा द्वारा पृथ्वी और आकाश से अनुमति प्राप्त करना। इसके लिए राजा पहले सूर्य की ओर देखता है और फिर प्रजा की ओर, जिसका तात्पर्य है कि अपने गुण व कर्म से उसे सूर्य के समान प्रकाशवान होना है और अपनी प्रजा की रक्षा एवं पालन करना है। फिर राजा 'रत्नियों' के पास जाता है व उनसे भिक्षा ग्रहण करता है। रत्नियों में राजवंशी, सेनापति, ब्राह्मणी, ग्रामणी आदि सामाजिक राजनीतिक व सैनिक शक्ति-सम्पन्न लोग होते हैं। व्यक्ति यदि राजपद के लिए योग्य नहीं है या रत्नी उसका राजत्व स्वीकार नहीं करते, तो उस व्यक्ति के पास ऐसा कोई साधन नहीं कि दबाव डालकर भिक्षा प्राप्त करे। स्पष्ट है कि राजशक्ति के निर्माण में रत्नियों की स्वतंत्र व मुख्य भूमिका है। पृथ्वी से अनुमति प्राप्त करने का अर्थ है कि वह भूमि का स्वामी नहीं, वरन् सेवक है। राज सिंहासन पर बैठने से पूर्व राजा के लिए 'धृतव्रत' शब्द का प्रयोग होता है जिसका व्यावहारिक अर्थ है विधि पालन द्वारा शक्ति प्राप्त करने वाला। इस प्रकार राजा राज्य का न्यासी है, स्वामी नहीं।

मनु ने राजा पर सामाजिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं का नियंत्रण भी बताया है। इन परम्पराओं को सदाचार कहते हैं। इन परम्पराओं में न तो राजा के द्वारा परिवर्तन व संशोधन किया जा सकता है और न ही वह इनका उल्लंघन कर सकता है। राजा का दायित्व तो उनका संरक्षण करने का है। मनुस्मृति में राजा को दुर्गुणों व व्यसनों से दूर रहने का निर्देश दिया गया है। इससे स्पष्ट है कि राजा कठोर नैतिक अनुशासन का पालन करने को बाध्य है ताकि उसके दुर्गुण राज्य कार्य व सामाजिक व्यवस्था के लिए घातक न बनें। यही नहीं, राजा पर राष्ट्रीय सम्बन्धों के संचालन में भी मर्यादित आचरण करने के लिए दबाव है क्योंकि राजा न तो अनावश्यक युद्ध कर सकता है और न ही धर्मशास्त्र व अर्थशास्त्र में वर्णित युद्ध के उद्देश्य की अवहेलना कर सकता है। युद्ध के विषय में भी वह एक आचार-संहिता से मर्यादित है।

7.3 मनु एवं राजा का दैवी अधिकार सिद्धान्त

यूरोप में 16वीं एवं 17वीं शताब्दियों में राजा के दैवी अधिकार सिद्धान्त का बोलबाला था। इंग्लैण्ड, फ्रांस आदि देशों के सम्राट अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि घोषित कर रहे थे और दैवी अधिकारों का दावा कर रहे थे। प्रसिद्ध विद्वान जे० एन० फिगिस ने इस दैवीय अधिकार सिद्धान्त के चार प्रमेय अपनी पुस्तक 'दि डिवाइन राइट्स ऑफ किंग्स' में प्रतिपादित किए हैं—

(1) राजत्व दैवी है अर्थात् इसकी संस्थापना में दैवी हाथ है।

(2) राजत्व पर आनुवंशिक अधिकार है।

(3) राजा पूर्णरूपेण स्वतंत्र है, वह केवल परमात्मा के प्रति उत्तरदायी है।

(4) किसी भी दशा में राजा का विरोध करना पाप है।

यूरोप में प्रतिपादित इस सिद्धान्त के संदर्भ में मनु की राजत्व सम्बन्धी धारणा पर जब हम विचार करते हैं तो यह निष्कर्ष निकलता है कि मनु इस सिद्धान्त से नितान्त भिन्न अर्थ में राजत्व की धारणा का प्रतिपादन करते हैं। इस सम्बन्ध में निम्न बातें दृष्टव्य हैं—

(1) मनु यह मानते हैं कि मात्स्य न्याय से बचने के लिए ईश्वर ने राजा का निर्माण किया। राजा सभी जड़ चेतन की रक्षा करने के लिए आठ देवताओं के अंशों से उत्पन्न हुआ। राजा के विभिन्न देवताओं के अंशों से निर्मित होने का आशय यह है कि राजाओं में यह गुण नितान्त अपेक्षित हैं और अपने इन्हीं गुणों व शक्तियों के कारण ही वह प्रजा को वश में कर सकता है। राजा तभी देवतुल्य है जब वह इन देवताओं के कर्तव्यों का निर्वाह करता है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री केवल मोतवानी के अनुसार ''मनु राजा के देवत्व पर जोर देते हैं न कि राजा के दैवी अधिकार पर।' मनु पाश्चात्य विचारकों की भांति राजा को ईश्वर का अवतार नहीं मानते।

(2) मनु ने राजत्व को आनुवंशिक माना है, पर वह राजा को पूर्णरूपेण स्वतंत्र नहीं मानता। राजा पर धर्म, सदाचार आदि का नियंत्रण है जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है। वह राजा के विनयशील होने पर बहुत बल देते हैं और स्पष्ट करते हैं कि वेन, नहुष एवं सुमुखि आदि राजाओं का अविनय उनके पतन का कारण बना। भारतीय परम्परा एवं वैदिक सिद्धान्तों का अनुगमन करते हुए मनु भी यह मानते हैं कि राज्य का वास्तविक संप्रभु तो धर्म है।

(3) मनु का विचार है कि राजा मनमानी नहीं कर सकता, उसको धर्म के अनुसार चलना होगा। नवीन नियमों के निर्माण में उसकी शक्ति सीमित है। इतना ही नहीं, यदि वह धर्म के नियमों के अनुसार नहीं चलेगा तो उसे गद्दी से उतार दिया जाएगा, उसकी आज्ञाओं का उल्लंघन किया जाएगा और अन्तत: उसे मृत्युदण्ड भी दिया जा सकता है।

भारतीय राजशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान जे० जे० अंजारिया मानते हैं कि मनुस्मृति में राजा नहीं, राजत्व दैवी है और वह भी गुणों के आधार पर। यदि राजा राजत्व की शर्तों का पालन करेगा, तभी प्रजा उसकी आज्ञा का पालन करेगी। मनुस्मृति में राजा के देवत्व का उद्देश्य जनकल्याण, धर्म-रक्षा एवं विधि को समुचित रूप से क्रियान्वित करना है।

7.4 मंत्रि परिषद्

राज्य के सात अंगों में दूसरा महत्वपूर्ण अंग मंत्रिपरिषद् है जिसके सदस्यों के लिए मंत्री, सचिव या अमात्य शब्दों का प्रयोग होता है। राजा अपने दायित्वों का निर्वाह सहायकों की मदद से ही कर सकता है। मनु कहते हैं कि एक व्यक्ति के लिए सरल कार्य भी अकेले करना कठिन है तो शासनकार्य जिसका लक्ष्य जनकल्याण है, बिना सहायकों के कैसे चल सकता है?

'अपि यत्सुकरं कर्म यदप्येकेन दुष्करम्,
विशेषतोऽसहायेन किं तु राज्यं महोदयम्।'

मनु का निर्देश है कि राजा को वंशपरम्परागत, शास्त्रों में प्रवीण, वीर, उच्चकुल में उत्पन्न एवं भलीभाँति परीक्षित 7 या 8 लोगों को मंत्री बनाना चाहिए। मंत्री एक ओर राजा को सलाह देते हैं व दूसरी ओर राजा के निर्देशों का पालन प्रशासनिक आवश्यकतानुसार करते हैं। मनु ने राजा को वरिष्ठ एवं वृद्ध मंत्री की सलाह का पालन करने को कहा है; मुख्यत: विद्वान, विश्वासी ब्राह्मण मंत्री की। मंत्रिपरिषद् से एकान्त में परामर्श करना अच्छा समझा जाता है। मनु यह स्पष्ट निर्देश देते हैं कि कोई बाहरी मनुष्य राजा की गुप्तनीति को न जान सके। वे ही लोग, जिन्हें उसे कार्यान्वित करना है, समय पर जानने के अधिकारी हैं। 'मंत्रिपरिषद् की बैठक की अध्यक्षता राजा करता है। मनु ने ऐसे विषयों की तालिका दी है जिसके बारे में मंत्रियों से मंत्रणा करना आवश्यक है—शान्ति एवं युद्ध, कर के स्रोत, राजा व राज्य की रक्षा, प्राप्त धन का संरक्षण व वितरण, राष्ट्र की सुख-समृद्धि आदि। राजा को मंत्रियों की सम्मति अवश्य लेनी चाहिए। यह सम्मति आवश्यकतानुसार व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से ली जा सकती है।

मनु ने राजा को उसकी प्रशासकीय शक्ति के अन्तर्गत दूतों की नियुक्ति करने का अधिकार दिया है। मनु का मत है कि राजा सब शास्त्रों में कुशल; संकेत; आकार और चेष्टा से मन का भाव जानने वाले, पवित्र चरित्र एवं चतुर व्यक्तियों को दूत नियुक्त करे—

'दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्र विशारदम्।
इंगिताकार चेष्टज्ञं शुचि, दक्षं कुलोद्गतम्।'

दूत राजा के लिए अति आवश्यक हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कार्यों की देखभाल के लिए राजा को विभिन्न प्रकार के अध्यक्षों की नियुक्ति करनी चाहिए।

मनु ने प्रजा के धर्माचरण को बहुत महत्व प्रदान किया है। यदि प्रजाजन वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्थाओं का पालन करते रहें, कुल-धर्म का निर्वाह करते रहें तो समाज में सदैव सुख-शान्ति बनी रहती है।

राजा और प्रजा दोनों को अपने-अपने धर्म का पालन करने की प्रेरणा देने के लिए पुरोहित की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण हो जाती है। पुरोहित राजा और राज्य के आध्यात्मिक व धार्मिक कल्याण को सुनिश्चित करता है। मनु का यह भी विचार है कि यदि पुरोहित राज्य व समाज के विरुद्ध कार्य करता है तो उसे भी दंण्डित करने का अधिकार राजा को प्राप्त है।

7.5 विधि

भारतीय राज-दर्शन की परम्परा में राजा या उसकी मंत्रिपरिषद् को विधि बनाने का अधिकार नहीं दिया गया है। आधुनिक राज्यों में विधि का अन्तिम स्रोत वे संसदें होती हैं जिनका निर्वाचन जनता के द्वारा समय-समय पर किया जाता है। भारतीय राजशास्त्र में यह दृष्टिकोण अमान्य है। भारतीय परम्परा में विधि को सनातन माना गया है। जिसके लिए 'ऋत' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'ऋत' राजा और राज्य के पूर्व विद्यमान है। राजा का कार्य 'ऋत' पर आधारित सामाजिक परम्पराओं व आचारों को क्रियान्वित करना मात्र है। श्रुति और स्मृति 'ऋत' को प्रकट एवं स्पष्ट करती हैं, और यही विधि के मुख्य स्रोत हैं।

वैदिक परम्परा का अनुसरण करते हुए मनु ने विधि के चार स्रोत माने हैं—श्रुति, स्मृति, सदाचार और आत्म-प्रेरणा या आत्म तुष्टि। वेद जो कि अपौरूषेय है, विधि का प्रथम स्रोत है। वेद स्वयं-प्रमाण है, नित्य है और धर्म एवं अधर्म का प्रतिपादक है। वेद 'ऋत' को प्रकट करता है और उसका सामाजिक स्वरूप ही विधि या धर्म के रूप में व्यवहार में लाया जाता है। 'ऋत' से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखने वाले वेद ही समाज के आदर्श एवं आधार हैं। विधि का दूसरा स्रोत स्मृति है। मनु ने स्मृति का अर्थ 'वेदज्ञों का स्मरण' माना है—'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।' स्मृतियाँ वेद पर आधारित हैं और वैदिक ज्ञान को सामाजिक आचार में परिणत करने का माध्यम हैं। स्मृतियाँ विधि और निषेध दोनों ही प्रस्तुत करती हैं। विधि के स्रोतों में तीसरा स्थान सदाचार का है। सदाचार का आधार शिष्टों का आचरण माना गया है और ऐसा आचरण दीर्घ परम्परा से विकसित होता है। सदाचार का श्रुति एवं स्मृति से विरोध नहीं होता। मनु ने सरस्वती एवं दृषद्वती की भूमि को ब्रह्मावर्त माना है और वहीं के परम्परा से प्राप्त आचार को सदाचार माना है। इस प्रकार सदाचार में देश, जाति व कुल के वे आचार आते हैं जो वेद-विरुद्ध न हों। मनु नास्तिकों व पाखंडियों के आचरण को कतई अस्वीकार कर देते हैं। देश-भेद से आचारों में अन्तर पड़ सकता है, इसलिए विभिन्न प्रकार के आचार राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त होते हैं। राजा का यह कर्तव्य है कि विवादों का निर्णय करते समय कुल, श्रेणी, जाति आदि के आचारों का ध्यान रखे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राजा को सदाचार को संशोधित अथवा नियंत्रित करने अधिकार प्राप्त नहीं है। मनु ने आत्म-तुष्टि को विधि का चतुर्थ स्रोत माना है। श्रुति, स्मृति व सदाचार से जब निर्णय करना संभव न हो और उनमें परस्पर असंगतियाँ उत्पन्न हो जाएं, उस दशा में आत्म-तुष्टि का प्रयोग किया जाना चाहिए। इस प्रकार आत्म-तुष्टि सन्देह निवारण का साधन माना गया। आधुनिक विधिशास्त्र में विवेक (Discretion) एवं औचित्य (Equity) का प्रयोग लगभग उसी अर्थ में होता है जो आत्म-तुष्टि का अभिप्राय है।

इस प्रकार मनुस्मृति राजा, मंत्रिपरिषद् या समिति को विधि-निर्माण का अधिकार नहीं प्रदान करती। धर्म एवं नीति की रचना स्वयं परमात्मा ने की है और राजा का दायित्व उनके निर्देशों का क्रियान्वयन करना मात्र है। प्रसिद्ध विधि शास्त्री एन० सी० सेनगुप्त का विचार है कि मनु या कोई शास्त्रकार राजा को विधायक (Law giver) नहीं मानते। मनुस्मृति का भाष्य करते हुए मेधातिथि ने लिखा है कि धर्म को जो इष्ट हो राजा उसी के अनुसार व्यवस्था करे। राजाज्ञा या राजशासन शास्त्राचार के विरुद्ध नहीं होने चाहिए। राजा विधायक न होकर न्यायकर्ता है।

7.6 राष्ट्र

राज्य का तीसरा अंग राष्ट्र होता है। 'राष्ट्र' शब्द वेदों में प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद में पृथ्वी को माता कहा गया है और उसका आह्वान किया गया है कि वह राष्ट्र को बल एवं दीप्ति प्रदान करें। कामन्दक ने 'नीतिसार' में कहा है कि राज्य के सभी अंगों का उद्‌भव राष्ट्र से होता है अतः राजा को हर संभव

प्रयत्न द्वारा राष्ट्र की वृद्धि करनी चाहिए। राष्ट्र राज्य का भौतिक आधार है। मनु का निर्देश है कि राजा को राज्य की स्थापना ऐसे क्षेत्र में करनी चाहिए जहाँ पानी न जमा रहता हो, जहाँ प्रचुरमात्रा में अन्न उपजता हो, जहाँ अधिकतर आर्यों का वास हो, जहाँ लोग रोग व व्याधि से मुक्त रह सकें, जहां आस-पास के रहने वाले विनीत हों और जहाँ जीविका के साधन सरलता से उपलब्ध हों। मनु ने यह भी कहा है कि जिस देश में नास्तिकों की संख्या बहुत अधिक हो और द्विज बिल्कुल भी न हों, वह देश व्याधियों और दुर्भिक्षों से आक्रान्त होकर नष्ट हो जाता है।

मनुस्मृति के द्वितीय अध्याय में भारत के ब्रह्मावर्त, कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पंचाल एवं शूरसेन नामक पवित्र भागों के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की गई है। उन्होंने दो प्रकार की भूमि का विभाग किया है—यज्ञीय और म्लेच्छ देश। वे आर्यों को इसी आर्यावर्त से विकसित मानते हैं जिन्होंने अपने गुणों व चरित्र से सम्पूर्ण मानवता का मार्गदर्शन किया है—

> 'एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन:।
> स्वे स्वे चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवा:।'

एक राष्ट्र प्रशासन को कुशल संचालन की दृष्टि से प्रान्तीय और स्थानीय शासन की इकाइयों में विभक्त होना चाहिए। मनु ने ग्राम को राज्य की संस्कृति, कला और व्यापार का केन्द्र माना है। मनु का कहना है कि राजा द्वारा एक ग्राम में, 10 ग्रामों के दल में, 20 ग्रामों, 100 ग्रामों एवं 1000 ग्रामों के दलों में क्रम से उच्चतर अधिकारियों की नियुक्ति की जानी चाहिए जिन्हें अपने-अपने अधिकार क्षेत्र का समुचित ज्ञान हो और यदि वे अपने कार्यों के सम्पादन में कोई कठिनाई पाते हैं तो उन्हें अपने से उच्चतर अधिकारी को सूचित करना चाहिए। राजा के किसी मंत्री को इन अधिकारियों के कार्यों की देखभाल करनी चाहिए और उनके आपसी विवादों का निर्णय करना चाहिए। राजा को कुलीन एवं बुद्धिमान अधिकारियों की नियुक्ति ग्रामों में करनी चाहिए। इन अधिकारियों के वेतन के विषय में मनु का कथन है कि 'ग्राम के मुखिया को वे ही वस्तुएं मिलनी चाहिए जो प्रीतिदिन राजा को मिलती हैं यथा-भोजन, पेय पदार्थ, ईंधन आदि। दस ग्रामों के अधिकारी को एक 'कुल' (अर्थात् इतनी भूमि जो एक कुटुम्ब की जीविका चला सके), बीस ग्रामों से अधिक वाले को पाँच 'कुल', एक सौ ग्रामों के अधिकारी को एक ग्राम का भूमिकर तथा एक सहस्र ग्रामों के अधिकारी को एक नगर का कर मिलना चाहिए।' मेधातिथि का विचार है कि मनु के इस कथन से अधिकारियों की स्थिति एवं दायित्व का बोध होता है।

जिस प्रकार पूरे ग्राम की एक सामान्य व्यवस्था का उल्लेख है, उसी प्रकार मनु ने वहाँ की श्रेणियों व गणों के कार्य-परिचालन के नियमों का उल्लेख किया है। राजा को चाहिए कि वह उनके विशेष नियमों व कार्यों को संरक्षण प्रदान करे। मनु ने ग्रामों व बड़ी बस्तियों के चारों ओर चरागाह बनाने का भी निर्देश दिया है ताकि पशु-पालन का कार्य हो सके। इस प्रकार मनु ने ऐसे विकेन्द्रित शासन का प्रतिपादन किया है जिसमें स्थानीय संस्थाओं को स्वायत्तता प्राप्त हो एवं स्थानीय मान्यताओं एवं लोकाचारों को संरक्षण।

7.7 दुर्ग या राजधानी

राजधानी या दुर्ग को भारतीय राजशास्त्र में शासन यंत्र की धुरी माना गया है। धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से राजधानी को बहुत महत्ता प्रदान की गयी है जिसका उत्कर्ष एवं जिसकी सुरक्षा राज्य का परम दायित्व माना गया है। इसलिए मनु एवं अन्य राजशास्त्रकारों ने पुर या दुर्ग को राष्ट्र के उपरान्त स्थान दिया है। राजधानी राष्ट्र की सम्पत्ति का दर्पण है, राष्ट्र का हृदयस्थल है, अत: ऊँची-ऊँची दीवारों से उसकी सुरक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। दुर्ग की स्थिति से राजा की सुरक्षा, प्रजा एवं कोश की रक्षा संभव होती है। मनु ने दुर्ग-निर्माण के कारण को स्पष्ट करते हुए कहा है कि दुर्ग में अवस्थित एक धनुर्धर सौ धर्नुधरों को एवं सौ धर्नुधर एक सहस्र धर्नुधरों को मार गिरा सकते हैं।

मनु ने छ: प्रकार के दुर्ग बताए हैं—धान्वदुर्ग जो कि जल विहीन खुली भूमि पर 5 योजन के घेरे में

बनाया जाता है। महीदुर्ग जोकि प्रस्तरखंडो व ईंटों से बनाया जाता है एवं 12 फुट से अधिक चौड़ा एवं चौड़ाई से दुगुना ऊँचा होता है। जल-दुर्ग जो चारों ओर जल से घिरा हुआ होता है। वार्क्ष-दुर्ग जो एक योजन तक चारों ओर से कंटीले एवं लम्बे-लम्बे वृक्षों, लता-गुल्मों एवं झाड़ियों से आवृत्त हो। नृ दुर्ग जो चारों ओर से चतुरंगिनी सेना से सुरक्षित हो और गिरि-दुर्ग जो पहाड़ पर स्थित हो, जहाँ तक पहुँचने को एक संकीर्ण मार्ग हो और जिस पर चढ़ना अत्यन्त कठिन हो। मनु ने गिरि दुर्ग को सर्वश्रेष्ठ माना है क्योंकि इसको जीत पाना बहुत कठिन है।

राज्य की राजधानी दुर्ग के भीतर अथवा स्वतंत्र रूप से निर्मित हो सकती है। मनु ने राजधानी के निर्माण के विषय में उल्लेख किया है। राजमार्गों की व्यवस्था, राजप्रासाद व अन्य मंत्रियों के आवास, देव मन्दिर आदि के निर्माण का वर्णन किया गया है।

7.8 सारांश

इस इकाई में आपने मनुस्मृति में प्रतिपादित सप्तांग राज्य के चार अंगो-राजा, मंत्रिपरिषद्, राष्ट्र एवं दुर्ग का अध्ययन किया। मनु ने राजा को राजनीतिक व्यवस्था का सूत्रधार माना है, उसके महत् दायित्व हैं परन्तु वह निरंकुश व स्वेच्छाचारी नहीं है। राजा के आभाव में अराजकता एवं मात्स्य न्याय का बोलबाला हो जाएगा। राजा आठ लोकपालों के अंशों से निर्मित है और उसमें देवतुल्य गुण होने चाहिए तभी वह प्रजा पालन का अपना कर्तव्य निबाह सकता है। मनु ने राजा के लिए कठोर नैतिक अनुशासन की व्यवस्था की है। राजा दण्ड-शक्ति को धारण करता है और इसका निष्पक्ष एवं प्रभावशाली उपयोग उसका धर्म है।

राज्य-संचालन एक दुष्कर कार्य है, अत: राजा को मंत्रिपरिषद् का निर्माण करना चाहिए। मनु ने 7 या 8 मंत्रियों की आवश्यकता बताई है। मंत्रियों की नैतिक एवं बौद्धिक श्रेष्ठता पर वह बहुत बल देते है। राज्य का तीसरा अंग राष्ट्र है जो राज्य का भौतिक आधार है। राष्ट्र ऐसे भूभाग में अवस्थित हो जो स्वास्थ्यकारक, सुरक्षित, उर्वर एवं प्राकृतिक सौन्दर्य से युक्त हो। मनु ने आर्यावर्त और इसकी निवासी-आर्यजाति को श्रद्धा एवं सम्मान का पात्र माना है। राज्य का चौथा अंग दुर्ग या राजधानी है जो सुदृढ़ प्राचीरों से घिरी होनी चाहिए ताकि राजा, प्रजा व उनकी सम्पत्ति सुरक्षित रहे।

मनु ने विधि के स्वरूप व स्रोत पर भी विचार किया है। विधि के चार स्रोत होते हैं—श्रुति, स्मृति, सदाचार एवं आत्म-तुष्टि। राजा विधि निर्माता नहीं है, उसका दायित्व श्रुति व स्मृति से प्राप्त नियमों व सिद्धान्तों को समाज में स्थापित करने का है।

7.9 उपयोगी पुस्तकें

1. भारतीय विचारधारा – डॉ० हरिहर नाथ त्रिपाठी
2. भारतीय राजशास्त्र के प्रणेता – डा० श्याम लाल पाण्डेय
3. History of Dharma Shastra - Dr. P. V. Kane II Vol. (हिन्दी अनुवाद भी उपलब्ध)
4. Aspects of the Social and Political System of Manu Smriti - K. V. Rangaswany Aiyanger.

7.10 सम्बन्धित प्रश्न

वर्णनात्मक प्रश्न :

1. मनु द्वारा प्रतिपादित राजधर्म की व्याख्या कीजिए।
2. 'मनु ने राजा के देवत्व का प्रतिपादन किया है, राजा के दैवीय अधिकार सिद्धान्त का नहीं।'

इस कथन की विवेचना कीजिए।

3. मंत्रिपरिषद् पर मनु के विचारों का वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. विधि पर मनु के विचार स्पष्ट कीजिए।
2. राज्य में राजधानी का क्या महत्व है?
3. मनु का राजत्व सिद्धान्त यूरोप के राजा के दैवीय अधिकार सिद्धान्त से किस प्रकार व कहाँ तक भिन्न है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. मनु ने मंत्रिपरिषद् की सदस्य संख्या कितनी निर्धारित की है?

    (अ) 12 (ब) 5

    (स) 10 (द) उक्त में से कोई नहीं

2. मनु के अनुसार निम्न में कौन विधि का स्रोत नहीं है—

    (अ) राजा (ब) श्रुति

    (स) सदाचार (द) स्मृति

3. चारों ओर से चतुरंगिणी सेना द्वारा घिरे दुर्ग को क्या कहते हैं?

    (अ) धान्व दुर्ग (ब) महीदुर्ग

    (स) नृ-दुर्ग (द) गिरि दुर्ग

7.11 प्रश्नोत्तर

1. द 2. अ 3. स

इकाई 8. कोष, बल एवं मित्र

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य
8.1 प्रस्तावना
8.2. कोष
8.2.1 करों के प्रकार
8.3 बल
8.4 मित्र
8.5 दूत एवं चर
8.6 न्याय एवं दंड
8.7 समीक्षा
8.8 सारांश
8.9 उपयोगी पुस्तकें
8.10 सम्बन्धित प्रश्न
8.11 प्रश्नोत्तर

8.0 उद्देश्य

- इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप मनु के कोष, बल एवं मित्र सम्बन्धी विचारों को जान सकेंगे।
- न्याय एवं दण्ड पर मनु के विचारों को जान सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

राज्य रूपी शरीर के सात अंगों में कोष, बल एवं मित्र का भी अत्यन्त महत्व है और इनकी समुचित व्यवस्था के बिना राज्य का सुचारू संचालन नहीं हो सकता। भारतीय परम्परा में 'अर्थ' एक पुरुषार्थ है, और राज्य प्रबन्ध में भी अर्थ का बहुत महत्व है। यदि राजा अर्थ-संचय के लिए प्रयत्नशील नहीं है तो प्रजापालन के अपने कर्तव्य का निर्वहन नहीं कर सकता। राज्य की शक्ति का संवर्धन करने में सैन्य-संगठन की भी महत्वपूर्ण भूमिका है। एक बलहीन राष्ट्र आन्तरिक एवं बाह्य शत्रुओं का सामना नहीं कर सकता और अन्तत: अपने अस्तित्व को ही गंवा बैठता है। परराष्ट्र नीति का उद्देश्य राज्य के लिए मित्र-मंडल का संचय करना होता है क्योंकि मित्र भी राज्य के अस्तित्व व उन्नयन के लिए अति आवश्यक हैं।

मनु स्मृति में राज्य के इन तीन अंगों का जो विवेचन प्रस्तुत किया गया है, उसका उल्लेख निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

8.2 कोष

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में कहा है—"कोषमूला: कोषपूर्वा: सर्वारम्भा:। तस्मार्पूर्वं कोशमवेक्षेत्।" अर्थात् राज्य के सारे व्यापार, सारे क्रियाकलाप कोष पर निर्भर रहते हैं अत: राजा को कोष पर सर्वप्रथम ध्यान देना चाहिए। विष्णु धर्मोत्तर पुराण में कोष को राज्य की जड़ माना गया है। वस्तुत: प्राचीन भारत में कोष एवं सेना को राज्य के दो स्तंभ माना जाता था।

मनु ने भी आर्थिक शक्ति को बहुत महत्वपूर्ण माना है। इसके अभाव में राजा राज्य का संचालन नहीं कर सकता। मनु का कहना है कि राज्य का कोष एवं शासन राजा पर निर्भर है अत: राजा को उस पर व्यक्तिगत ध्यान देना चाहिए। कोष-वृद्धि का उपाय करारोपण है, और मनुस्मृति में कर लगाने के लिए निम्नलिखित चार सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं—

(1) कर इतनी अल्पमात्रा में लगाया जाना चाहिए कि प्रजा को पता भी न चल पाए कि वह कर दे रही है। कर की मात्रा में यदि वृद्धि करने की आवश्यकता हो, तो यह वृद्धि शनैः शनैः करनी चाहिए क्योंकि करों का एकाएक भार आ जाने पर जनता में विद्रोह संभव है। मनु के शब्दों में, 'जिस प्रकार जोंक, बछड़ा एवं मधुमक्खी थोड़ा-थोड़ा करके अपनी जीविका के लिए रक्त, दूध या मधु लेते हैं, उसी प्रकार राजा को अपने राज्य में वार्षिक कर अल्प मात्रा में लेना चाहिए। अधिक कर लेकर राजा को न तो अपनी और न ही दूसरे की जड़ काटनी चाहिए।'

(2) मनु राजा को प्रजा से कर ग्रहण करने का अधिकारी उसी दशा में मानते हैं जबकि वह प्रजा की रक्षा करता हो—

'रक्षणादार्थ वृत्तानां कंटकानां च शोधनात्,
नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालन तत्परा।'

स्वर्ग प्राप्ति का अधिकारी उसी राजा को माना गया है जो प्रजापालन में निरन्तर तत्पर रहता है। जो प्रजापालन न करे परन्तु प्रजा से कर ग्रहण करे, ऐसे राजा को नरक का भागी होना पड़ता है। इतना ही नहीं, उसे प्रजा के सम्पूर्ण पापों का भार भी वहन करना पड़ता है।

'यो अरक्षन्बलमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः
प्रतिभागं च दण्डं च स सद्यो नरकं व्रजेत।'

'शुक्रनीति' और 'महाभारत' आदि ग्रन्थों में भी राजा को प्रजा की रक्षा करने के कारण ही करों का भोक्ता बताया गया है।

(3) मनु ने लाभ पर कर लगाये जाने का समर्थन किया है। क्रय-विक्रय, मार्गव्यय, भरण पोषण, रक्षा आदि व्यय एवं निर्वाह सम्बन्धी व्ययों को देखकर ही व्यापारियों पर कर लगाना चाहिए।

'क्रय-विक्रयमध्वानं भक्त च सपरिव्ययम्,
योग-क्षेम च सम्प्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान्।'

इस प्रकार कर लगाते समय इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि राजा एवं राज्य दोनों का कल्याण हो।

(4) मनु के अनुसार कर नीति का उद्देश्य प्रजा का शोषण करना नहीं होना चाहिए। जो राजा अधिक कर लेने की लिप्सा से ग्रस्त है, वह अपना व प्रजा का शत्रु है। यह राजा की मूर्खता ही होगी यदि वह सामर्थ्य से अधिक कर ग्रहण करता है। जिस प्रकार शरीर के शोषण से प्राणियों के प्राण क्षीण होते हैं, उसी प्रकार राष्ट्र के शोषण से राजा के प्राण क्षीण हो जाते हैं।

'शरीर कर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा,
तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात्।'

इस प्रकार मनु ने करारोपण के कुछ सिद्धान्त निश्चित किए हैं ताकि राजा, कर-ग्रहण करने में निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी न हो जाए। मनु का विचार है कि प्रजाजनों की रक्षा करने के लिए कर राजा का वेतन है। कालिदास ने 'रघुवंश' में लिखा है कि राजा सूर्य के समान है जो समुद्र से जल सोखकर पुनः वर्षा करता है।

8.2.1 करों के प्रकार

'मनुस्मृति' में राजा द्वारा लगाए जाने वाले करों में 'बलि' का उल्लेख आया है। मनु कहते हैं कि राजा आप्त पुरुषों के द्वारा प्रजा से वार्षिक बलि ग्रहण करे और उसके द्वारा प्रजा का पालन करे। यह कर मुख्य रूप से ग्रामवासियों से संग्रहीत कर राजकोष में भेजा जाता था। राजा उपज का छठा अंश ग्रहण करता था। राजा का कर के रूप में बलि ग्रहण करने का विधान अन्य प्राचीन ग्रंथों में भी प्राप्त होता है।

राजा को 'शुल्क' के द्वारा भी राजकोष की वृद्धि करनी चाहिए। शुल्क एक प्रकार की चुंगी है।

मनुस्मृति में यह स्पष्ट नहीं है कि शुल्क किन-किन स्थानों पर लिया जाना चाहिए, पर सामान्यत: यह कर राज्य या नगर आदि की सीमाओं पर व्यापारियों से लिया जाता था। मनु का मत है कि यदि कोई व्यक्ति बिना शुल्क दिए अथवा माल बेचते हुए पकड़ा जाए तो राजा को उस पर आठ गुना जुर्माना करना चाहिए। मनु ने शुल्क दर विभिन्न सामग्रियों की अलग-अलग निश्चित की है। राजा को शुल्क निर्धारित करते समय व्यापारी द्वारा किए गए विभिन्न प्रकार के व्यय और उसके भरण पोषण का ध्यान रखना चाहिए। मनु ने राजा को निर्देश दिया है कि निषिद्ध वस्तुओं का विक्रय करने वाले और बाजार को छोड़कर अन्य स्थानों पर बिना कर दिए माल बेचने वालों का सर्वस्व हरण कर लिया जाए।

मनु ने एक अन्य कर 'संतरण कर' का भी उल्लेख किया है। पुल से जाने वाली गाड़ी पर एक पण, भारवाहक मनुष्य पर आधा पण, गाय बैल आदि पशुओं और स्त्री पर एक चौथाई पण और अन्य मनुष्यों पर 1/8 पण सन्तरण कर के रूप में लिया जाना चाहिए। भरी गाड़ी पर माल के अनुसार कर लगाया जाना चाहिए। खाली गाड़ी एवं निर्धनों पर कर नहीं लगाया जाना चाहिए। तारण-व्यवस्था राजा के अधीन होती है अत: नाव में बैठे लोगों की जान माल की क्षतिपूर्ति राजा को करनी चाहिए।

मनु ने पशु कर का भी उल्लेख किया है। मनु के अनुसार राजा को पशु-व्यापारी पर कर लगाना चाहिए जो लाभ का पच्चीसवां भाग हो। मनु ने शिल्पियों व श्रमजीवियों से लिये जाने वाले कर को भी राज्य की आय का साधन माना है। मनु का मत है कि लोहार, बढ़ई आदि शिल्पियों से महीने में एक दिन राजा को बेगार कराने का अधिकार है—

'कारूकान् शिल्पनश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीविन:,
एकैकं कारयेत्कर्म मासि मासि महीपति:।'

मनु ने आकर कर का भी उल्लेख किया है जिसके अन्तर्गत राजा को प्रजा से स्वर्णलाभ का 25वां भाग कर के रूप में लेना चाहिए। मनु ने अर्थदण्ड को भी राजा का आय का स्रोत माना है। मनु का कथन हैं कि लोभ के लिए एक हजार पण, मोह से झूठ बोलने वाले को साहस दण्ड, भय से साक्ष्य देने वाले को मध्यम व मैत्री से साक्ष्य देने वाले को चौगुना दण्ड देना चाहिए।

8.3 बल

भारतीय राजशास्त्रकारों ने राज्य के अंगों में बल की भी विस्तारपूर्वक चर्चा की है। बल से आशय राज्य की सैन्य-शक्ति से है जिसकी सहायता से शत्रुओं का नाश किया जाता है और राज्य की रक्षा होती है। महाभारत के 'उद्योग पर्व' में बल शब्द का व्यापक अर्थों में प्रयोग हुआ है। बल के पाँच प्रकार बताए गए हैं—बाहुबल, अमात्यबल (वह बल जो श्रेष्ठ मंत्रियों के होने से प्राप्त होता है,) धनबल (वह बल या शक्ति जो धन से प्राप्त होती है), अभिजात बल (वह शक्ति जो श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न होने से प्राप्त होती है) और प्रज्ञाबल (ज्ञान से प्राप्त बल)। महाभारत में कहा गया है कि सेना तो बल या शक्ति का निकृष्ट प्रकार है और सर्वोत्तम बल तो प्रज्ञा बल होता है। (यद् बलानां बलं श्रेष्ठं तत्प्रज्ञाबलमुच्येत्)। फिर भी राज्य के रक्षण एवं उन्नयन के लिए सेना बल का विशेष महत्व है, और मनु ने भी सेना और युद्धनीति का विवेचन किया है।

जहाँ तक सेना के संगठन का प्रश्न है, मनु भी सेना के चार भाग मानते हैं—हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल। हाथी, घोड़े, रथ एवं पैदल सेनाओं के दश अंगों के पति पत्तिक कहते हैं एवं दस पत्तिकों के पति को सेनापति कहते हैं। दस सेनापतियों के पति को को बलाध्यक्ष या सेनाध्यक्ष कहते हैं। मनु ने युद्ध के समय सेना को संगठित करने के लिए व्यूह-रचना का भी उल्लेख किया है। ये व्यूह इस प्रकार हैं—दण्ड व्यूह, शकट व्यूह, वराह व्यूह, मकर व्यूह, सूची व्यूह, गरूड़ व्यूह एवं पदम व्यूह।

मनु स्मृति में विभिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का भी उल्लेख आता है जिसमें बाण, तूणीर, तलवार, परशु आदि प्रमुख हैं। मनु कहते हैं कि समतल भूमि में सवार और रथी सेना की सहायता से युद्ध लड़ना चाहिए, जल में नौका और हाथियों से, वृक्ष और लता से पूर्ण स्थान में धनुष बाण से और

साफ-सुथरी भूमि में तलवार व ढाल से युद्ध लड़ना चाहिए। मनु ने कुरुक्षेत्र, विराट, पांचाल और मथुरा के योद्धाओं की बहुत प्रशंसा की है और कहा है कि यहाँ के योद्धाओं को सेना में सबसे आगे स्थापित करना चाहिए।

8.4 मित्र

राज्य के सप्तांगों में मित्र का विशेष स्थान है। मनु ने राजा के लिए मित्र की आवश्यकता पर बहुत बल दिया है और राजा के लिए अच्छे मित्र के गुणों का वर्णन किया है। मनु ने कहा है कि 'राजा सोना अथवा भूमि पाकर उतना समृद्धिशाली नहीं होता जितना कि अटल मित्र प्राप्त कर, भले ही वह मित्र कम कोष वाला हो। भविष्य में ऐसा मित्र समृद्धिशाली होकर बहुत सहायक हो सकता है। एक दुर्बल मित्र भी प्रशंसनीय है यदि वह गुणवान् एवं कृतज्ञ हो, उसकी प्रजा सन्तुष्ट हो और यदि वह दृढ़ प्रतिज्ञ हो।' मनु कहते हैं कि भूमि, सोना एवं मित्र राजा की नीति या प्रयत्नों के तीन फल हैं।

> 'हिरण्यभूमि संप्रास्या पार्थिवो न तथैधते।
> यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम्।'
> 'धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टि प्रकृतिमेव च,
> अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघुमित्रं प्रशस्यते।'

अर्न्तराष्ट्रीय सम्बन्धों के स्वरूप का प्रतिपादन 'मंडल सिद्धान्त' के द्वारा किया गया है। इस मंडल का-केन्द्र विजिगीषु है अर्थात वह राजा जो विजय की अभिलाषा रखता है। जो राजा अपने राज्य का विस्तार करना चाहता है, जो राज्य के सातों तत्वों से सम्पन्न है, जो उत्साही व उद्योगशील है वह विजिगीषु कहा गया है। मनु आदि सभी आचार्यों ने कहा है कि शत्रु देश को विजित व नियंत्रित कर लेना और मित्रदेशों के साथ सुदृढ़ सम्बन्ध स्थापित करना प्रत्येक राजा का कर्तव्य है।

द्वादश राजन्य मंडल की चार मूल प्रकृतियाँ हैं-मध्यस्थ, विजिगीषु, उदासीन एवं शत्रु। ये चारों स्वतंत्र श्रेणियाँ हैं। अन्य चार-मित्र, मित्र मित्र, आक्रन्द एवं आक्रन्दासार विजिगीषु के मित्रों की श्रेणियाँ हैं और शेष चार-अरिमित्र, अरिमित्र मित्र, पार्ष्णिग्राह एवं पार्ष्णिग्राहासार अरि की श्रेणियों के द्योतक हैं। इस प्रकार उक्त बारह प्रकृतियाँ मंडल में पायी जाती हैं। विजिगीषु बहुत से राजाओं से घिरा रहता है। उसके ठीक सामने का राज्य उसका अरि या शत्रु होता है। अरि की सीमा से सटा राज्य उसका मित्र होता है। उसके बाद वाला राज्य उसके शत्रु का मित्र अर्थात् अरिमित्र होता है। उसके बाद मित्र-मित्र (अर्थात् मित्र का मित्र) और अरिमित्र मित्र (शत्रु के मित्र का मित्र) आते हैं।

विजिगीषु के सम्मुख आने वाला राजा अरि होता है, तो विपरीत दिशा के शासक को पार्ष्णिग्राह कहा जाता है क्योंकि वह विजिगीषु पर पीछे से आक्रमण कर सकता है। पार्ष्णिग्राह भी शत्रु राष्ट्र है जो अवसर का लाभ उठाकर विजिगीषु पर आक्रमण कर सकता है। पार्ष्णिग्राह से आगे के राज्य का राजा आकृन्द कहा जाता है जो वह मित्र राष्ट्र है जिसकी सीमा पार्ष्णिग्राह की सीमा से सटी है। उसके आगे का राज्य पार्ष्णिग्राह का मित्र होगा और इसे पार्ष्णिग्राहासार कहा जाता है। इसी प्रकार आक्रन्द के मित्र को आक्रन्दासार कहा जाता है।

मध्यम राज्य वह है जो विजिगीषु एवं अरि की राज्य-सीमा से सटा हुआ हो और जो दोनों अर्थात् विजिगीषु एवं अरि को सहायता दे सकता हो या दोनों से भिड़ सकता हो। उदासीन राजा वह है जो विजिगीषु के राज्य की सीमा से बहुत दूर हो, जो सभी राजतत्वों से सम्पन्न हो और जो सहायता भी दे सकता हो और भिड़ भी सकता हो।

मंडल सिद्धान्त के मूल में राज्यों के बीच शक्ति-सन्तुलन स्थापित करने की बात निहित है। एक राज्य की कुछ राज्यों से मित्रता रहेगी तो कुछ अन्य से शत्रुता। कुछ राज्य तटस्थ रहेंगे। प्राय: निकटवर्ती या सीमावर्ती राज्यों के साथ शत्रुता के सम्बन्ध होते हैं क्योंकि कोई न कोई विवाद बना ही रहता है। दूसरी ओर दूरस्थ राज्यों के साथ अच्छे एवं मित्रता पूर्ण सम्बन्ध रहते हैं।

इस द्वादश राजन्य-मंडल में प्रत्येक की पाँच प्रकृतियाँ-मंत्री, राष्ट्र, प्रजा, दुर्ग एवं कोष होती हैं, और

इस प्रकार 60 प्रकृतियाँ हुईं। इनमें मूल 12 प्रकृतियाँ मिलाने से कुल 72 प्रकृतियाँ हो जाती हैं। 12 प्रकृतियों को 'राज प्रकृति' एवं 60 (12 के साथ प्रत्येक में 5 राजतत्वों का समावेश) को 'द्रव्य प्रकृति' कहा जाता है। मनु ने कहा है कि राजा को अपने साधनों को इस प्रकार व्यवस्थित करना चाहिए कि उसके शत्रु, मित्र व उदासीन उसकी हानि न कर सकें। यही कुशल राज नीति का लक्षण है।

'यथैनं नाभिसंदध्युर्मित्रोदासीन शत्रव:,
तथा सर्वं संविदध्यादेष सामासिको नय:।'

मनु का विचार है कि राजा को अपनी परराष्ट्र नीति का निर्धारण करते समय 'षाडगुण्य' का भी पूरा विचार करना चाहिए। राज-शक्ति का कुशल और सफल प्रयोग 6 गुणों के ऊपर निर्भर है और यह छह गुण हैं—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव एवं संश्रय। 'सन्धि' का सामान्य अर्थ है मेल या एकता स्थापित करना। इसकी व्याख्या करते हुए मनु कहते हैं कि सन्धि दो प्रकार की हो सकती हैं—वर्तमान या भावी लाभ की आशा से किसी अन्य राजा के साथ मिलकर शत्रु पर चढ़ाई करना अथवा वर्तमान या भविष्य में लाभ की आशा से आपसी सहमति के आधार पर पृथक्-पृथक् शत्रु पर चढ़ाई करना। दो या अधिक राजाओं के बीच तभी स्थिर सन्धि हो सकती है जब उसका आधार धर्मनिष्ठा एवं आस्तिकता हो। 'विग्रह' का सामान्य अर्थ है विरोध या लड़ाई कर लेना। विग्रह भी दो प्रकार का होता है—अपनी विजय अथवा अपनी कार्यसिद्धि के लिए लड़ना एवं मित्र को हानि पहुँचते देख मित्र के शत्रु से लड़ना। 'यान' भी दो प्रकार का होता है—आपत्ति ग्रस्त शत्रु को देखकर अथवा आवश्यक हो जाने पर अकेले ही चढ़ाई करना और स्वयं असमर्थ होने के कारण मित्र की सहायता से चढ़ाई करना। 'आसन' का अर्थ है किले के अन्दर ही बन्द रहना। इसके भी दो भेद हैं—सैन्यबल कमजोर देखकर किले में रह जाना या मित्र के अनुरोध पर किले में रह जाना। 'द्वैधीभाव' का अर्थ मनु इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—कार्यसिद्धि के लिए सेना के दो भाग करके एक दल का नेतृत्व सेनापति को सौंप देना और दूसरे दल का नेतृत्व राजा द्वारा स्वयं करना। बाद के राजनीतिशास्त्रकारों ने द्वैधीभाव का अर्थ दो राजाओं में फूट डाल देना भी माना है। 'संश्रय' का अर्थ है किसी बलवान राजा का आश्रय। मनु ने इसके भी दो प्रकार बताए हैं—शत्रुओं से पीड़ित होने पर उसका मुकाबला करने के लिए किसी शक्तिशाली राजा का आश्रय लेना अथवा भावी पराजय या हानि की आशंका से किसी शक्तिशाली राजा के संरक्षण में चले जाना।

राजा को अपने परराष्ट्र सम्बन्धों का निर्धारण करते हुए इन छह गुणों का भलीभाँति विचार कर लेना चाहिए। मनु का कथन है कि सन्धि करने में यदि भविष्य में काफी लाभ हो रहा हो चाहे वर्तमान में थोड़ा कष्ट ही हो, तो सन्धि अवश्य कर लेनी चाहिए। जब प्रजा में सुख-समृद्धि हो एवं राज्य के पास पर्याप्त कोष एवं युद्ध सामग्री आदि हो तब युद्ध करना चाहिए। अपनी सेना सुसंगठित एवं सबल हो और शत्रु की सेना निर्बल तथा असन्तुष्ट हो तब भी युद्ध करना चाहिए। जब कोष, सेना एवं वाहन आदि क्षीण हो तो शत्रु से समझौता आदि की बातचीत करते हुए दुर्ग में ही रहना चाहिए। शत्रु के बलवान होने पर राजा को अपनी सेना के दो विभाग करके युद्ध करना चाहिए क्योंकि दोतरफा आक्रमण से शत्रु को पराजित करना आसान होता है। साथ ही शत्रु सेना में फूट डाल कर भी राजा अपनी स्थिति सुदृढ़ कर सकता है। यदि राजा देखे कि शत्रु बहुत प्रबल है और उसको पराजित करना कठिन होगा तो उसे किसी धर्मशील व शक्तिशाली राजा का आश्रय ले लेना चाहिए। यदि आश्रय संभव न हो अथवा आश्रय से कोई उद्देश्य सिद्ध होता न दिखाई देता हो, तो पूरी तैयारी से युद्ध करना चाहिए। इस प्रकार जो राजा उक्त 6 गुणों का विचार करते हुए बिना विलम्ब के निर्णय करता है उसे शत्रु, मित्र अथवा उदासीन राजा कभी अभिभूत नहीं कर सकते।

'आसनं चैव यानं च संधिं विग्रहमेव च।
कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैध संश्रयमेव च।'

राजा को राज्य की रक्षा के लिए, प्रजा को नियंत्रित रखने के लिए एवं अपनी राज्य-सीमाएं बढ़ाने के लिए चार उपायों का सहारा लेना चाहिए—साम, दान, भेद एवं दण्ड। साम के पाँच प्रकार माने गए हैं—(1) एक दूसरे के प्रति किए गए अच्छे व्यवहार की चर्चा (2) जीते जाने वाले लोगों के गुणों व कर्मों की प्रशंसा (3) एक दूसरे से मित्रता के सम्बन्धों की घोषणा (4) भविष्य में होने वाले शुभ

परिणामों की चर्चा (5) एक दूसरे की सहायता की तत्परता।

दान के अन्तर्गत निम्न बातों का समावेश होता है—एक दूसरे की धरोहर लौटा देना, एक दूसरे द्वारा सम्पत्ति ग्रहण की स्वीकृति, नवीन वस्तु की भेंट, माँगने पर वस्तु देना। **भेद** में निम्न बातों का समावेश होता है—मंत्रियों, सामंतों या अन्य उच्चाधिकारियों को घूस या भेंट देना, राजा व मंत्रियों के बीच अविश्वास उत्पन्न करना, अन्त:पुर में गलतफहमी पैदा करना, राजा व धनिकों के बीच भेद उत्पन्न करना। भेद उपाय का प्रयोग गुप्तचरों के माध्यम से किया जाता है। **दण्ड** का अर्थ है—अपने देश में अपराधी को शारीरिक दण्ड या धनदण्ड देना, शत्रुओं से युद्ध करना, शत्रु-नाश करना, लोगों को बन्दी बनाना, धन-धान्य पशु, दुर्ग आदि पर नियंत्रण कर लेना, ग्रामों-जंगलो को जलाना आदि। इस प्रकार राजा को इन चार उपायों के द्वारा न केवल अन्य राज्यों वरन् सामान्य लोगों को वश में रखने के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

मनु का विचार है कि इन चार उपायों में साम एवं दण्ड का प्रयोग उत्तम है—

> 'सामादीनामुपायानां चतुर्णामपि पंडिता:,
> सामदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये।'

जहाँ तक अन्य राजाओं से निपटने का प्रश्न है, मनु आदि अन्य राजशास्त्रकार यह मानते हैं कि दण्ड (युद्ध) अन्तिम उपाय होना चाहिए क्योंकि विजय सदैव अनिश्चित है और युद्ध विनाशकारी होते हैं।

मनुस्मृति में युद्ध-कला एवं युद्ध के नियमों का भी विवेचन प्राप्त होता है। सेना प्रबन्ध कैसा हो, आक्रमण के लिए प्रस्थान कब किया जाए, युद्ध-स्थल कैसा हो, बाह्य व आन्तरिक आपत्तियों को कैसे दूर किया जाए, आदि बातों का विवेचन मनुस्मृति में हुआ है। मार्ग-शीर्ष, फाल्गुन और चैत्र-ये तीन माह शत्रु पर आक्रमण करने के लिए सर्वाधिक उपयुक्त हैं क्योंकि इनमें धरती धनधान्य से सम्पन्न होती है। मार्ग सूखे होते हैं और ऋतु अनुकूल होती है अर्थात् न बहुत सर्दी होती है और न गर्मी। फिर भी अन्य मासों में भी राजा को आक्रमण करने की छूट है बशर्ते विजय की पूरी आशा हो और शत्रु पक्ष दुर्बल एवं असंगठित हो। युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय राजा को अपने देश की व्यवस्था एवं देखरेख किसी विश्वसनीय व सक्षम अधिकारी को सौंप देनी चाहिए। अस्त्र-शस्त्र वाहन.आदि युद्धोपयोगी सामग्री की समुचित व्यवस्था करनी चाहिए। अपनी चतुरंगिणी सेना को प्रसन्न करना चाहिए। मार्गों व दूतों की समुचित व्यवस्था करनी चाहिए ताकि युद्ध-अभियान सुचारूरूप से चल सके और शत्रु पर पूरी शक्ति एवं तैयारी के साथ आक्रमण किया जा सके। युद्ध के दौरान राजा को बहुत सावधान रहना चाहिए, शत्रु व मित्र राजाओं का ठीक से निश्चय करना चाहिए। सेनापतियों व सेनाध्यक्षों को स्पष्ट एवं सुनिश्चित दायित्व सौंपने चाहिए। युद्ध में व्यूह-रचना का बहुत महत्व है और इसलिए अवसर की आवश्यकता के अनुरूप व्यूह रचना करनी चाहिए। सैनिकों का उत्साहवर्धन भी बहुत आवश्यक है। सैनिकों की चेष्टाओं व कार्यों पर निरन्तर निगरानी रखनी चाहिए ताकि वे लक्ष्य एवं रणनीति से भटक न जाएं या शत्रु-पक्ष में न जा मिलें। मनु ने युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय शुभ-अशुभ मुहूर्त का विचार करने पर भी बहुत बल दिया है। युद्ध में विजय-प्राप्ति के उपरान्त राजा देवता एवं सद्विप्रों की पूजा करे, उन्हें भेट प्रदान करे व उनके आर्शीवाद को प्राप्त करे।

प्राचीन भारतीय राजदर्शन में युद्ध की मर्यादाएं मानी गयी हैं। युद्ध धर्म-रक्षा के लिए है, आत्म-रक्षा के लिए है और अन्तिम अस्त्र या उपाय है। राजा को अपने अहं को सन्तुष्ट करने, स्वार्थ की पूर्ति करने या निरुद्देश्य विनाश मचाने के लिए युद्ध करने का अधिकार नहीं है। राजा न तो धर्मशास्त्रों एवं अर्थशास्त्रों में वर्णित युद्ध के उद्देश्य की अवहेलना कर सकता है और न ही वह युद्ध के नियमों में परिवर्तन कर सकता है। **विष्णु पुराण** एवं महाभारत आदि में इसलिए धर्म-युद्ध को पवित्र यज्ञ कहा गया है।

मनु का निर्देश है कि राजा क्षत्रियोचित वीरता एवं प्रतिष्ठा के साथ युद्ध करे। राजा अपने समान स्तर के लोगों के साथ युद्ध करे, दूसरे से लड़ते हुए योद्धा को न मारे, जो कवचहीन हों या जो पीठ दिखा दे उसे न मारे। कपट पूर्ण, गुप्त या मानव के अस्तित्व के लिए घातक हथियारों के साथ राजा युद्ध नहीं कर सकता और न ही उसे विषाक्त या जलती हुई नोकों वाले आयुधों से युद्ध करना चाहिए। जो

नपुंसक हो, जो प्राणरक्षा की भीख माँग रहा हो, जो भूमि पर बैठ गया हो, जो सोया हुआ हो, जिसके आयुध टूट गए हों, ऐसे व्यक्तियों को राजा युद्ध में नहीं मार सकता। मनु का विचार है कि जो राजा अनिन्दित धर्म का अनुसरण करता हुआ युद्ध करता है और आवश्यकता पड़ने पर राष्ट्र-रक्षा के लिए प्राणों का उत्सर्ग कर देता है, वह इस लोक में अक्षय यश और परलोक में सद्गति प्राप्त करता है। मनु ने राजा को यह निर्देश भी दिया है कि विजित राज्यों के प्रति उसे सद्व्यवहार करना चाहिए। विजित देश में प्रचलित आचारों एवं मान्यताओं का राजा को सम्मान करना चाहिए एवं पराजित देश के राजा को मंत्रियों सहित रत्न आदि भेंट कर सन्तुष्ट करना चाहिए।

8.5 दूत एवं चर

अन्य प्राचीन ग्रन्थों की तरह मनुस्मृति में भी दूत और चर का उल्लेख आया है एवं उनके गुणों व दायित्वों का वर्णन किया गया है। दूत और चर या चार में स्पष्ट भेद किया गया है। दूत का परराष्ट्र सम्बन्धों के संचालन में बहुत महत्व है और वह विदेश में राजा के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है और राष्ट्र की रक्षा व उसके हित-संवर्धन के लिए प्रयत्नशील रहता है। चर या चार से अभिप्राय गुप्तचरों से है जो देश के अन्दर और विदेशों में भ्रमण करते हुए विरोधियों व शत्रुओं का पता लगाकर राजा को सूचित करते हैं और उनके नाश का उपाय ढूंढ़ते हैं। कामन्दक ने दोनों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि दूत प्रकाश में कार्य करता है और चर छिपकर। दूत का पद एक सम्मानित पद है जो राष्ट्रों के नियमों की सुरक्षा में रहते हैं।

मनु ने राजा को दूत नियुक्त करने का निर्देश दिया है। इन दूतों के गुणों का उल्लेख करते हुए वह कहते हैं कि दूत को सब शास्त्रों में निपुण, संकेत, आकार व चेष्टा से मन के भाव को जाननेवाला, पवित्र एवं चतुर होना चाहिए। उसे देशकाल का ज्ञाता, बातचीत में कुशल और तीव्र स्मरणशक्ति वाला होना चाहिए—

'दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्र विशारदम्।
इंगिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्भवम्॥
अनुरक्तः शुचिदक्षः स्मृतिमान्देशकालवित्,
वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्तये॥'

मनु के अनुसार परराष्ट्र सम्बन्धों का स्वरूप दूत पर निर्भर होता है—'दूते संधिविपर्ययौ' क्योंकि दूत विरोधियों को समर्थक बना सकता है, मित्रों को शत्रु व शत्रुओं को मित्र बना सकता है एवं शत्रु के मित्रों व सहयोगियों में फूट डाल सकता है। दूत के व्यवहार, उसकी पटुता एवं दूरदर्शिता का अर्न्तराष्ट्रीय सम्बन्धों पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

गुप्तचर राजा के आँख व कान हैं। गुप्तचर में इतनी योग्यता होनी चाहिए कि वह लोगों के मन की बात जान ले। उनमें विपत्तियों को सहन करने और कठिन परिश्रम करने की सामर्थ्य होनी चाहिए। मनु ने गुप्तचरों के पंचवर्ग का उल्लेख किया है। ये पाँच प्रकार के गुप्तचर इस प्रकार है—कापटिक, उदास्थित, कृषक, वाणिजक एवं तापस। कापटिक वह गुप्तचर है जो विद्यार्थी का वेश धारण करके रहे, दूसरे के मन को पढ़ने में चतुर हो। उदास्थित वह गुप्तचर है जो साधु का कृत्रिम वेश धारण किए हुए हो, जो बहुत से मठ स्थापित किए हुए हो और यह भ्रष्ट सन्यासी राजा का कार्य करने वाले दूसरे संन्यासियों को भोजन एवं वस्त्र देता हो। कृषक वह गृहस्थ है जो अपनी आजीविका न चला सके लेकिन जो बुद्धिमान व निष्कपट हो और राजा उससे अपनी भूमि में खेती कराए एवं गुप्तचर के रूप में काम ले। वाणिजिक वह गुप्तचर है जो कृत्रिम व्यापारी है और राजा उससे व्यापारी का काम कराता हुआ राष्ट्र व परराष्ट्र के भेद लेता है। तापस ऐसा गुप्तचर है जो तपस्या करने का ढोंग करता है, जिसने सिर मुढ़ा लिया हो या जटाएं बढ़ा ली हों, और वह किसी आश्रम में अन्य मुंडित या जटाधारी कपट शिष्यों के साथ रहकर तपस्या करता है। इस प्रकार पंचवर्ग को नियत करके राजा अपने मंत्रियों आदि के क्रियाकलापों को जाने, विदेशी राजाओं के उद्देश्यों व कार्यों को जाने। गुप्तचर लोग राज्यभर में घूमकर राजा के विषय में एवं शासन कार्य के विषय में जनता के सन्तोष-असन्तोष को जानने का कार्य करें एवं विदेशी राज्यों की गतिविधियों का भी समुचित ज्ञान रखें। गुप्तचरी के महत्व को स्पष्ट

करते हुए कामन्दक ने गुप्तचरों को 'राजा की आँखें' ('चारचर्क्षुमहीपतिः') कहा है।

8.6 न्याय एवं दण्ड

प्राचीन भारत में राजनीति के आचार्यों ने न्यायिक प्रशासन के मूलतः दो उद्देश्य माने हैं—सत्य का ज्ञान प्राप्त करना और विभिन्न वादों या मुकदमों में नियमों का पालन करवाना। शासक का यह परम दायित्व है कि सत्-असत् का विवेचन करते हुए और दण्ड शक्ति का प्रयोग करते हुए अपराध की निवृत्ति करे। मनु और नारद ने राजा की तुलना शल्य-चिकित्सक से की है जो आवश्यकता पड़ने पर अंगच्छेद भी करता है।

मनु ने न्याय को राजा का मुख्य धर्म माना है। प्रजा के भौतिक एवं आध्यात्मिक लक्ष्यों की प्राप्ति में अधर्म प्रायः बाधक बन जाता है, उसे दूर करना ही राजा का धर्म है। मनु ने राजा को न्यायिक शक्ति का अन्तिम आस्पद माना है, परन्तु न्यायिक प्रशासन का संचालन वह अकेले और अपनी इच्छा से नहीं कर सकता है। न्यायिक कार्य करते समय राजा को निस्पृह ब्राह्मण, मंत्री एवं पुरोहित को साथ रखना चाहिए। निर्णय का दायित्व राजा पर है, पर निर्णय के लिए उसे उक्त लोगों से परामर्श करना चाहिए। अपने न्यायिक कार्य का सम्पादन राजा को धर्मशास्त्र के अनुसार ही करना होता है। आवश्यकता पड़ने पर राजा धर्मशास्त्र के अविरुद्ध देश, कुल, जाति तथा कुटुम्ब की परम्परा, रीतिरिवाज और अन्य मान्यताओं का भी ध्यान न्याय करते समय करे।

प्रधान न्यायाधीश को प्राड्विवाक या धर्माध्यक्ष कहा गया है। वह वादी प्रतिवादी से प्रश्न पूछता है और फिर उनके मत पर सभ्यों के साथ विचार करता है। मनु के अनुसार प्रधान न्यायाधीश ब्राह्मण ही होना चाहिए। ब्राह्मण के अभाव में क्षत्रिय या वैश्य न्यायाधीश हो सकता है। न्यायाधीश शास्त्र के प्रति उत्तरदायी होते हैं, राजा के विधान के प्रति नहीं। प्राड्विवाक के साथ तीन सभ्यों को भी सहायक के रूप में नियुक्त किया जाना चाहिए। सभ्यों को वेदों में निष्णात, धर्मज्ञ, सत्यवादी और शत्रु-मित्र में समान भाव रखने वाला होना चाहिए।

मनु ने 18 व्यवहार पदों का उल्लेख किया है। 'व्यवहार' से आशय है झगड़ा या मुकदमा और 'व्यवहार पद' का अर्थ है झगड़े, विवाद या मुकदमें का विषय। मनुष्यों के बीच झगड़े या विवाद के मुख्य विषय इस प्रकार हैं—दूसरे से ऋण लेना देना, दूसरे की वस्तु बेच देना, नौकर का वेतन न देना, सीमा का विवाद, वचन की कठोरता, चोरी, साहस, धन का विभाग, क्रय विक्रय का झगड़ा स्त्री का संसर्ग आदि। न्यायालयों का कार्यक्षेत्र दो भागों में विभक्त रहता है—धर्मस्थीय और कंटक शोधन। धर्मस्थीय में विवाह, स्त्रीधन, ऋण, साहस आदि के मुकदमें आते हैं एवं कंटक शोधन में सामान्यतः वे अपराध जैसे डाका, हत्या, आते हैं जिनसे समाज एवं राष्ट्र की व्यवस्था को चुनौती मिलती है।

मनु ने दण्ड को विधि की प्रमुख विशेषता ही नहीं बताया है अपितु दोनों को समानार्थी माना है। मनु के अनुसार पवित्र व्यक्ति दुर्लभ हैं। घृणा, द्वेष, ईर्ष्या आदि प्रवृत्तियों के कारण मनुष्य अपराध एवं पाप की ओर चला जाता है। अधर्म से बचने एवं धर्म की संस्थापना करने के लिए ब्रह्मा ने ब्रह्मतेजमय दण्ड की सृष्टि की। वह ब्रह्मा का पुत्र है, श्याम वर्ण एवं लोहित आँखों वाला पाप का नाशक है। इसके चार दांत एवं चार भुजाएँ हैं। इसका उग्र रूप भय उत्पन्न कर देता है। इसके सदुपयोग से प्रजा सुखी रहती है। उसके भय से सभी चराचर अपने कर्तव्य का पालन करते हैं। इस प्रकार दंड की शक्ति व्यक्ति, समाज और सभी से ऊपर है। दंड से ही विविध वर्णों एवं विधि की रक्षा संभव है।

आधुनिक विधि शास्त्रियों ने दण्ड के चार सिद्धान्त बताए हैं—प्रतिशोधात्मक (Retributive), अवरोधात्मक (Deterrent), निरोधात्मक (Preventive) एवं सुधारात्मक (Reformative)। मनुस्मृति में भी इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन मिलता है। दण्ड का एक उद्देश्य प्रतिशोध है, जिसका अपकार होता है वह प्रतिशोध लेने की प्रबल इच्छा रखता है। अतः राज्य का कर्तव्य है कि वह अपराधी को यथासंभव दण्ड देकर उसके अपकार का प्रतिकार करे। मनु ने लिखा है कि यदि कोई

किसी के अंग को चोट पहुँचाता है तो उसका चोट पहुँचाने वाला अंग काट लेना चाहिए। दण्ड का एक उद्देश्य अवरोधात्मक भी है, अर्थात् दण्ड अपराधी में इतना भय उत्पन्न कर दे कि अपराधी पुन: अपराध न करे। चोर जिस अंग से चोरी करे उसका वह अंग ही कटवा देना चाहिए। दण्ड का एक उद्देश्य निरोधक है अर्थात् अपराध की पुनरावृत्ति को रोकना। दण्ड का उद्देश्य सुधारात्मक भी है। अन्तत: अपराधी को उचित मार्ग पर लाना एवं उसकी असामाजिक प्रवृत्तियों को समाप्त करना ही दण्ड का प्रयोजन है। मनु ने लिखा है कि दण्ड का प्रयोग शल्य-चिकित्सा की भाँति किया जाना चाहिए अर्थात् रोग का निदान होना चाहिए न कि रोगी की समाप्ति। दण्ड का कार्य व्यक्ति को शुद्ध करना है—

'राजभि: कृतदंडास्तु कृत्वा पापानि मानवा:,
निर्मला: स्वर्गमायान्ति सन्त: सुकृतिनो यथा।'

भारतीय धर्मशास्त्रों में प्रायश्चित्त पर भी बहुत बल दिया गया है और व्यक्ति-परिष्कार का वह महत्वपूर्ण साधन माना गया है। मोटे तौर से यह कहा जा सकता है कि अपराधों के लिए राजदण्ड की व्यवस्था है और पाप के लिए प्रायश्चित्त की। परन्तु मनुष्य के दुष्कृत्यों का इस प्रकार सीधा एवं स्पष्ट विभाजन न तो संभव है और न ही वांछनीय है। वस्तुत: राजा द्वारा दिया गया दण्ड यदि व्यक्ति-परिष्कार का एक साधन है तो धर्मशास्त्र, परम्परा आदि से स्वीकृत प्रायश्चित्त आत्म-शुद्धि का श्रेष्ठ उपाय है। दण्ड और प्रायश्चित का समुचित समिश्रण ही मनुष्य को सन्मार्ग की ओर ले जाता है और इसी से सामाजिक व्यवस्था का परिशोधन होता रहता है।

मनु ने चार प्रकार के दण्डों की व्यवस्था की है— वाग्दंड या उपदेश, धिग्दंड या धिक्कारना, आर्थिक दंड और शारीरिक दण्ड।

'वाक्दंडं प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तदनन्तरम्,
तृतीयं धनदंडं तु वधदंडमत: परम्।'

ये दण्ड पृथक्-पृथक् या अपराध की गुरुता के अनुसार साथ-साथ प्रयुक्त हो सकते हैं। दण्ड देते समय अपराधी की मनोवृत्ति, अपराध के स्वरूप, अवस्था, वर्ण, विद्वत्ता, आर्थिक स्थिति आदि का विचार कर लेना चाहिए। यदि किसी अपराधी पर शारीरिक दण्ड का प्रभाव न हो तो उसे चारों प्रकार के दण्ड देकर नियंत्रित किया जाना चाहिए।

मनु ने दण्ड की क्रमिकता को स्वीकार किया है। उनके अनुसार पहले वाग्दंड देना चाहिए। यदि इससे अपराधी में सुधार नहीं हो तो धिग्दंड दिया जाना चाहिए। इसके बाद अर्थदण्ड और यदि इससे भी अपराध की निवृत्ति नहीं होती तो शारीरिक दण्ड और अन्तत: मृत्युदण्ड दिया जा सकता है। वाग्दण्ड और धिग्दंड में अन्तर यह है कि वाग्दण्ड में गुणवान अपराधी की भर्त्सना की जाती है जैसे 'आपने यह अच्छा काम नहीं किया, ऐसा दुबारा मत कीजिएगा।' धिग्दण्ड में भर्त्सना के आगे धिक्कार एवं अपशब्दों का प्रयोग किया जाता है, जैसे 'मूर्ख! तुझे धिक्कार है, तू महापापी है जो ऐसा कर बैठा।' अर्थदंड के अनेक भेद हैं। अर्थदण्ड राज्य की आय का स्रोत है पर महापातकों से प्राप्त जुर्माना राजा नहीं लेता, वह ब्राह्मण या वरूण देवता को दान में दे दिया जाना चाहिए। जुर्माने का एक अंश पीड़ित व्यक्ति को भी दिया जाना चाहिए। मृत्युदण्ड अन्तिम दंड है जो गंभीर अपराधों में महापातकों को दिया जाना चाहिए।

मनु ने दण्ड-व्यवस्था को वर्ण से भी संयुक्त किया है। एक ही अपराध में वर्ण के आधार पर पृथक्-पृथक् दण्ड की व्यवस्था की गयी है। उदाहरण के लिए चोरी करने पर शूद्र को चोरी से आठ गुना, वैश्य को सोलह गुना, क्षत्रिय को बत्तीस गुना और ब्राह्मण को चौंसठ गुना दण्ड देने का विधान मनुस्मृति में किया गया है। इसी प्रकार जिस अपराध पर साधारण मनुष्य को एक पण दंड देना होगा, यदि राजा वह अपराध करे तो उस पर सहस्र पण दण्ड देने का विधान है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री केवल मोतवानी का विचार है कि मनु और अन्य धर्मशास्त्रकार यह मानते हैं कि जो व्यक्ति सामाजिक व्यवस्था में उच्च स्थिति में है, उससे नैतिक एवं मर्यादित आचरण की उतनी ही अधिक अपेक्षा की जाती है। उसका आचरण समाज के अन्य लोगों का पथ प्रदर्शन करता है। अत: उसका

पथभ्रष्ट होना या कर्तव्यच्युत होना उतना ही अधिक निन्दनीय है एवं इसलिए वह अन्यों की अपेक्षा अधिक कठोर दण्ड का भागी है। इसके साथ ही मनु वर्णाश्रम धर्म को समाज की आधारशिला मानते हैं, अत: वर्णाश्रम धर्म से च्युत होने पर वह व्यक्ति के लिए वर्णानुसार दण्ड की व्यवस्था करते हैं।

मनु ने न्यायिक प्रक्रिया के विभिन्न पक्षों जैसे वाद का प्रवेश, प्रतिवादी का आह्वान, प्रमाण और साक्ष्य, निर्णय का आधार, पुर्नविचार आदि का भी विस्तृत विवेचन किया है। मनु द्वारा प्रतिपादित न्याय व दण्ड सम्बन्धी मान्यता और न्याय एवं दण्ड की आधुनिक मान्यता में एक मौलिक भेद है। मनु विधि, न्याय एवं दंड पर जब विचार करते हैं तो उसका संदर्भ वैदिक परम्परा एवं वेद-प्रतिपादित सिद्धान्त हैं जो मानव जीवन और समाज रचना की विशिष्ट अवधारणाएं प्रस्तुत करते हैं। इस परम्परा में मनुष्य को वैश्विक परिप्रेक्ष्य में देखा जाता है एवं तदनुसार उसकी सामाजिक भूमिका का निर्धारण किया जाता है। प्रसिद्ध विद्वान पी०एन० सेन अपनी पुस्तक 'हिन्दू ज्यूरिसप्रूडेन्स' में कहते हैं कि प्राचीन न्याय व्यवस्था में सामाजिक वातावरण की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। समाज के विभिन्न घटकों के सम्बन्ध भी विधि के दायरे में थे। उनके नियमों का प्रभाव इन पर था। व्यक्ति न्यायालय के समक्ष अपने व्यक्तित्व, स्वभाव, सामाजिक दायित्व आदि के साथ प्रस्तुत होता था। आधुनिक विधिशास्त्र में वह अपने व्यक्तित्व से अलग होकर सामान्य मनुष्य के रूप में न्याय के लिए प्रस्तुत होता है। आज का विधिशास्त्र 'वैधानिक नियम' है न कि 'सामाजिक विधि'। उसमें सामाजिक संदर्भों के लिए अधिक स्थान नहीं है।

8.7 समीक्षा

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'मनुस्मृति' में राज्य की सभी सातों प्रकृतियों का विस्तृत विवेचन है। वस्तुत: मनुस्मृति समग्र जीवन की संहिता है। जीवन के लौकिक एवं पारलौकिक दोनों पक्षों का विवेचन मनुस्मृति में प्राप्त होता है। मनु ने जीवन के विराट् स्वरूप को प्रस्तुत किया है। मानव समाज की राजनीतिक व्यवस्था इस प्रकार की होनी चाहिए कि वह चारों पुरुषार्थों की उपलब्धि करा सके। मनु ने राज्य को साधन रूप में देखा है और केन्द्रीय राजशक्ति एवं विकेन्द्रीयकरण का अद्भुत समन्वय प्रस्तुत किया है। यदि राजा देव तुल्य है तो समाज विराट् का शरीर है। समाज उच्चतर स्थिति में है और राजा अपनी राजशक्ति का धर्मसम्मत उपयोग कर उसे देवभूमि के रूप में प्रतिष्ठित कर सकता है।

स्वामी दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द ने मनुस्मृति को भारत के पुर्नजागरण का आधार माना है। एनी बीसेन्ट के विचारों पर मनु द्वारा प्रतिपादित आदर्शों व परम्पराओं का गहरा प्रभाव पड़ा। प्रसिद्ध दार्शनिक डा० भगवान दास ने 'मनुस्मृति' को आत्मविद्या का उत्कृष्ट ग्रंथ माना है। डा० राधाकृष्णन ने अपने ग्रंथों 'Hindu view of life' और 'Eastern Religion and Western thought' में मनु के सिद्धान्तों की महत्ता को स्वीकार की है।

8.8 सारांश

इस इकाई में आपने कोष, बल और मित्र के सम्बन्ध में मनु के विचारों का अध्ययन किया। इसके साथ ही मनुस्मृति में दण्ड और अपराध के सिद्धान्तों का विवेचन प्राप्त होता है। मनु ने राजा को कोष-संचय के लिए करारोपण की आज्ञा दी है, पर साथ ही करारोपण के सिद्धान्तों का भी उल्लेख किया है। राजा को कर-ग्रहण करने का अधिकार उसी स्थिति में है जब वह प्रजापालन का कर्तव्य निभाए। मनुस्मृति में कर के अनेक प्रकारों का उल्लेख है जैसे—बलि, शुल्क, संतरण कर आदि।

मनु ने सैन्य संगठन का भी उल्लेख किया है। चतुरंगिणी सेना को वह भी मान्यता प्रदान करते हैं। युद्ध में व्यूह-रचना के महत्व को स्वीकार करते हुए मनु ने अनेक प्रकार के व्यूहों का उल्लेख किया है। परराष्ट्र नीति के संदर्भ में मंडल सिद्धान्त का विवेचन भी मनुस्मृति में प्राप्त होता है। षड्गुणों एवं चार उपायों के द्वारा राजा को राष्ट्र की रक्षा और शत्रु को नियंत्रित करने का प्रयास करना चाहिए। मनु ने युद्ध को किन्हीं परिस्थितियों में अपरिहार्य माना है, और इसलिए युद्धकला का भी विवेचन किया

है। अन्य प्राचीन आचार्यों की भाँति मनु भी 'धर्म-युद्ध' की धारणा के पक्षधर है और इसलिए युद्ध के उद्देश्य और उसके संचालन को धर्म व नीति की मर्यादा में बांधते हैं।

मनु स्मृति में गुप्तचरों का भी उल्लेख मिलता है। गुप्तचर आन्तरिक सुव्यवस्था एवं बाह्यनीति के प्रभावशाली साधन माने गए है। वे राजा के आँख व कान हैं। मनु ने राज्य की न्याय व्यवस्था एवं दण्ड-प्रणाली को भी विस्तारपूर्वक विवेचित किया है। दण्ड के चार प्रकार होते हैं—वाग्दंड, धिग्दण्ड, अर्थदण्ड एवं शारीरिक दण्ड। मनु का विचार है कि राजा को दण्डशक्ति का प्रयोग करते समय अपराध की प्रकृति, देश-काल, अपराधी के वर्ण, संस्कार आदि का विचार करना चाहिए।

8.9 उपयोगी पुस्तकें

1. भारतीय राजशास्त्र के प्रणेता - डा० श्याम लाल पाण्डेय
2. Manu-A study in Hindu Social Theory- Dr. Kewal Motwani
3. प्राचीन भारत में राज्य एवं न्यायपालिका- डा० हरिहर नाथ त्रिपाठी

8.10 सम्बन्धित प्रश्न

वर्णनात्मक प्रश्न

1. मनु द्वारा प्रतिपादित मंडल सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
2. कोष पर मनु के विचारों का विवेचन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. 'बल' पर मनु के विचार बताइए।
2. मनु के अनुसार गुप्तचरों का क्या महत्व है?
3. मनु द्वारा प्रतिपादित दण्ड प्रणाली की विशेषताएं बताइए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न :

1. मनुस्मृति में निम्न में से किस कर का उल्लेख नहीं है—

    (अ) आयकर (ब) शुल्क

    (स) संतरण कर (द) आकर

2. मनु द्वारा प्रतिपादित सप्तांग सिद्धान्त में निम्न में से किसे राज्य का एक अंग नहीं माना गया है—

    (अ) कोष (ब) मंत्रिपरिषद्

    (स) मोक्ष (द) स्वामी

3. मनु द्वारा वर्णित दण्ड-प्रणाली के विषय में कौन सा कथन सत्य नहीं है?

    (अ) मनु ने दण्ड निर्धारण का एक आधार वर्ण को माना है।

    (ब) मनु ने दण्ड निर्धारण का एक आधार अपराध की गंभीरता को माना है।

    (स) मनु ने शारीरिक दण्ड का निषेध किया है।

    (द) मनु ने प्रताड़ना को दण्ड का एक प्रकार माना है।

8.11 प्रश्नोत्तर

1. अ 2. स 3. स

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय

MAPS – 02
प्राचीन भारतीय
राजनीतिक चिन्तन

खंड

3

महाभारत में वर्णित राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ

इकाई 9

राजधर्म 5

इकाई 10

कर प्रणाली एवं युद्ध 16

इकाई 11

गणतंत्र 28

इकाई 12

प्रशासनिक नीतियाँ 37

विशेषज्ञ समिति

प्रो. देवेन्द्र प्रताप सिंह — अध्यक्ष
कुलपति
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

डॉ. आर.के. मणि त्रिपाठी — विषय विशेषज्ञ
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर

डॉ. एल.डी. ठाकुर — विषय विशेषज्ञ
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
राजनीतिशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रो. एस.एम. सईद — विषय विशेषज्ञ
राजनीतिशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

डॉ. मंजूलिका श्रीवास्तव — दूरस्थ शिक्षा विशेषज्ञ
रीडर, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

डॉ. आर.के. बसलस — सचिव
कुलसचिव
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

कार्यक्रम संयोजक : डॉ. हरीश चन्द्र जायसवाल, परामर्शदाता, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सम्पादन : प्रो. एस. के. द्विवेदी, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्यविद्यालय, लखनऊ

PGPS-02 :– *प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन*

लेखक मण्डल

खण्ड एक: डॉ. मुकुल अस्थाना, रीडर,राजनीतिशास्त्र विभाग, सेन्ट एन्ड्रूज पी.जी. कालेज, गोरखपुर — 2 इकाई
खण्ड एक: डॉ. कार्तिकेय, राजनीनिशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद — 2 इकाइ
खण्ड दो: प्रो. राकेश कुमार मिश्र, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ — 4 इकाई
खण्ड तीन: डॉ. बी.के. राय, राजनीतिशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद — 4 इकाई
खण्ड चार: डॉ. कमल कुमार रीडर, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ — 4 इकाई
खण्ड पाँच: डॉ. के.सी. पाण्डेय, राजनीतिशास्त्र विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी — 4 इकाई

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य का कोई भी अंश उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की लिखित **अनुमति के बिना मिनियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुति अनुमन्य नहीं है।**

दूरस्थ शिक्षा परिषद, नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित।

खण्ड 3 का परिचय : महाभारत में वर्णित राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं

यह राजनीति विज्ञान के द्वितीय पाठ्यक्रम का तीसरा खण्ड है जिसका नाम है, ''महाभारत में वर्णित राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ''। इसमें 4 इकाइयाँ हैं। दूसरे खण्ड में आपने ''मनुस्तुति में वर्णित सामाजिक एवं राजनीतिक सिद्धान्त'' के विषय में पढ़ा है। अब इस खण्ड में महाभारत में वर्णित राजनीतिक विचारों एवं संस्थाओं यथा दण्डनीति, राज्य अथवा राजा, मंत्रिपरिषद, राजधर्म, वर-व्यवस्था आदि पहलुओं के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

इकाई 9-'राजधर्म' : प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारों के अध्ययन एवं सुव्यवस्था की स्थापना हेतु राज्य अथवा राजा के कर्त्तव्यों एवं सुदृढ़ शासन प्रणाली की महत्वपूर्ण जानकारी हमें महाभारत से प्राप्त होती है। इस इकाई में राज्य के उद्देश्य, उद्‌भव एवं कार्यों के ऊपर प्रकाश डाला गया है। साथ ही राजा के गुण, उत्तराधिकार एवं इसके महत्त्व का वर्णन भी संक्षेप में करने का प्रयास है जिससे महाभारत के राजनीतिक विचारों एवं संस्थाओं के विषय में अध्येता को संक्षिप्त जानकारी मिल सके।

इकाई 10—'कर प्रणाली एवं युद्ध' : इस इकाई में आप महाभारत में वर्णित कर प्रणाली अर्थात राजकोषीय नीति एवं इसको महत्ता से परिचित हो सकेंगे। साथ ही कोषवृद्धि के लिए किये गये उपायों एवं तत्सम्बन्धी प्रणालियों की भी संक्षिप्त जानकारी प्राप्तकर सकेंगे। इसमें हमें राज्य के विस्तार हेतु युद्ध एवं विजय सम्बन्धी विचार की जानकारी मिल सकेगी और साथ ही युद्ध के उद्देश्य, प्रकार एवं महत्ता पर भी प्रकाश पड़ सकेगा।

इकाई 11—'गणतंत्र' : इस इकाई में आप राजतंत्र के अतिरिक्त शासन के दूसरे महत्वपूर्ण प्रकार गणतंत्र के विषय में परिचित हो सकेंगे। गणतंत्र के अर्थ, प्रकार एवं महत्ता से परिचित होएंगे। इसमें गणतंत्रों के गुण-दोष के आधार पर आधुनिक गणतंत्रों से संक्षिप्त तुलनात्मक अध्ययन कर वर्तमान समय में इसकी उपादेयता से परिचित होंगे।

इकाई 12—'प्रशासनिक नीतियाँ' : इसमें महाभारत में वर्णित राज्य के प्रशासन के विषय में जानकारी प्राप्त होगी। राज्य के उद्देश्य की प्राप्ति हेतु तथा राजधर्म के संचालन हेतु इस इकाई में मंत्रियों की आवश्यकता एवं उनके कार्यों से परिचित हो सकेंगे। प्रशासन के विविध पहलुओं तथा अधिकारियों, संगठन, कार्य प्रणाली एवं महत्त्व को जान सकेंगे। साथ ही राज्य में न्याय प्रणाली एवं दण्ड व्यवस्था की भी संक्षिप्त जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

इकाई 9 : राजधर्म

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 राजशास्त्र के उद्देश्य, स्रोत एवं काल का वर्णन

9.3 राज्य के उद्भव संबंधी विचार

- 9.3.1 दैवी सिद्धांत
- 9.3.2 दैवी स्वरूप
- 9.3.3 मनु के दैवी विचारों से तुलना
- 9.3.4 पाश्चात्य विचारों से तुलना
- 9.3.5 सामाजिक समझौते से तुलना
- 9.3.6 पाश्चात्य सामाजिक विचारकों से तुलना
  - 9.3.6.1 हाब्स से तुलना
  - 9.3.6.2 लॉक से तुलना
  - 9.3.6.3 रूसो से तुलना

9.4 राज्य का सावयवी (साप्तांगिक) स्वरूप

9.5 राज्य के उद्देश्य

9.6 राजा का स्वरूप

9.7 राजधर्म अथवा राजा के कर्त्तव्य

9.8 उत्तराधिकार

9.9 सारांश

9.10 शब्दावली

9.11 उपयोगी पुस्तकें

9.12 सम्बन्धित प्रश्न

9.13 प्रश्नोत्तर

9.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- महाभारत में वर्णित राजशास्त्र के उद्देश्य, स्रोत एवं काल सम्बन्धी विचारों से अवगत हो सकेंगे।
- राज्य के उद्भव सम्बन्धी अवधारणाओं के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- राज्य के उद्देश्य एवं स्वरूप की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- राजधर्म या राजा के कर्त्तव्यों का अध्ययन करेंगे।
- उत्तराधिकार विषयक जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के पूर्व अध्यायों में आप प्राचीन भारतीय चिन्तन की विशेषताओं, इसमें वर्णित विभिन्न सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक संस्थाओं विशेषरूप से मनुस्मृति में वर्णित सामाजिक-राजनीतिक विचारों से परिचित हो चुके हैं। इस इकाई में समाज में फैली अव्यवस्था अथवा अराजकता को दूर करने हेतु राज्य के विषय में परिचित हो सकेंगे। इस दृष्टि से राज्य के उद्भव विषयक सिद्धान्तों विशेषत: दैवी उद्भव एवं समझौतावादी (अनुबन्धात्मक) सिद्धांतों के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे। साथ ही राज्य एवं समाज में सुव्यवस्था स्थापित करने हेतु राज्य या राजा के उद्देश्य, स्वरूप तथा राजधर्म आदि विभिन्न विचारों का विवेचनात्मक परिचय प्राप्त कर सकेंगे। यह इकाई जहाँ महाभारत में वर्णित विचारों का निचोड़ प्रस्तुत करती है जिसमें एक ओर राज्य का वर्णन, इसके सावयवी स्वरूप का विवेचन तो दूसरी ओर राजा के गुणों, कर्त्तव्यों पर बल देकर उसे अपनी प्रजा से पित्रवत् व्यवहार करने पर विशेष बल दिया गया है। इसकी सुदृढ़ शासनिक एवं प्रशासनिक प्रणाली की आगे की इकाइयों में आप विधिवत् जानकारी प्राप्त कर सकेंगे जो एक व्यवस्थित एवं संगठित सामाजिक-राजनीतिक जीवन के लिये आवश्यक आधार है।

9.2 महाभारत में वर्णित राजशास्त्र के उद्देश्य, स्त्रोत एवं काल

महाभारत प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजनीतिक विचारों के अध्ययन का एक महत्वपूर्ण स्त्रोत है। यह एक ऐतिहासिक महाकाव्य है, जिसमें भारत की प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति संग्रहीत है। यह 18 पर्वो में विभाजित एक महाग्रन्थ है। इसमें वर्णित विचार मुख्यत: भीष्म द्वारा प्रतिपादित हैं। अतएव हम उन्हें भीष्म के राजनीतिक विचार भी कह सकते हैं। यद्यपि आधुनिक विद्वानों में मतभेद है कि भीष्म के राजनीतिक विचार जो महाकाव्य महाभारत के शान्तिपर्व में संकलित है, वे मूलत: भीष्म के ही हैं अथवा महाभारत के रचनाकार महर्षि वेद व्यास जी के हैं, क्या वे वही भीष्म हैं जो महाभारत युद्ध में कौरवों के प्रधान सेनापति एवं कौरवों तथा पाण्डवों के पितामाह थे अथवा व्यास जी द्वारा कल्पित पात्र? इसी प्रकार महाभारत के रचनाकाल को लेकर भी विद्वानों में एकमतता का अभाव है। कुछ विद्वानों ने इसे बौद्धकाल से पूर्व की रचना माना है। विश्वास किया जाता है कि ईसा से करीब 150 वर्ष पूर्व इसका अधिकांश भाग निश्चित किया जा चुका था। शान्तिपर्व के अधिकांश अध्याय वार्तालाप के रूप में जिन कहानियों का वर्णन करते हैं उनको पुराने इतिहास के नाम से पुकारते हैं।

विद्वानों के मतभेद जब तक समाप्त नहीं हो जाते तब तक के लिये हम भीष्म के राजनीतिक विचारों की मौलिकता पर प्रश्न खड़ा करने की घृष्टता नहीं कर सकते। साथ ही महाभारत का रचनाकाल जो भी रहा हो परन्तु शान्तिपर्व के श्लोक मूलत: व्यास जी की मौलिक रचना माने जाते हैं और व्यासजी ने भीष्म के राजनीतिक विचारों को भीष्म का ही राजनीतिक विचार माना है। उन्होंने उनकी ऐतिहासिकता भी प्रभावित की है और भीष्म के वंश का इतिहास प्रस्तुत करते हुए उन्हें वीर योद्धा के साथ-साथ राजशास्त्र का ज्ञानी भी बताया है। वे भरतवंशी राजा शान्तनु के पुत्र थे, जिन्होंने पिता की इच्छापूर्ति हेतु अपना राज्यधिकार त्यागकर आजन्म ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा की थी।

अजीवन राजनीति, कूटनीति एवं अन्य राज्य संबंधी नीतियों का गहन चिन्तन करने वाले भीष्म जब बाणों की शय्या पर लेटे युद्ध समाप्ति के पश्चात अपनी इच्छित मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे थे तो महाराज युधिष्ठिर के राजशास्त्र संबंधी प्रश्नों के भीष्म ने जो उत्तर दिये उन्हें ही व्यासजी ने शान्तिपर्व में संकलित किया हं जिसमें दण्डनीति (राजशास्त्र), राजधर्म (राजाओं के कर्त्तव्य), शासन-पद्धति उनके अंगों, कर-व्यवस्था आदि के विषय में महत्वपूर्ण विचार मिलते हैं। महाभारत में शान्तिपर्व के अतिरिक्त सभापर्व के पंचम अध्याय में आदर्श राज्य-व्यवस्था, सभा की रचना, आपातकालीन नीति और आदिपर्व में मैकियावेली जैसे सिद्धांतों का वर्णन किया गया है जो इसके 1.42वें अध्याय में वर्णित है। इस प्रकार महाभारत धर्म, नैतिकता, राजनीति, कूटनीति आदि पर विस्तृत ज्ञान का भण्डार है।

आचार्य भीष्म ने भी अपने विचारों, उपदेशों में वैदिक, वेदान्तिक, सतयुगी एवं प्रेतायुगी कथाओं को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत कर अपने विचारों की प्रामाणिकता सिद्ध की है। भारतीय पुरातन ग्रन्थों एवं वैदिक ग्रन्थों में भी सभी मनुष्यों को गुणों के आधार पर चार वर्ण-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र में विभक्त कर उनके कार्यों को निर्धारित किया गया है। इसी प्रकार मनुष्य जीवन को चार भागों- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रमों- में विभक्त कर उनके कर्मों का निर्धारण किया गया है। इन नियमों का पालन अर्थात् अपने कर्त्तव्यों का पालन करना, नेक कर्म करना ही धर्म है। सभी जन धर्मानुसार आचरण करें तो राज्य एवं शासन की आवश्यकता नहीं है। परन्तु जब मनुष्य अपने कर्त्तव्यों की अवहेलना करने लगते हैं तो अराजकता फैलती है जिसे अधर्म कहते हैं और पुनः धर्म को स्थापित करने के लिये अर्थात अराजकता को नियंत्रित करने के लिये राजा, प्रशासन, न्याय नीति, दण्डनीति की आवश्यकता पड़ती है, जिसके कारण राज्य-परम्परा का निर्माण हुआ। इस प्रकार भारतीय पद्धति में व्यक्ति की आन्तरिक उन्नति पर बहुत बल है। इस आन्तरिक उन्नति को अत्यधिक महत्व देते हुए भी यह माना गया था कि इसके लिए एक उपर्युक्त बाह्य वातावरण की आवश्यकता है। यह भी विचार था कि यदि समाज का ठीक से संगठन किया गया हो तो उचित तथा आवश्यक वातावरण का निर्माण अधिक सरलता से हो सकेगा। इसीलिए भारतीय समाजशास्त्रियों ने उपुयक्त वातावरण के निर्माण करने वाली एक ऐसी सामाजिक संरचना और उसी से संलग्न राज्य व्यवस्था की कल्पना की जिसमें व्यक्ति की उन्नति के साथ ही सामाजिक सुव्यवस्था भी कायम रहे। अतः सामाजिक व्यवस्था के रूप में वर्णाश्रम व्यवस्था का निर्माण किया गया। महाभारत में भी व्यक्तिगत उन्नति के साथ ही सामाजिक व्यवस्था की स्थापना हेतु वर्णाश्रम व्यवस्था का वर्णन स्पष्ट है। वर्णाश्रम व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति की उन्नति और तदनुसार कार्य का विभाजन कर दिया गया था। प्रत्येक को अपने कार्य में व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से पूर्णता प्राप्त करने का पूर्ण अवसर प्राप्त था। इस प्रकार कार्य विभाजन के द्वारा समाज में सुव्यवस्था, पारस्परिक पूरकता तथा सहयोग का वातावरण निर्मित करने का प्रयत्न किया गया था। श्रम-विभाजन का इतना पूर्ण, व्यवस्थित और आदर्श रूप अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। वर्ण व्यवस्था में यह श्रम-विभाजन और भी पूर्णता से प्राप्त था क्योंकि वंशगत रूप से एक ही कार्य करने के कारण पारिवारिक परम्पराओं, पारिवारिक वातावरण और पारिवारिक स्वभाव तथा गुण आदि के कारण अधिकाधिक कुशलता का प्राप्त होना स्वाभाविक था। इस सुव्यवस्था के आधार पर ही एक सहकारितापूर्ण समाज का निर्माण किया गया था। अतएव समाज-व्यवस्था को बनाये रखने के लिये ही राज्य-व्यवस्था अस्तित्व में आती है। यही इसके उद्भव का मूल आधार है।

भीष्म समेत लगभग सभी प्राचीन राजशास्त्री, आचार्य उपर्युक्त अवधारणा के समर्थक थे। भीष्म के राजदर्शन का सूत्रपात भी यहीं से होता है। भीष्म के अनुसार राज्य की उत्पत्ति का कारण भी अधर्म का नाशकर धर्म को जीवित करना है। इसके लिये ब्रह्मा ने मनु नामक राजा को पृथ्वी पर शासन करने हेतु देवलोक से भेजा था। उन्हें एक लाख श्लोकों का दण्डनीति ग्रन्थ प्रदान किया था जिससे राज्य-शासन सम्बन्धी नीतियों का निर्धारण हो सके। राजा कानून एवं दण्डनीति के द्वारा प्रजा को नियंत्रित कर सके।

9.3 राज्य के उदभव सम्बन्धी विचार

महाभारत में वर्णित भीष्म के राजनीतिक विचारों का सूक्ष्म अध्ययन करने पर हम इसमें मुख्य रूप से दो सिद्धांतों का प्रतिपादन देखते हैं :

1. दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त

2. सामाजिक अनुबन्ध का सिद्धान्त

9.3.1 दैवी सिद्धान्त

प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि यहाँ पर राज्य की उत्पत्ति का अर्थ राजा की उत्पत्ति से है अर्थात् राजा का होना राष्ट्रहित एवं प्रजाहित तथा धर्महित के लिये प्रजा पर शासन है।

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भीष्म ने किसी विशेष सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं किया है। शान्तिपर्व में एक स्थान पर भीष्म कहते हैं कि मानव स्वभाव की सृष्टि के बाद बहुत दिनों तक सुख एवं शान्ति का काल रहा होगा लोग स्वभावतः धर्म का पालन करते थे और राज्य एवं कानूनों के बिना भी शान्तिपूर्वक रहते थे। धीरे-धीरे लोगों का अधःपतन प्रारम्भ हुआ। लोग सदाचार से भ्रष्ट होकर स्वार्थ, लोभ और वासना के वश में हो गये। लोगों की व्यसनों में आसक्ति बढ़ने से वेदादि नष्ट-भ्रष्ट होने लगे और यज्ञादि धर्म-कर्म भी विलुप्त होने लगे। इससे भयभीत होकर देवता लोग ब्रह्मा के पास गये और उन्होंने अपनी व्यथा सुनाई। उनकी व्यथा सुनकर ब्रह्मा ने एक शास्त्र की रचना की जिसमें धर्म, अर्थ और काम का विस्तारपूर्वक वर्णन किया और लोकरक्षा हेतु सभी प्राणियों को नियंत्रित करने हेतु दण्डनीति का विधान किया। इस विस्तृत विधान के बाद अपने मानसपुत्र विरजस को ब्रह्माजी ने राजा बनाया। जनता ने भी उनके अनुशासन में रहना स्वीकार किया। किन्तु विरजस एवं उसके पुत्र-पौत्र आदि तपस्वी बने रहे और राजधर्म की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। आगे चलकर इसी वंश का एक राजा वेन हुआ जो बड़ा आततायी एवं अन्यायी था जिसे ऋषियों ने मार डाला और उससे मथकर उसके अन्दर से एक पुरूष बनाया जिसका नाम पृथु था, जो नीतिनिपुण, वेदों का पण्डित, युद्ध प्रवीण तथा न्यायी था, उसे राजा बनाया। पृथु ने मेदिनी (पृथ्वी) को दुहकर सबके कल्याण की वस्तुओं का निर्माण किया, पृथु के नाम पर ही यह धरा पृथ्वी नाम से विख्यात हुई। इस प्रकार राजा की उत्पत्ति हुई।

9.3.2 दैवी स्वरूप

एक अन्य स्थान पर महाभारत में दण्ड के आधार पर भी राज्य की दैवी उत्पत्ति का वर्णन मिलता है। इसमें यह बताया गया है कि ब्रह्मा ने यज्ञ किया जिससे दण्ड का लोप हो गया। इसका अर्थ यह है कि जहाँ यज्ञ होते हैं वहाँ दण्ड के बिना भी काम हो सकते हैं। यज्ञ का अर्थ है—''लोक संग्राहक कर्म करना'', ऐसे कार्य जिससे समाज में संगठन उत्पन्न हो, विभेद का भाव नष्ट हो। दण्ड का लोप होने से धीरे-धीरे समाज की दशा बिगड़ने लगी और इतनी बिगड़ गयी कि भक्ष्य-अभक्ष्य, धर्म-कर्म आदि का लोप हो गया। फिर शंकर के रूप में दण्ड अवतरित हुए। अतः यह दण्ड परमात्मा का ही रूप है, फिर सरस्वती ने दण्डनीति का निर्माण किया। शंकर ने विभिन्न प्रकार अर्थात् नदियों, पर्वतों आदि के राजा बनाये। इस दण्डनीति को इन्द्र ने ऋषियों को दिया, ऋषियों ने मनु को और मनु ने राजा को दिया। इस प्रकार दण्ड ही राजा का मूल आधार है जिससे उसमें तेजस्विता (सर्वोच्चता) आती है, जो वर्तमान में राज्य के अनन्य तत्व सम्प्रभुता की भाँति सर्वोच्च एवं मौलिक है।

9.3.3 मनु के दैवीय विचारों से तुलना

मनु की भाँति भीष्म भी राजा को देवता का एक रूप मानते हैं। भीष्म के अनुसार राजा का पद देवपद है, जो अति आदरणीय एवं सम्मानित है। इसलिए राजा को मनुष्य रूप में देखकर उसका कभी अनादर नहीं करना चाहिए। राजा सनातन देव है।

मनु एवं भीष्य के दैवी सिद्धांत सम्बन्धी विचारों में समानता के साथ भिन्नता भी दिखाई पड़ती है। प्रथम, मनु का राजा जहाँ शुद्ध रूप से देवलोकी दृष्टिगोचर होता है वहीं भीष्म का राजा पृथ्वीलोक का ही है, जो अपने कर्त्तव्यों (कर्मों) एवं गुणों से देवत्व को प्राप्त करता हैं, दूसरे, मनु का राजा आठ देवों के अंश से बना है, वह विशिष्ट अथवा परम देव है जो सभी देवों से बड़ा है। जबकि भीष्म का राजा पंचदेवमय है, जिसमें अग्नि, आदित्य, मृत्यु, कुबेर एवं यम हैं। जो समय-समय पर आवश्यकतानुसार इन देवों का स्वरूप धारण करता है। तीसरे मनु जहाँ एक बालक को भी देव मान लेते हैं, वहीं भीष्म हर राजा को देवपद प्रदान नहीं करते वरन् जिनमें देवताओं जैसा चरित्र, गुणवत्ता एवं विशिष्टता हो, उसे ही देवपद प्रदान करना उचित मानते हैं। यह विचार उनके यथार्थवादी दृष्टिकोण का परिचायक है।

9.3.4 पाश्चात्य विचारों से तुलना

महाभारत में वर्णित देवत्व की तुलना पाश्चात्य विचारकों से करने पर स्पष्ट होता है कि इन विचारकों के विचारों में राजा के देवत्व में कठोरता एवं निष्ठुरता तथा निरंकुशता का दिग्दर्शन अधिक होता है जबकि भीष्म के विचार में उच्चकोटि के दर्शन से ओत-प्रोत राजा के देवत्व में धर्म परायणता, सुख-शान्ति, प्रजाहित आदि बातें प्रमुख हैं। दूसरे, पाश्चात्य विचारकों के अनुसार राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है, परन्तु महाभारत में राजा का पंचदेवत्व उसके उदात्त गुणों पर आधारित है। वह अपने कार्यों के लिए स्वयं उत्तरदायी है। उसकी आज्ञा तभी तक मान्य है जब तक वह धर्मानुसार है। धर्म के विरूद्ध उसकी आज्ञाएं अमान्य हैं। राजा स्वयं राजधर्म की सीमा में आबद्ध है। वह उस सीमा का अतिक्रमण करने का अधिकारी नहीं है।

9.3.5 सामाजिक समझौते से तुलना

राजा के उद्भव का दूसरा सिद्धान्त सामाजिक समझौते का सिद्धान्त है जिसमें प्रजा अपने हितार्थ एवं रक्षार्थ सामाजिक समझौता कर राज्य एवं सरकार का निर्माण करती है। वैसे तो इस सिद्धान्त की परिकल्पना वैदिक युग में हो चुकी थी, परन्तु शान्तिपर्व में इस सिद्धान्त का जो स्वरूप दिया गया है, वह एक विकसित अवधारणा है। मनुष्य प्राकृत अवस्था से तंग आकर सामाजिक जीवन में प्रवेश करता है। परन्तु इसमें कुछ बाधाएँ हैं, जिन्हें दूर करने के लिए राजनीतिक समाज में प्रवेश करता है। शान्तिपर्व में उल्लिखत सामाजिक अनुबन्ध राजा और प्रजा के प्रतिनिधियों के मध्य होता है।

शान्तिपर्व में सामाजिक समझौते के जो रूप मिलते हैं वे दो प्रकार के प्राकृतिक गुणों से संबंधित हैं। पहले प्रकार का प्राकृत युग इंग्लैण्ड के विचारक जॉन लॉक की भाँति सुख-शान्ति एवं सन्तोष का युग था, जिसे भीष्म ने सतयुग का नाम दिया है। जिसके बारे में कहा कि सतयुग में न तो कोई राजा था न ही राज्य। मनुष्य सुख-शान्ति से बिना किसी बैरभाव के स्वधर्म का पालन करते हुए जीवन व्यतीत कर रहा था। यह अवस्था पूर्णतः अराजनीतिक अवस्था थी, परन्तु समाजप्रधान थी। शनैः शनैः पारस्परिक संरक्षण के कार्यों में मनुष्यों को कष्ट होने लगा और इसके ऊपर मोह, लोभ, काम, राग-द्वेष आदि आसुरी प्रवृत्तियाँ प्रभावी होती गईं, जिससे धर्म की सत्ता हिल गयी, वेदों का स्वाध्याय बन्द हो जाने से यज्ञादि कर्मों का लोप होने लगा। इससे भयभीत देवगण ब्रह्माजी की शरण में गये, जिनसे उन्होंने मानव कल्याण हेतु उपाय करने को कहा। ब्रह्माजी ने अपनी बुद्धि से एक लाख श्लोकों वाले नीतिशास्त्र का प्रणयन कर लोक कल्याण दण्डधारी राजा की आवश्यकता पर बल दिया। तब ये देवगण ऐसे दण्डधारी राजा जो इन नियमों को मनुष्य समाज में लागू करा सकें, हेतु विष्णु की शरण में गए और उनसे ऐसे तेजोमय शासक का नाम बताने की प्रार्थना की। तदुपरान्त विष्णु द्वारा प्रदत्त पुरुष को राजपद देने से पूर्व देवगण एक अनुबन्ध करते हैं। इस अनुबन्ध के अधीन भावी राजा अपनी प्रजा की रक्षा एवं दण्डनीति के पालन की प्रतिज्ञा करता है और दूसरी तरफ प्रजा भी उसकी तन-मन-धन से सदैव सहायता करते रहने का वचन देती है। इस प्रकार देवगण, प्रजा के प्रतिनिधि एवं राजा के मध्य हुए समझौते के आधार पर राज्य-शासन की स्थापना की गयी।

शान्तिपर्व के 67वें अध्याय में राज्य की उत्पत्ति का जो वर्णन मिलता है उससे सामाजिक समझौते के दूसरे स्वरूप पर बल है जिसमें प्राकृत युग हाब्स की प्राकृतिक अवस्था के समान कष्ट एवं दुःखों से भरा है। जिसे शान्तिपर्व में मत्स्यन्याय कहा गया है। युधिष्ठिर के प्रश्नों का उत्तर देते हुए भीष्म कहते हैं कि इस युग में मनुष्यों का कोई स्वामी अर्थात् राजा न था। सबल पुरूष निर्बलों को हरेक प्रकार से कष्ट देते थे। उन्हें नष्ट कर देते थे, उनकी सम्पत्ति का अपहरण कर लेते थे, उसी प्रकार जैसे पानी में बड़ी मछली छोटी मछली को अपना आहार बना लेती है। उसी प्रकार राजा के अभाव में बलवान दुर्बलों को सताते थे। जब अराजकता अपने चरम पर पहुँच गयी, धन सम्पत्ति एवं जीवन के नष्ट हो जाने का खतरा पैदा हो गया तो लोगों ने परस्पर मिलकर शपथपूर्वक यह निश्चय किया कि वे इस अनुबन्ध का पालन करेंगे। उन्होंने मनु से करबद्ध प्रार्थना की कि वे उन पर शासन करें, उन्हें सुरक्षा प्रदान करें और अराजकता से मुक्ति दिलाएं। बदले में वे उन्हें कर, सोना एवं सर्वाधिक सुन्दर कन्या उपहार में देंगे इस प्रकार यह अनुबन्ध राजा एवं प्रजा के बीच हुआ, जिससे राजा प्रजा की सहमति से विधि निर्माण एवं शासन व्यवस्था करता है और प्रजा राजा की आज्ञा का पालन।

9.3.6. पाश्चात्य सामाजिक विचारकों से तुलना

9.3.6.1 हाब्स से तुलना

जहाँ तक प्राकृतिक अवस्था को दु:खमय अथवा अराजक मानने का प्रश्न है महाभारत में भीष्म के विचार हाब्स के प्राकृतिक अवस्था के विचारों से मिलते-जुलते प्रतीत होते हैं, परन्तु अन्तर राजत्व के निरंकुश अधिकारों को लेकर हैं। हाब्स का यह मानना था कि अराजकता को दूर करने के लिये लोगों ने अपने सारे अधिकार राज्य को सौंपे अर्थात् राज्य निरंकुश अधिकारों से सम्पन्न शासन है, जबकि भीष्म के विचारों में राजा निरंकुश नहीं हो सकता क्योंकि पहला, वह धर्म विरूद्ध कार्य नहीं कर सकता। दूसरा वह लोक-कल्याण के लक्ष्य से परे नहीं जा सकता। इस प्रकार राजा निरंकुश अधिकारों से सम्पन्न शासक नहीं वरन् प्रजावत्सल या पितृतुल्य है।

9.3.6.2 लॉक से तुलना

महाभारत में राज्य की उत्पत्ति का अनुबन्धात्मक सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति के पूर्व की अवस्था को सतयुग की संज्ञा देता है। ऐसा वर्णन आधुनिक समय में पाश्चात्य चिन्तक लॉक में भी मिलता है। परन्तु अन्तर राजनीतिक समाज अर्थात् राज्य के अधीन या उसके निर्माण को लेकर है कि जब प्राकृतिक अवस्था सुखमय, विवेकपरक एवं सामाजिक थी तो राज्य की आवश्यकता ही क्यों रह जाती है। जहाँ लॉक प्राकृतिक अवस्था को अस्पष्ट एवं अनिश्चित देखता है। वहीं महाभारत में आसुरी प्रवृत्तियों (धर्म-विरुद्ध) की वृद्धि के कारण स्वर्गीय अवस्था नारकीय अवस्था में बदल जाने के कारण राज्य की आवश्यकता पर बल है।

9.3.6.3 रूसो से तुलना

हाब्स, लॉक की ही भाँति फ्रांसीसी विचारक रूसो के विचार भी महाभारत में वर्णित विचारों से मेल नहीं खाते हैं। रूसो के प्राकृतिक युग का मानव भावना प्रधान एवं विवेकशून्य था। वह एक मन्दबुद्धि व्यक्ति की भाँति दु:ख को भी सुख समझता है अर्थात् उसे सुख-दु:ख का भेद-ज्ञान नहीं है। परन्तु महाभारत में प्राकृत युग का मानव बुद्धिमान, विवेक एवं चैतन्यशील है। वह सुख-दु:ख, धर्म-अधर्म का ज्ञान रखता है। धर्म की स्थापना एवं सुख-शान्ति की खोज में वह सामाजिक अनुबन्ध कर राज्य शासन की नींव डालता है। दूसरे, रूसो का प्राकृतिक मानव सामान्य इच्छा के आधार पर राज्य का निर्माण करता है, परन्तु महाभारत का सतयुगी मानव राज्य हेतु ब्रह्माजी की शरण लेता है एवं दण्डनीति (विधिशास्त्र) प्राप्त कर उसके नियमों का पालन करता है।

9.4 राज्य का सावयवी (साप्तांगिक) स्वरूप

महाभारत में भीष्म ने राज्य के सप्तांग स्वरूप का वर्णन किया है। शान्ति पर्व के 69वें अध्याय में राज्य के ये सात अंग-आत्मा (राजा), अमात्य (सेवक/मंत्रिगण) कोष, दण्ड (सेना), जनपद (राष्ट्र), पुर (नगर/राजधानी), तथा मित्र हैं। युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए भीष्म बतलाते हैं कि राजा को चाहिए कि इस सप्तांग राज्य का सब भाँति यत्नपूर्वक प्रतिपालन करे। राज्य के अंगों के महत्व के बारे में शान्तिपर्व में कहा गया है कि निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि इन सात अंगों में कौन-सा दूसरों से श्रेष्ठतर है, परन्तु विभिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न अंग विशेष महत्व धारण करते हैं।

9.5 राज्य के उद्देश्य

राज्य के ध्येय अथवा उद्देश्यों के बारे में भीष्म ने बार-बार और बलपूर्वक कहा कि राजा अर्थात् राज्य का उद्देश्य प्रजा की सुरक्षा और सुख तथा सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखना है। महाभारत में मनुष्यों का उद्देश्य धर्म, अर्थ एवं काम बताया गया है और राज्य का उद्देश्य इस त्रिवर्ग की प्राप्ति में सहायता प्रदान करना है।

9.6 राजा का स्वरूप

मनु की भाँति भीष्म भी राजा को दण्ड का प्रतीक मानते हैं, जो दण्ड को धारण करता है और अपने अधीन प्रजा के लिए उसका सम्यक् प्रयोग करता है, जिसका उसे अधिकार प्राप्त है। परन्तु वह अधिकार राजधर्म की सीमा तक है अर्थात् राजा को दण्ड प्रयोग में स्वच्छन्दता नहीं है। यदि वह इस सीमा का अतिक्रमण करता है तो वह दण्ड का भागी बनता है। राजा ब्रह्मा द्वारा निर्मित विधि अथवा जनता द्वारा सर्वसम्मति से बनाए गए विधि के अनुसार ही धर्मरक्षा एवं लोककल्याण के कार्य को क्रियान्वित करता है। इस प्रकार राजा मात्र विधि की रक्षा करता है न कि उसको परिवर्तित एवं पुनर्निमित करने का अधिकारी है। इस प्रकार विधि का स्थान राजपद से उच्च है। इसके अतिरिक्त राजा अपने अधीन प्रजा के निमित्त आदर्श आचरण का प्रेरक है। इस कारण समाज में न्याय और व्यवस्था अर्थात् धर्म रहता है। यदि राज्यकर्त्तागण नीतिज्ञ हैं, चरित्रवान हैं, न्यायी हैं, धर्मवान हैं तो प्रजा भी धर्मशील होगी, परन्तु राज्यकर्त्तागण ही अधर्मी अथवा अन्यायी हो जाएं और दुष्टाचरण करने लगे तो प्रजा का धर्मपूर्ण होना कठिन हो जाए। यह इसलिए कहा गया है कि राजा काल का कारण हैं अर्थात् समाज के अन्दर अच्छा काल है अथवा बुरा यह राजा अथवा राजकर्त्ताओं पर निर्भर है। शुक्रनीति में कहा है कि "आचरण का प्रेरक होने के कारण राजा ही काल का कारण है।" शान्तिपर्व के 69वें अध्याय में यह बात विस्तार से कही गयी है कि किस प्रकार राजा अन्याय एवं अधर्म पर चलकर कलियुग और न्याय एवं धर्म द्वारा सतयुग का निर्माण करता है। इस प्रकार राजा ही युग निर्माता है, युग प्रवर्तक है।

9.7 राजधर्म अथवा राजा के कर्त्तव्य

भीष्म का मानना है कि राज्य एक महान भार है और इस भार को वहन करने के लिए कुशल और समर्थ वाहक की आवश्यकता है, जो न क्रूर स्वभाव वाला हो और न ही अति कोमल स्वभाव वाला। इस भारवाहक में विशेष गुण होने चाहिए। राजा का चरित्र प्रजा के लिये आदर्श होता है, अत: आदर्श चरित्र को विकसित करने के लिए राजा को सर्वप्रथम अपने मन पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। इसके बाद शत्रु पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। इन्द्रियनिग्रही (जितेन्द्रिय) राजा ही शत्रु पर विजय प्राप्त कर सकता है। अत: भीष्म के अनुसार राजा का सर्वप्रथम कर्त्तव्य राजोचित (राजा की भाँति) आचरण की प्राप्ति हेतु निरन्तर प्रयत्नशील रहना है।

दूसरे, राजा के कर्त्तव्यों को भीष्म ने लोकहितकारी (लोकरंजक) के रूप में वर्णित किया है। इन कर्त्तव्यों का विधिवत् सम्पादन करना राजा का सनातन धर्म है। इस सम्बन्ध में भीष्म बताते हैं कि जैसे गर्भवती स्त्री अपने मन को अच्छे लगने वाले भोजन आदि का परित्याग करके केवल गर्भस्थ शिशु के हित का ध्यान रखती है, उसी प्रकार धर्मात्मा राजा को भी चाहिए कि नि:संदेह वैसा ही बर्ताव करे। अर्थात् राजा अपने प्रिय लगने वाले विषय का परित्याग करके, जिसमें सब लोगों का हित हो, वही कार्य करे। इस प्रकार राजा का प्रमुख कार्य प्रजाहित माना गया है। इन कार्यों के सम्पादन हेतु शान्तिपर्व में निम्नवत् वर्णन मिलता है- राजा-वर्णाश्रम व्यवस्था का सुसंचालन करे, जिससे वैयक्तिक एवं सामूहिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त हो। शान्तिपर्व में भीष्म कहते हैं कि—

चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च रक्षित्या महीक्षिता।
धर्मसंकटरक्षा च राज्ञां धर्म: सनातन:॥

प्रजारक्षण का कार्य राजा के परम कर्त्तव्यों में है। जिससे प्रजा आन्तरिक विघ्न-बाधाओं, बाह्य आक्रमण एवं अन्य आपदाओं से सुरक्षित रहे।

–न्याय (दण्ड) व्यवस्था की स्थापना करे जिससे लोभ-मोह आदि से वशीभूत लोग दूसरे की सम्पत्ति, अधिकारों का अपहरण न कर सकें और प्रजा में कलह, बैरभाव एवं हिंसा न उपजे।

–राजकर्मचारियों की नियुक्ति। योग्य, सदाचारी व गुणवान लोगों को यथास्थान नियुक्त करना।

–राजकर्मचारियों के कार्यों का निरीक्षण एवं मूल्यांकन करना जिससे योग्य कर्मचारियों को प्रोत्साहन

मिले एवं अयोग्यों पर नियंत्रण रहे और उनमें अपेक्षित सुधार संभव हो सके।

-प्रजा के कल्याण हेतु आर्थिक विकास पर बल देना एवं कोष का संरक्षण तथा उसमें वृद्धि करना, जिससे किसी भी व्यक्ति का विकास धनाभाव में बाधित न होने पाए। प्रजा आर्थिक रूप से सुखी एवं सन्तुष्ट रहे एवं राज्य कार्य हेतु धनाभाव न हो, इस हेतु राजा निरन्तर प्रयत्नशील रहे।

-सार्वजनिक एवं सामाजिक कार्यों जैसे, सार्वजनिक उत्सव, प्राचीन भवनों, देवालयों, जलाशयों, कूपों आदि का निर्माण राजा का कर्त्तव्य बताया है।

-हानिकारक व्यवसायों जैसे नशीले पदार्थों के विक्रय एवं वैश्यावृत्ति, शराबखोरी, आदि पर रोक लगाने हेतु वैश्यालयों एवं मधुशालाओं पर रोक लगाए।

उपर्युक्त कर्त्तव्यों को महाभारत में राजधर्म बताया है। संक्षेप में राजा के निम्न चार प्रमुख कर्त्तव्य हैं—

1. अप्राप्त की प्राप्ति,
2. प्राप्त का संवर्द्धन,
3. संवर्द्धित का संरक्षण,
4. संरक्षित का सुपात्रों में वितरण।

इस प्रकार भीष्म राजा के प्रधान कर्त्तव्यों का उल्लेख कर राज्य शासन व्यवस्था की एक रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं जिसमें राजा का आत्मनिग्रही एवं प्रजारंजक होना अत्यावश्यक था। इस सन्दर्भ में सालटोरी महोदय का यह कथन उल्लेखनीय है कि 'महाभारत में भीष्म ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया है कि अयोग्य एवं दुराचारी राजा का जनता विरोध कर सकती है। यह विरोध निष्क्रिय था, जबकि एक निरंकुश एवं अत्याचारी शासक को हटाने के लिये जनता सशस्त्र विद्रोह कर सकती है।

9.8 उत्तराधिकार

महाभारत के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि राजगद्दी का उत्तराधिकार पैतृक था। ज्येष्ठ पुत्र में कोई कमी होने पर उससे छोटा पुत्र राजगद्दी पर बैठता था। नये राजा की नियुक्ति पर साधारणतया जनता की स्वीकृति ली जाती थी। महाभारत में वर्णित कथाएँ आनुवंशिक उत्तराधिकार की ओर संकेत देती है और जनता द्वारा स्वीकृति की ओर भी। जैसा कि ज्येष्ठ पुत्रों की उपेक्षा करके राजा प्रतीप द्वारा अपने छोटे पुत्र शान्तनु तथा ययति द्वारा पुरु एवं धृतराष्ट्र द्वारा युधिष्ठिर के स्थान पर दुर्योधन को अपना उत्तराधिकारी बनाये जाने पर प्रजा द्वारा शोर मचाना अथवा प्रतिवाद करना। गली, चौराहों पर एकत्रित होकर राजा के इस कदम की आलोचना की गयी। इससे यह भले ही सिद्ध न हो कि राजा के निर्वाचन में जनता को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष अधिकार था, परन्तु इतना सत्य है कि राजा द्वारा इनके समक्ष अपना पक्ष प्रस्तुत किए जाने के बाद ही उनके उत्तराधिकारियों को जनता की स्वीकृति प्राप्त हुई। आदिपर्व में वर्णन है कि राजा नहुष ने नगर और राष्ट्र की जनता की सहमति से अपने पुत्र को युवराज नियुक्त किया।

इस प्रकार महाभारत में वर्णित राजपुत्र को भावी उत्तराधिकारी अथवा युवराज बनाने की प्रथा का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। राजा द्वारा अपने जीवन काल में ही भावी उत्तराधिकारी को नियुक्त कर दिया जाता था। जिससे जनता की सहमति के बिना राजा को वैधता नहीं मिलती थी। अत: राज सिंहासन पर आरूढ़ होने से पूर्व अभिषेक की क्रिया आवश्यक थी।

9.9 सारांश

महाभारत में वर्णित राजधर्म का विवेचन प्राचीन राजशास्त्र के उत्कृष्ट राजनीतिक चिन्तन का बोध कराता है। महाभारत में राज्य के उद्देश्य, स्वरूप एवं स्रोतों का यथार्थवादी रूप में वर्णन मिलता है। यह चिन्तन हजारों वर्ष पूर्व इस महाकाव्य में स्पष्ट रूप में प्राप्त होता है। राजा का धर्म अथवा कर्त्तव्य लोकहितकारी एवं जनकल्याण के स्पष्ट उद्देश्य से सीमित है। भले ही राजा का स्वरूप दैवी हो, परन्तु

दैवी अधिकारों या निरंकुश शक्तियों पर बल कदापि नहीं हैं क्योंकि राजा पितातुल्य और प्रजा उसकी अपनी सन्तान है। प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है, प्रजा का हित ही राजा का हित अर्थात् धर्म (परम कर्त्तव्य) है। इस प्रकार महाभारत वर्णित राजत्व के सिद्धान्त का ऊपरी ढाँचा भले ही राजतंत्रीय हो, परन्तु आधार लोकतंत्रीय है। इसका परिपालन राजतंत्र के वंशानुगत उत्तराधिकार में भी जनता की सहमति की महत्ता की स्वीकृति में भी स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है।

इस प्रकार राज्य के विनिर्माण का उद्देश्य व्यक्तिमात्र को सुव्यवस्था एवं उसके विकास का समुचित अवसर प्रदान करना हैं जिसका राजधर्म के मुख्य कर्त्तव्य के रूप में भीष्म ने युधिष्ठिर को उपदेश दिया। अन्ततोगत्वा हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाभारत एक सम्पूर्ण राजनीतिक कृति है जिसमें राज्य, इसके उद्देश्य, स्वरूप एवं कार्यों के साथ ही राजधर्म पर लोकोपयोगी दृष्टि से विचार किया गया है।

9.10 शब्दावली

दैवी उत्पत्ति सिद्धांत-राज्य की उत्पत्ति का ईश्वरीय सिद्धांत राजा ईश्वर द्वारा नियुक्त उसका प्रतिनिधि है जो समाज में फैली अव्यवस्था को दूर करता है।

अनुबन्धात्मक सिद्धांत-राज्य की उत्पत्ति का कृत्रिम सिद्धान्त जिसके अनुसार राज्य व्यक्तियों द्वारा आपसी समझौते से निर्मित है।

राजधर्म-राज्य के विविध कार्य अथवा राजा के कर्त्तव्य।

लोकसंग्राहक कार्य-जनता के कल्याण हेतु कार्य जिससे उसका वैयक्तिक एवं सामाजिक उन्नयन संभव हो।

देवलोकी-ईश्वरीय अथवा दैवी।

इन्द्रियनिग्रही-अपनी इन्द्रियों (मन, बुद्धि आदि) को वश में रखने वाला अथवा इन पर विजय प्राप्त करने वाला।

महाभारत में वर्णित पर्व-महाभारत कुल 18 पर्वो में विभक्त महाकाव्य है जो निम्न हैं - (1) आदिपर्व, (2) सभापर्व, (3) वन पर्व, (4) विराट पर्व, (5) उद्योग पर्व, (6) भीष्म पर्व, (7) द्रोण पर्व, (8) कर्ण पर्व, (9) शल्य पर्व (10) सौसिक पर्व, (11) स्त्री पर्व, (12) शान्ति पर्व, (13) अनुशासन पर्व, (14) अश्वमेधिक पर्व, (15) आश्रम पर्व, (16) मौसल पर्व, (17) महाप्रस्थानिक पर्व, (18) स्वर्गारोहण पर्व।

9.11 उपयोगी पुस्तकें

1. Prasad Beni, The State in Ancient India, Allahabad, 1928.
2. Ghesal, V. N. History of Political Ideas, 1965 (ed.).
3. Law, N. N. Aspects of Ancient Indian Polity, 1960.
4. Sharma Sastry, R., Evolution of Indian Polity, Calcutta University, 1920.
5. Jaiswal, K.P., Hindu Polity, Calcutta, 1924.

9.12 सम्बन्धित प्रश्न

प्रश्न 1. महाभारत में राज्य की उत्पत्ति के किन सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है? (लघु उत्तरीय)

प्रश्न 2. राज्य के दैवीय उत्पत्ति सिद्धान्त को संक्षेप में बताएं। (लघु उत्तरीय)

प्रश्न 3. राजपद के महत्व पर संक्षेप में प्रकाश डालें। (लघु उत्तरीय)

प्रश्न 4. शान्तिपर्व में वर्णित राजा के स्वरूप पर दस पंक्तियां लिखिए। (लघु उत्तरीय)

प्रश्न 5. उत्तराधिकार पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। (लघु उत्तरीय)

प्रश्न 6. महाभारत में वर्णित अनुबन्ध सिद्धान्त का विवेचन करें एवं इसकी तुलना पाश्चात्य चिन्तकों के विचारों से भी करें। (दीर्घ उत्तरीय)

प्रश्न 7. महाभारत में वर्णित राज्य के उद्देश्य, स्रोत एवं काल सम्बन्धी विवेचन करें। (दीर्घ उत्तरीय)

प्रश्न 8. महाभारत में वर्णित राजधर्म का विवेचन कीजिए। (दीर्घ उत्तरीय)

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निर्देश : नीचे दिए गए चार विकल्पों में से सही विकल्प चुनिए।

1. महाभारत के रचनाकार माने जाते हैं :-
   - (a) महर्षि वेदव्यास
   - (b) महर्षि भारद्वाज
   - (c) शुक्राचार्य
   - (d) याज्ञवल्क्य
2. महाभारत में ब्रह्मोक्त श्लोकों की संख्या है :-
   - (a) चौबीस हजार
   - (b) दस हजार
   - (c) एक लाख
   - (d) छ: हजार
3. महाभारत में राजपूर्व की अवस्था का वर्णन है :-
   - (a) सुखमय
   - (b) दु:खमय
   - (c) दोनों
   - (d) इनमें से कोई नहीं
4. शान्तिपर्व में राजा को माना गया है :-
   - (a) पंचदेव
   - (b) सप्तदेव
   - (c) अष्टदेव
   - (d) दशमेश
5. शान्तिपर्व में वर्णित अनुबन्धवाद की व्याख्या निम्न में से किन पाश्चात्य चिन्तकों की विचारधारा से मेल खाती है :-
   - (a) हाब्स की
   - (b) लॉक की
   - (c) दोनों की भाँति
   - (d) उपर्युक्त में किसी से नहीं

6. निम्नलिखित में कितने राज्यांग महाभारत में माने गये हैं :-

(a) पाँच

(b) सात

(c) आठ

(d) बारह

9.13 प्रश्नोत्तर

1 (a) 2 (c) 3 (c) 4 (a) 5 (c) 6 (b)

इकाई 10 : कर प्रणाली एवं युद्ध

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 कर-प्रणाली

10.2.1 आवश्यकता एवं महत्व

10.2.2 विविध कर सिद्धान्त

10.3 आपातकालीन कर-वृद्धि का सिद्धान्त

10.4 करों के विविध प्रकार

10.5 आधुनिक कर - विषयक प्रणाली से तुलना

10.6 युद्ध का उद्देश्य

10.7 युद्ध करने योग्य अवस्था

10.8 युद्ध का स्वरूप

10.9 राजा (क्षत्रिय) का युद्ध में मरने से कल्याण होता है

10.10 युद्ध में शत्रुओं के प्रति व्यवहार

10.11 युद्ध - आवश्यक अंग

10.12 सारांश

10.13 शब्दावली

10.14 उपयोगी पुस्तकें

10.15 सम्बन्धित प्रश्न

10.16 प्रश्नोत्तर

10.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप -

- महाभारत में वर्णित राजकोषीय प्रणाली से परिचित होंगे।
- इस इकाई में कोष की आवश्यकता एवं महत्ता की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- इस इकाई में कोष-वृद्धि से सम्बंधित उपायों एवं विभिन्न प्रकार के करों की व्यवस्था की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- इस इकाई में अर्थव्यवस्था की मजबूती के आधार पर राज्य के सुदृढ़ होने के बारे में भी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- इस इकाई में राज्य के विस्तार हेतु युद्ध एवं विजय से सम्बंधित कथानकों एवं तथ्यों के आधार पर जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- इस इकाई में युद्ध के प्रकारों एवं उद्देश्यों पर विचार करते हुए इसके महत्व से परिचित हो सकेंगे।
- इस इकाई में राजा के लिए युद्ध एवं युद्ध में शत्रु के प्रति व्यवहार की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

यह इकाई राज्य की मजबूती एवं सुदृढ़ीकरण के लिए व्यवस्थित कर-प्रणाली या कोषीय व्यवस्था तथा युद्ध एवं इसके महत्व पर प्रकाश डालती है। जिससे राजा शत्रु एवं मित्र में भेद करता है, शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके अपने विजिगिषु लक्ष्य को आकार देता है। अर्थात् चक्रवर्ती सम्राट् बनता है जिसकी अधीनता अन्य राज्य मानने हेतु विवश होते हैं। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु ही युद्ध आवश्यक है। इसी कारण महाभारत में, राजा (क्षत्रिय) का युद्ध करने से कल्याण होता है, पर विशेष बल है, विजय अभियान पर जाना राजा का विशिष्ट कर्त्तव्य है। इस प्रकार युद्ध द्वारा राजा अपने राज्य का विस्तार ही नहीं करता वरन् अपने राज्य को सुदृढ़ एवं चिरस्थायी भी बनाता है।

10.2 कर प्रणाली

10.2.1 आवश्यकता एवं महत्व

महाभारत में भीष्म ने भी मनु की भाँति राज्य के एक विशेष अंग कोष को महत्वपूर्ण माना है। भीष्म का मत है कि कोष राजा की मूल शक्ति एवं राज्य की उन्नति का कारक है। अत: राजा को सचेष्ट होकर इसकी रक्षा एवं वृद्धि के समस्त उपाय करने चाहिए। राज्य एवं राजा की शक्ति का मूल आधार कोष एवं सेना है। सेना का मूल कोष है। सेना समस्त धर्मों, विधियों एवं दण्ड का मूल है। इन सबका आधार धर्म है। इसलिए धर्म की रक्षा, प्रसार एवं पालन आवश्यक है। इन सबके लिए कोष की वृद्धि एवं संरक्षा आवश्यक है।

10.2.2 विविध कर-सिद्धान्त

महाभारत में जहाँ एक ओर कोष की महत्ता पर बल दिया गया है, वहीं उसमें यह भी कहा गया है कि कोष-वृद्धि के निमित्त अर्थ-संचय के कार्य में मनमानी नहीं करनी चाहिए। भीष्म ने राजा के अधिकार को करारोपण के सिद्धान्त से प्रतिबन्धित किया है। ये सिद्धान्त निम्नवत् हैं –

1. प्रजा-परिपुष्टि का सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार प्रजा जब हर प्रकार से सम्पन्न एवं सन्तुष्ट हो, समृद्ध हो एवं राजा को धन दान करने के लिए स्वयं उत्सुक हो तभी उन पर कर लगाना चाहिए। इसके अनुसार गाय का दूध दुहने के पूर्व उसकी सेवा-सुश्रुषा कर देनी चाहिए जिससे वह तृप्त होकर स्वयं दुहने को आतुर हो जाय, तभी गौस्वामी को उसका दूध दुहना चाहिए। माता भी अपनी सन्तान को तभी दूध पिलाना चाहती है जब वह स्वयं तृप्त हो। राजा प्रजा द्वारा धन प्राप्त करने से पूर्व माता के समान प्रजा को प्रत्येक प्रकार से संतृप्त एवं परिपुष्ट करे यह आवश्यक है। इसी प्रकार भीष्म माली को फूल चुनने से पूर्व वाटिका को खाद-पानी आदि से परिपुष्ट करने का दृष्टान्त देते हैं। ठीक उसी प्रकार राजा को भी पहले अपनी प्रजा को संतुष्ट, तृप्त एवं समृद्ध करके ही उससे करारोहण करना चाहिए, जिससे उसे कर देने में किसी प्रकार के कष्ट की अनुभूति न हो।

2. व्यथामुक्त सिद्धान्त

इसका तात्पर्य है कि प्रजा पर इस प्रकार से कर लगाया जाना चाहिए कि उसे थोड़ा सा भी कष्ट का अनुभव कर देने में न हो। इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए भीष्म शेरनी द्वारा अपने बच्चे को मुँह में दबाकर ले जाने तथा बच्चे को तनिक भी पता न चलने, भ्रमर द्वारा पुष्प का रसपान कर उड़ जाने और जोंक का चुपके से पशुओं के शरीर से चिपक कर रक्तपान कर शरीर से अलग हो जाने आदि दृष्टान्तों द्वारा व्यथामुक्त सिद्धान्त को स्पष्ट करते हैं।

3. आयकर सिद्धान्त (लाभ पर कर का सिद्धान्त)

मनु की भाँति भीष्म ने भी आयकर अर्थात् लाभ होने पर कर लगाने का समर्थन किया है। उनके अनुसार कर मूल धन पर नहीं लगाना चाहिए अपितु मूलधन पर अर्जित आय पर कर लगाना चाहिए।

4. प्रजारक्षण सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार प्रजा की रक्षा करना ही कोष संचय का मूल उद्देश्य है। वह प्रजा से उसकी उपज का 1/6 भाग कर के रूप में लेकर उसकी रक्षा करे। जो राजा प्रजा से कर लेने के पश्चात् भी उसकी रक्षा नहीं करता वह राजा प्रजा का चोर है। इस प्रकार भीष्म ने यहाँ पर भी मनु के विचारों की पुष्टि की है, जिसमें मनु ने ऐसे राजा को जो कर लेकर भी प्रजा की रक्षा नहीं करता, को शीघ्र नरकगामी बताया है।

5. अधिकर-कर निषेध सिद्धान्त

भीष्म ने प्रजा पर उसकी सामर्थ्य से अधिक कर लगाने का निषेध किया है। राजा को कर प्रजा के सामर्थ्य एवं परिस्थिति को देखकर लगाने पर जोर दिया है। गाय का अति दोहन करने से बछड़े की जो दशा होती है वही दशा प्रजा की तथा प्रजा की भावी पीढ़ी की हो जाती है।

6. वेतन सिद्धान्त

भीष्म युधिष्ठिर को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि बलि, शुल्क, दण्ड आदि करों द्वारा जो धन प्राप्त होता है, वह राजा का वेतन होता है, जिसके बदले राजा प्रजा के योग-क्षेम की व्यवस्था करता है। जो राजा अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है वही अपना वेतन पाने का अधिकारी होता है, अन्यथा उससे वंचित हो जाता है। अतएव भीष्म राजा को प्रजा का वेतनभोगी सेवक मानते हैं।

7. शनैः-शनैः कर वृद्धि सिद्धान्त

भीष्म का मत है कि कर में वृद्धि अचानक नहीं करनी चाहिए, इससे प्रजा भयभीत एवं नष्ट हो जाती है अथवा विद्रोही तेवर अपना लेती है। प्रारम्भ में कर की दर अत्यल्प हो और पुनः शनैः शनैः अत्यल्प मात्रा में वृद्धि करनी चाहिए जिससे प्रजा को करभार का बोध न होने पाए।

10.3 आपातकालीन कर वृद्धि सिद्धान्त

आपातकालीन या बाह्य आक्रमण की स्थिति में यदि राजकोष रिक्त हो जाए तो राजा प्रजा पर विशेष कर लगाने का अधिकारी होता है, ऐसा भीष्म का मानना है। परन्तु भीष्म इस वृद्धि हेतु जनमत को अपने पक्ष में आकर्षित करने की राय भी देते हैं। राजा को चाहिए कि वह आपातकाल व शत्रु का भय उपस्थित कर प्रजा को समझाए तथा उसे कर देने के लिए महमत करे। भीष्म का मानना है कि धर्म की श्रेष्ठता निःसंदेह है परन्तु आपत्ति काल में धर्म की चिन्ता किए बिना राजा को सभी प्रकार के उपायों द्वारा प्रजा के संरक्षण में संलग्न रहना चाहिए।

10.4 करों के विविध प्रकार

भीष्म के अनुसार राजा अनेक प्रकार के कर लगा सकता है। यहाँ उनमें से मुख्य करों का संक्षेप में उल्लेख निम्नवत है—

1. पशुकर

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि पशुओं की बिक्री पर यह कर लगाया जाता था। पशुओं की बिक्री से जो लाभ हो उसका पचासवाँ हिस्सा इस कर की दर के रूप में लिया जाना चाहिए अर्थात् पचास गाय बेचने अथवा खरीदने पर एक गाय कर के रूप में राजा को दिया जाता था।

2. बलिकर

वह कर, जो किसानों से कृषि की उपज के अनुसार मासिक अथवा वार्षिक कर के रूप में लिया

जाता था। यह कर धन-धान्य एवं सामग्री की उपज का छठवाँ भाग होना चाहिए।

3. शुल्क

यह कर व्यापारियों से हाट बाजार में माल की बिक्री पर लिया जाता था।

4. आकर-कर

खनिज पदार्थों के उत्खनन एवं उसकी बिक्री आदि से हाने वाली आय पर लगाया जाने वाला कर आकर-कर कहलाता था।

5. सन्तरण (जल-कर)

नदी या अन्य जल स्थानों को पार करने के लिये राजा को सन्तरण अथवा जलकर लगाने का अधिकार भीष्म ने दिया है।

6. दण्ड (जुर्माना)

राजा द्वारा विभिन्न अपराधों के दण्ड के फलस्वरूप जो कर प्राप्त होता था उसे दण्ड कर के रूप में जाना जाता है।

इसके अतिरिक्त राजा प्रजा द्वारा अनाज का 1/10, स्वर्ण का 1/50 भाग कर के रूप में पाने का अधिकारी था।

10.5 आधुनिक कर-विषयक प्रणाली से तुलना

प्राचीन काल में भारतीय विचारकों विशेष रूप से भीष्म ने कर लगाये जाने हेतु कुछ तत्वों को आवश्यक माना है। ये सिद्धान्त वर्तमान समय में भी आर्थिक व्यवस्था की सुदृढ़ता के लिए आवश्यक माने जाते हैं जिससे राज्य की भूमिका को अधिक से अधिक प्रभावी एवं लोकहितकारी क्षेत्रों में क्रियाशील किया जा सके। साथ ही जनता की अधिक से अधिक भागीदारी बढ़े। यह तभी संभव है जब कर-संरचना जनता हेतु सुविधाजनक, मितव्ययी एवं लचीली हो। अन्यथा वे कर-चोरी करेंगे और राज-कोष खाली होते जाएंगे जिससे राज्य की सुरक्षा भी डावाँडोल होती जाएगी। आज विश्व की लगभग सभी सरकारें प्रजातंत्रीकरण के युग में जन-केन्द्रित एवं जनहितकारी आर्थिक-संरचना एवं बजट बनाती हैं जिससे इनकी आय भी बढ़ती रहे और जनता पर बोझ भी कम हो। भीष्म द्वारा वर्णित निम्न तत्व वर्तमानकालीन कर-प्रणाली की आधारभूत विशिष्टता के रूप में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते हैं-

1. सुविधा का सिद्धान्त

कर लगाये जाते समय राजा को व्यक्तियों के व्यय और उनकी आवश्यकता तथा देशकाल को दृष्टिगत रखते हुए ही कर लगाये जाने की बात कही है।

2. निश्चितता का सिद्धान्त

यह सिद्धान्त केवल इस सीमा तक ही मान्य न था कि कर लगाने का समय और स्थान ही निश्चित हो, वरन् इससे आगे बढ़कर इसकी निश्चितता पर इतना अधिक बल था कि आपत्तिकाल को छोड़ कर सदैव निश्चित रहते थे।

3. मितव्ययिता का सिद्धान्त

कर लगाये जाने के विषय में यह सिद्धान्त भी मान्य था कि आय से व्यय कम हो, इस हेतु राजा के मितव्ययी बनने पर जोर था।

4. लचीलेपन का सिद्धान्त

यह सिद्धान्त इस दृष्टि से मान्य था कि अधिकांश कर ऐसे थे जिसमें देश (प्रजा) की समृद्धि के साथ स्वयमेव कर वृद्धि होती थी।

5. समानता का सिद्धान्त

यह सिद्धान्त उसी सीमा तक मान्य था कि जो व्यक्ति धनी नहीं थे यथा ब्राह्मण, शारीरिक कर्म करने वाले, संन्यासी आदि उन्हें धन के रूप में कर नहीं देना पड़ता था।

प्राचीनकाल विशेषतया महाभारत काल में कर प्रणाली के सम्बन्ध में उपयुक्त व्यवस्था (सिद्धान्त) वर्तमान कालीन कर-व्यवस्था के सुदृढ़ आधारों के तुल्य प्रतीत होती है। वर्तमान में प्रचलित ये सिद्धान्त तो तत्कालीन समय में प्रचलित एवं मान्य थे ही, अन्य बहुत से कर सम्बन्धी सिद्धान्त भी भारतीय विचार में मान्य थे, जो भारतीय अर्थव्यवस्था को प्रभावी, गतिशील, क्रियाशील तथा अल्पव्ययी बनाकर सुदृढ़ करने पर बल देते हैं।

10.6 युद्ध का उद्देश्य

युद्ध की व्याख्या यह है कि जब दो राजाओं में शत्रुभाव हो गया हो और जब दोनों शस्त्रादि के द्वारा स्वार्थ-सिद्धि का प्रयत्न करते हैं, तो वह प्रयत्न युद्ध है। युद्ध के विषय में सबसे पहला नियम यह है कि शत्रु से यथासंभव संधि करने का प्रयत्न करना चाहिए। युद्ध तो अन्तिम अवस्था की ही बात होनी चाहिए क्योंकि साधारण शत्रु भी युद्ध को जीवन-मरण का प्रश्न समझकर सब-कुछ दाँव पर लगा कर युद्ध करता है तो विजय संन्देहास्पद रहती है। शान्तिपर्व में कहा है कि 'पहले तो साम के द्वारा प्रयत्न करना चाहिए और फिर बाद में युद्ध करना चाहिए। हे भरत! युद्ध में जो विजय मिलती है, वह अधर्म है, क्योंकि ऐसा विचार है कि वह अचानक दैवेच्छा से मिलती है। जिस प्रकार पानी का महावेग नहीं रोका जा सकता और त्रस्त मित्रों के टोले को भागने से नहीं रोका जा सकता उसी प्रकार नष्ट हुई बड़ी सेना को भी भागने से नहीं रोका जा सकता। मित्रों की टोली के समान ही युद्ध की इच्छा रखने वाली महान् सेना के भी भग्न होने पर विद्वान् लोग अकारण भागने लगते हैं। यदि (शत्रु की सेना के) पचास वीर भी परस्पर एक-दूसरे पर विश्वास रखते हों, प्रसन्नचित होकर, निश्चित मन होकर तथा प्राण छोड़कर लड़ते हों तो वह दूसरी सम्पूर्ण सेना को नष्ट कर डालते हैं। यदि पाँच, छः या सात कष्ट-सहिष्णु, कुलीन एवं सबके द्वारा सम्मानित लोग लड़ने का निश्चय कर लेते हैं तो वही विजय पा लेते हैं। इसलिए जहाँ तक संभव हो आक्रमण का विचार नहीं करना चाहिए तथा पहले साम, दाम एवं भेद का ही प्रयत्न करना चाहिए। युद्ध (अथवा दण्ड) तो अन्तिम (सबसे बाद की) अवस्था है। भीष्म का यह कथन कि-'युद्ध तो अन्तिम अवस्था है' से तात्पर्य यह है कि राजा को देश-काल एवं परिस्थितियों के अनुसार ही अन्तिम विकल्प के रूप में युद्ध को अपनाना चाहिए। जब कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को विशेष-रूप से निश्चय करना हो तो देश-काल का विचार करके किसी के विषय में विश्वास करना और किसी के साथ विग्रह करना उचित है। प्राण-रक्षा के लिए शत्रु के साथ संधि करना अथवा उसके शरणागत होना उचित है। जो राजा समयानुकूलता का अवलम्बन करके शत्रुओं के साथ सन्धि और मित्रों के प्रति विरोध करते हैं, अच्छा फल पाते हैं। यदि शत्रु की शक्ति का अनुमान लगा पाना कठिन हो अथवा शंका हो तो तटस्थता की नीति ही अनुकूल होगी परन्तु अपनी स्थिति के मजबूत होने पर ही अन्तिम रूप में यान अथवा आक्रमण करने पर ही विजिगिषु राजा सफल होता है। इस प्रकार राजा का उद्देश्य चार उपायों (साम, दाम, भेद एवं दण्ड) तथा 'षाड्गुण्य' नीतियों (सन्धि, विग्रह, यान आसन, संश्रय एवं द्वैधीभाव अर्थात् सन्धि एवं विग्रह दोनों को साथ-साथ) को अपनाने पर बल देना है जिससे वह अपने लक्ष्य अर्थात् राज्य की सुरक्षा एवं इसके विकास हेतु आवश्यकतानुकूल विभिन्न उपायों एवं सूत्रों के विकल्प को अपना सकें।

10.7 युद्ध करने योग्य अवस्था

यदि अन्त में ऐसा ही दिखे कि युद्ध करना ही पड़ेगा तो विजिगिषु राजा द्वारा अपने और शत्रु के बलाबल, शक्ति, देश-काल, यात्रा-काल, बल समुत्थान, बाद का क्षय, व्यय, लाभ और आपत्ति को जानकर और यह समझकर कि उसका विशेष बल है, फिर आक्रमण करना चाहिए, अन्यथा आसन अर्थात शान्ति की अवस्था में रहना उचित है। अर्थात जब विजिगिषु राजा को दिखे कि उसकी शक्ति तथा परिस्थिति दूसरे राजा से अच्छी है तभी युद्ध छेड़े और जब तक वह ठीक से देख ले कि स्वयं अधिक बलवान है, तब तक आक्रमण न करे। उसके अतिरिक्त यदि राजा कठिनाइयों में फंसा हो और आक्रमणकारी राजा स्वयं किसी विपत्ति में न फंसा हो, तब भी आक्रमण अथवा युद्ध प्रारम्भ किया जा सकता है। युद्ध करते समय इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि अधिक क्षय या व्यय न हो। मनुष्य एवं पशुओं के नष्ट होने से क्षय तथा धन और धान्य के नाश को व्यय कहते हैं।

10.8 युद्ध का स्वरूप

युद्ध दो प्रकार के बताए गए हैं-धर्मयुद्ध और कूट युद्ध। इनके लिए नियम यह बताया है कि जब देश-काल अनुकूल हो अर्थात् जब विजिगिषु के पास पर्याप्त साधन हों और वह शत्रु पक्ष में भेद डाल चुका हो उस समय प्रकाश युद्ध करना चाहिए, अन्यथा कूट युद्ध करना चाहिए। धर्म युद्ध के सन्दर्भ में शान्तिपर्व में धर्म नियम एवं उन नियमों के अनुसार चलने का आग्रह मिलता है अर्थात् जो मोक्ष में मन लगाये हों, भाग रहे हों तथा भोजन आदि करते हों, पागल हो गये हों, घबड़ा गये हों, शरण में आये हों, जिन्होंने धर्मकृत्य प्रारम्भ किए हों, घास आदि लाने का काम करते हों, व्यापारी हों, चाकर हों, जो द्वारपाल हों, सेना के कर्मचारी हों, सोये हों, प्यासे हों, थके हों और सेना से अलग हो गये हों, उन्हें न मारा जाय। वृद्ध, बालक, स्त्री, सेना के पीछे रहने वाले लोग तथा जो मुँह में तिनका दबाकर रहें 'मैं तुम्हारा दास हूँ' उन्हें भी न मारा जाय। ''जो कवच न पहने हों उसके साथ रण में युद्ध न करें तथा एक व्यक्ति एक ही के साथ युद्ध करे और यह कहकर युद्ध करे कि 'तुम बाण छोड़ो मैं भी छोड़ता हूँ'। यदि दूसरा योद्धा सन्नद्ध होकर आए तो स्वयं सन्नद्ध होकर युद्ध करें, यदि दूसरा सेना के साथ आये तो स्वयं भी सेना के साथ उसका आह्वान करें। यदि शत्रु कपट अथवा कूट युद्ध करे तो उसके साथ कूट युद्ध करे और यदि वह धर्मयुद्ध करे तो उसके साथ स्वयं भी धर्मयुद्ध करें।'' इस प्रकार महाभारत में राजा के लिए सामान्यतया धर्मयुद्ध करने का ही आग्रह है केवल कूटयुद्ध या छलकपट के विरूद्ध ही वह कूटयुद्ध कर सकता है। आचार्य बेनी प्रसाद जी ने भी 'युद्ध स्थल की नैतिकता' शीर्षक के अन्तर्गत लिखा है कि 'महाभारत कूटनीति के सिद्धान्तों की तुलना में युद्धस्थल की नैतिकता के ऊँचे स्तर को सिखाती है। क्षत्रिय धोखे के बदले ही धोखा कर सकता है। औचित्य के जवाब में उसे उचित मार्ग ही अपनाना उचित है। रथ पर चढ़े योद्धा के मुकाबले क्षत्रिय को घोड़े पर नहीं चढ़ना चाहिए और कवच न पहले हुए योद्धा के विरूद्ध कवच पहलकर युद्ध नहीं करना चाहिए। महाभारत में वर्णित कथा में अनेक योद्धाओं ने इस आदर्श का भिन्न-भिन्न मात्रा में पालन किया है, परन्तु द्रोणपर्व के भयानक युद्ध में शूरवीरों ने इन आदर्शों की तिलांजलि दी है।'

10.9 राजा (क्षत्रिय) का युद्ध में मरने से कल्याण होता है

समाज व्यवस्थापकों ने समाज का सर्वतोमुखी विकास एवं आध्यात्मिक उदात्त भावनाओं को बनाए रखने हेतु ही मनुष्य को प्रयत्नपूर्वक अर्थ और काम का उपभोग करते हुए उनसे निवृत्त हो क्रमशः मोक्ष की ओर बढ़ने का प्रयत्न करने पर बल दिया। जिससे मानव सांसारिक जीवन से, स्वार्थ से, सुखोपभोग से, व्यक्तिगत अहं से ऊपर उठाता जाए। अर्थात् भारतीय विचार में योग्यता तथा उन्नति आध्यात्मिक तथा चारित्रिक दृष्टि से नापी जाती है। इस कारण मनुष्य की यह उन्नति एवं योग्यता नापने का मापदण्ड 'त्रिगुण' अर्थात् सत्, असत् एवं रजस रखा गया है। सत् ज्ञान, धर्म एवं उन्नति का सूचक है तो असत् अज्ञान, अवनति एवं अधर्म का तो वहीं रजस साहस, सुरक्षा एवं विकास का परिचायक है। इन सब गुणों के आधार पर ही भारतीय व्यवस्था में कार्य-विभाजन किया गया है। इसी आधार पर वर्ग-व्यवस्था को गुण-कर्म पर आधारित करते हुए विभिन्न वर्णों के कर्म निर्धारित

हैं। डा० सिन्हा का मानना हे कि कृत्यों के आधार पर समाज विभिन्न वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र) में विभाजित हुआ। बहुधा युद्ध हुए जिनमें परिश्रम अपेक्षित था। युद्धकला में प्रवीण योद्धा क्षत्रिय कहलाए और युद्ध जीतने तथा अन्य उद्देश्यों हेतु ब्राह्मणों द्वारा धार्मिक कृत्य एवं प्रार्थना अधिक की जाने लगी। जीती गयी विशाल भूमि पर खेती करने तथा अन्य व्यापार एवं उद्योग चलाने के लिये वैश्य जाति बनी। उनकी सेवाओं हेतु मुख्यत: अनार्यों में से शूद्र बने।'' शान्तिपर्व (65:24) में कथन है :- दण्डनीति और राजधर्म की अस्थिरता होने पर सब कोई राजदौरात्मक दोष से मोहित हो जाते हैं। क्षत्रिय निखिल (सम्पूर्ण) दण्डनीति में तत्पर तथा उसे सम्मुखवर्तिनी करके सदा अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति के वास्ते यत्न और प्राप्त हुई वस्तु की रक्षा का उपाय करें।'' इस प्रकार दण्डनीति अथवा राजधर्म की स्थापना हेतु राजा या क्षत्रिय के युद्ध में भाग लेने की औचित्यता का महाभारत में यथोचित वर्णन प्राप्त होता है जिसका आधार 'त्रैगुण्य' ही है। जो राजा भय-रहित होकर युद्ध में शत्रुओं के ऊपर बाण चलाता है, उसका कल्याण होता है। युद्ध-भूमि में जितने बाण उसकी देह को छेदते हैं वह उतने ही परिमाण में सभी अक्षय लोकों को इच्छानुसार भोगता है और अपने शरीर का रूधिर (खून) बहने से वह सब पापों से मुक्त हो जाता है। शूरवीर पुरुष ही भयंकर युद्ध में स्वर्ग प्राप्ति के मार्ग का अवलम्बन कर शत्रुओं के समक्ष आकर अपने शरीर का त्याग करता है जबकि डरपोक एवं कायर मनुष्य उस अवस्था से भयभीत होकर भाग जाते हैं। शूरवीर तो संग्राम में शस्त्रों से घायल होकर मृत्युलाभ पाते हैं और इन्द्रलोक में वास करते हैं।

इस सम्बन्ध में भीष्म ने एक कथा बताई है कि राजा अम्बरीष जब स्वर्ग में गया तो उसने देखा कि उसका सेनापति सुदेव इन्द्र के साथ बैठा है तथा क्रमश: देवरूप होकर ऊपर चढ़ता चला गया है। अम्बरीष ने इन्द्र से कहा कि उसने राजधर्म, ब्रह्मचर्य धर्म और गृहस्थधर्म एवं क्षत्रियधर्म सभी का पालन किया है, और सुदेव ने न तो यज्ञ कर देवाताओं को तृप्त किया और न ही दान देकर ब्राह्मणों को तृप्त किया है। वह कैसे आगे बढ़ गया? इन्द्र ने उत्तर दिया कि इस सुदेव ने संग्राम यज्ञ नामक एक यज्ञ किया है, इस यज्ञ का फल उसे मिला है, जो युद्ध में आगे बढ़कर लड़ता है वही देवलोक का अधिकारी है।

इस प्रकार युधिष्ठिर के मन में उपजी इस शंका का कि ''क्षत्रिय के धर्म से बढ़कर अन्य पापी कोई दूसरा धर्म नहीं है, क्योंकि आक्रमण और युद्ध के द्वारा राजा बहुत से व्यक्तियों का संहार करता है का समाधान भीष्म युद्ध की आवश्यकता एवं महत्ता पर बल देकर करते हैं क्योंकि युद्ध में राजा पापियों का संहार करके सज्जनों का संग्रह करता है तथा यज्ञ और दान से वह निष्पाप एवं पवित्र हो जाता है।

10.10 युद्ध में शत्रुओं के प्रति व्यवहार

महाभारत में राजा द्वारा शत्रुओं के प्रति व्यवहार के सन्दर्भ में यर्थाथपरक विचार मिलते हैं। शान्तिपर्व के एक प्रसंग में इस विषय में स्पष्ट वर्णन है कि शत्रुओं की भूमि में उत्पन्न हुए अनाज आदि को घोड़े चलाकर नष्ट कराए। सहायों से युक्त होकर युद्ध के लिये यात्रा करे और अपनी विफलता देखकर स्थिर रहे। शत्रुओं के दोषों को निस्तारित करे और मृगया आदि के छल से दूसरे के राज्य में जाकर विपक्षी को निर्बल बनाए। दूसरे किले के स्वामी के साथ सन्धि करके देवतागण आदि के दर्शन के छलावे में अकस्मात् उसमें प्रवेश करके उन्नत राजाओं का विनाश करे और गुप्तरीति से रण-कार्य को निभाए। आप ही अपनी रक्षा करे और दूतों के द्वारा मालूम किए गए स्थानों केकेचुकी और रसोइये आदि शत्रुओं से भेदित होने पर अपनी ओर आते हुए विष, रूप आदि के जाल को रोके; विष देने वाले कुटिल पुरुषों का वध करे; शान्तवचन से दूसरे में विश्वास उत्पन्न करे और अपनी शक्ति दिखाता रहे। इस उदाहरण से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि भीष्म ने राजा को शत्रु के साथ व्यवहार में सदैव सतर्क, सन्नद्ध एवं क्रियाशील रहने का उपदेश दिया है जिससे वह न सिर्फ अपने राज्य की सुरक्षा करने में वरन् अपने राज्य को विस्तार देने में भी सक्षम होगा।

10.11 युद्ध-आवश्यक अंग

क - सेना

युधिष्ठिर से पूछने पर कि कैसे वाहन और किस भाँति से शस्त्रशाली शूरलोग युद्ध करने में समर्थ होते हैं, भीष्म ने उत्तर दिया (जो सभापर्व में हैं) चतुरंगिणी सेना अर्थात् हाथी, रथ, घोड़े और पैदल से युक्त शूरवीर युद्ध में सफलता करते हैं। शान्तिपर्व में वर्णन मिलता है कि ब्रह्मा द्वारा रचित दण्डशास्त्र में प्रकाश एवं गुप्त दोनों प्रकार की सेना का वर्णन है। बल अर्थात् सेना के आठ अंग बताये हैं- रथ, हाथी, घोड़े, पैदल, विष्टि अर्थात् भारवाहक, नाविक, चर (दूत) और उपदेष्टा अर्थात् युद्ध के लिए उत्साहित एवं प्रोत्साहित करने वाले। युधिष्ठिर के यह प्रश्न करने पर कि जयशील सेना के कौन से लक्षण होते हैं, भीष्म बोले- ''जिस सेना में वाहन और योद्धा लोग सदा उत्साहपूर्वक निवास करते हैं, उस सेना की निश्चय ही उत्तम विजय हुआ करती है।''

ख - शस्त्रादि

युधिष्ठिर के यह पूछने पर कि कैसे वाहन और किस भाँति के शस्त्र आदि से सुसज्जित शूरवीर युद्ध करने में समर्थ होते हैं और युद्धभूमि में सफलता प्राप्त करते हैं, भीष्म ने उत्तर दिया- गान्धार, सिन्धु और सोवीर, दक्षीय वीर लोग नखर एवं प्रास से युद्ध किया करते हैं; प्राग्देशीय योद्धा हाथियों के युद्ध में निपुण और कूटयोगी हैं; कम्बोज, यवन और मथुरावासी शूरपुरुष प्राग्देशीय योद्धाओं की भाँति युद्ध किया करते हैं और दक्षिणी लोग तलवार एवं बाहुयुद्ध में अत्यन्त निपुण हैं।

ग - दुर्ग

प्राचीन भारत के राज्य में जनपद के मध्य में पुर या राजधानी होती थी, जिसे दुर्ग से सुरक्षित बनाया जाता था तथा जहाँ से सैन्यशक्ति का प्रयोग भलीभाँति संभव हो जिसका दुर्ग सुदृढ़ होता है, उसे परास्त करना सरल नहीं होता। महाभारत में छः प्रकार के दुर्गों का वर्णन आता है जो निम्न प्रकार हैं- मरुभूमि दुर्ग, महिदुर्ग, गिरिदुर्ग, मनुष्य दुर्ग, मृतिका (मिट्टी का दुर्ग) और वन दुर्ग। इन विभिन्न प्रकार के दुर्गों के निर्माण के पीछे उद्देश्य राजा की सुरक्षा था, क्योंकि यदि राजा सुरक्षित एवं अजेय रहेगा तभी तक उसका राज्य सुरक्षित था।

घ - दूत एवं गुप्तचर

राजा के लिये दूतों एवं गुप्तचरों की आवश्यकता पर बल दिया गया है। राज्य के दूतों के माध्यम से पुर, जनपदवासियों, उदासीन शत्रु और मित्र सभी के अभिलक्षित विषय को मालूम करना चाहिए। राज्य के बाहर एवं भीतर पौर तथा जनपदवासियों से जो कार्य करना है, उसके बारे में पहले से दूतों एवं गुप्तचरों से भलीभाँति मालूम करके तब कार्य का प्रयोग करना चाहिए। राजा के लिए दूतों के सम्बन्ध में निम्न बातों का ध्यान रखना आवश्यक बताया है-

1. राजा को आपदकाल में भी दूत का वध नहीं करना चाहिए।
2. जो कुलीन, अच्छा बोलने वाला अर्थात् वाग्मीदक्ष, प्रियवचन कहने वाला, यथोक्तवादी और स्मृतिवान हो उसे ही राजा दूत बनाये।
3. राजा को सरकारी सेवकों, सामन्तों और जनता के विषय में जानकारी प्राप्त करते रहने के लिए अनेक प्रकार के गुप्तचर नियुक्त करने चाहिए।
4. गुप्तचरों को राज्य में घटित होने वाली सभी घटनाओं एवं परिस्थितियों से राजा को निरन्तर अवगत कराते रहना चाहिए।
5. गुप्तचरों को सार्वजनिक स्थानों, बगीचों, दुकानों एवं विद्वानों की बैठकों और साधारण

जन समूहों की भीड़ में जाना चाहिए जिससे राजा एवं राज्य के विषय में राजा को सही एवं तथ्यगत सूचना सदैव प्राप्त होती रहे।

10.12 सारांश

राज्य की आन्तिरक व्यवस्था को सुदृढ़ रखने के लिये जहाँ राजा एवं अमात्य (मंत्रिपरिषद्) की व्यवस्था है वहीं उसे स्थायित्व देने एवं सुरक्षित रखने के लिये महाभारत में कोष एवं सुरक्षा व्यवस्था (सेना) तथा युद्ध को भी महत्वपूर्ण बताया गया है। इसी कारण राज्य के सावयवी विवेचन में राजा एवं अमात्य के साथ ही कोष, बल एवं दुर्ग का इसके अंति महत्वपूर्ण अंगों के रूप में वर्णन मिलता है। जिससे राजा अपने राजधर्म का प्रयोग निष्कंटक तरीके से कर सके और राज्य का चर्तुमुखी विकास एवं लोक कल्याण संभव हो। इस दृष्टि से ही राजा द्वारा अपने समस्त लोकसेवकों पर नियंत्रण बनाए रखने हेतु दूतों एवं गुप्तचरों की नियुक्ति किये जाने पर भी बल है। जो राजा अपने इस धर्म (कर्त्तव्य) का पालन करता है, वही स्वर्गगामी होता है, अन्यथा अधर्मी होकर नरकगामी बनता है।

राज्य का शासन चलाने के लिये अर्थ की आवश्यकता होती है इसी कारण कोष के परिपुष्टीकरण पर विशेष बल है। राजा विविध प्रकार के करों को लगाकर जनता से प्राप्त धन (कर) द्वारा कोष को परिपूरित रखता है जिससे शान्तिकाल में जन कल्याणकारी कार्य तथा आपदकाल में प्रजारक्षण के कार्य सफलतापूर्वक किए जा सकें। इस हेतु ही कोष (आर्थिक-व्यवस्था) के सुदृढ़ीकरण पर विशेष बल महाभारत में मिलता है। लेकिन राजा प्रजा से धन (कर) उसकी सहमति एवं इच्छानुसार ही प्राप्त करता है जिससे वह राजा के प्रति कुपित न होवे। इस प्रकार प्रजा राज्यनिर्भर न होकर आत्मनिर्भर हो और राज्य भी मजबूत हो, व्यवस्था, उत्तम हो तथा निरन्तर ऊर्ध्वगामी हो विकासमान रहे। इन सब कारणों से राज्य के आय के साधन निश्चित एवं सीमित कर दिये गये थे और नया कर लगाना वर्जित था, आपदाओं को छोड़कर। तत्कालीन आर्थिक प्रणाली वर्तमान कालीन अर्थव्यवस्था के समतुल्य ही करों के निर्धारण एवं निश्चितीकरण मितव्ययिता, लचीलापन एवं समानता जैसे मूल्यों से संचालित थी क्योंकि इसका उद्देश्य राज्य को समृद्ध कर इसकी आय में निरन्तर वृद्धि करना था।

कोष के अतिरिक्त दूसरी महत्वपूर्ण आवश्यकता है- बाह्य आक्रमण से रक्षा की, जिसके लिये दुर्ग एवं सेना (जिसमें आयुध भी सम्मिलित हैं) की आवश्यकता पर इसमें बल है, जो बाह्य आक्रमण के साथ ही आन्तरिक सुरक्षा को बनाये रखते हैं। राजा का लक्ष्य शत्रु राज्य को विजित करना है जिससे युद्ध अनिवार्य हो जाता है। चूँकि युद्ध के बिना तत्कालीन समय में राज्य अपना विकास कर सकने में कठिनाई महसूस करते थे क्योंकि युद्ध जहाँ प्रजा में राज्य के प्रति जूनून पैदा करता है, संगठन आता है, एकता का भाव पैदा करता है, वहीं दूसरी ओर राज्य की सीमाओं में विस्तार भी करता है। इसी कारण क्षत्रिय का युद्ध में मरना महाभारत में श्रेष्ठ एवं स्वर्गगामी माना गया है। परन्तु युद्ध में नैतिकता के नियमों का पालन वर्तमान में अन्तर्राष्ट्रीय नियमों (जिनेवा प्रस्तावों या हेग अभिसमयों) से किसी प्रकार कम नहीं मालूम होता है। इसी कारण महाभारत में यह आग्रह मिलता है कि युद्ध धर्मपूर्वक ही लड़ा जाए, जो अधर्म से युद्ध करता है उसका विनाश हो जाता है।

10.13 शब्दावली

राजकोषीय नीति- राज्य की अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ बनाने एवं मजबूत बनाने के लिये राजा द्वारा उठाये गये कदम या उपाय जिससे कोष की वृद्धि हो।

विजिगीषु- विजय की इच्छा रखने वाला राजा अथवा सम्राट्।

परिपुष्टि- सन्तुष्टि अथवा सम्पन्नता।

बलिकर- कृषि की उपज पर लगने वाला कर।

शुल्क- बाजार या हाट पर लगने वाला कर।

आकर कर- खनिज पदार्थों पर लगने वाला कर।

सन्तरण कर- जलकर।

दण्ड- अपराधों पर दण्ड के फलस्वरूप प्राप्त जुर्माना।

साम- समझाना-बुझाना या वार्तालाप द्वारा समस्याओं का समाधान।

दान- धन का लोभ देकर।

भेद- फूट पैदा करना।

10.14 उपयोगी पुस्तकें

1. The Mahabharat in the northern recension was translated into English under the editovship of P.C. Ray in Calcutta, 1883-96, also by M.N. Dutta (Calcutta 1896).
2. Avangar, Krishna Swami S. Ancient India, Madras, 1911. The Work is devoted chiefly to the hisrory of South India.
3. Jaiswal, K.P., Hindu Polity, Calcutta, 1924.
4. Ghosal, U.N. : A History Indian Politcal Ideas.
5. Prasad, Beni : Theory of Governement in Ancient India, London, 1926.
6. काणे, पी० वी० : धर्मशास्त्रों का इतिहास
7. दामोदरन, के० : भारतीय चिन्तन परम्परा
8. परमात्मा शरण : प्राचीन भारत में राजनीति विचार एवं संस्थाएँ

10.15 सम्बन्धित प्रश्न

प्रश्न 1 कोष (धन-संग्रह) के उद्देश्य स्पष्ट कीजिए। (लघु उत्तरीय)

प्रश्न 2 अर्थव्यवस्था के सुदृढ़ीकरण के लिए महाभारत में वर्णित करों के विविध सिद्धान्तों का उल्लेख कीजिए। (लघु उत्तरीय)

प्रश्न 3 वर्तमान कर प्रणाली की विशेषताओं की महाभारत में वर्णित कर प्रणाली से तुलना कीजिए। (लघु उत्तरीय)

प्रश्न 4 युद्ध स्थल की नैतिकता पर अपने विचार प्रस्तुत कीजिए। (लघु उत्तरीय)

प्रश्न 5 युद्ध में राजा द्वारा अपने शत्रुओं के प्रति व्यवहार को स्पष्ट कीजिए। (लघु उत्तरीय)

प्रश्न 6 युद्ध के लिये आवश्यक सामग्री पर अपने बिचार दीजिए। (लघु उत्तरीय)

प्रश्न 7 महाभारत में वर्णित आर्थिक प्रणाली की विवेचना कीजिए। (दीर्घ उत्तरीय)

प्रश्न 8 युद्ध की आवश्यकता एवं महत्ता पर महाभारत में वर्णित विचारों की व्याख्या कीजिए। (दीर्घ उत्तरीय)

प्रश्न 9 युद्ध के आवश्यक अंगों का विवेचन कीजिए। (दीर्घ उत्तरीय)

वास्तुनिष्ठ प्रश्न

निर्देश : (1) सही विकल्प का चुनाव कीजिए।

(2) इकाई के अन्त में दिए गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1. निम्न में से कौन सा अंग राज्य के लिये आवश्यक नहीं हैं?
   (a) राजा
   (b) कोष
   (c) युद्ध
   (d) सेना

2. महाभारत में कोष संचय हेतु राजा को प्राप्त हैं :-
   (a) सीमित अधिकार
   (b) असीमित अधिकार
   (c) दैवीय अधिकार
   (d) उपर्युक्त में कोई नहीं।

3. बलि कर से तात्पर्य हैं :-
   (a) पशुओं की बिक्री पर लगाया जाने वाला कर
   (b) कृषि की उपज के आधार पर लगाया जाने वाला कर
   (c) हाट या बाजार में माल की बिक्री पर लगाया जाने वाला कर
   (d) इनके से कोई नहीं

4. पशुकर पशुओं की बिक्री से लाभ का कुल .... हिस्सा माना गया हैं :-
   (a) छठवाँ
   (b) दसवाँ
   (c) पचासवाँ
   (d) सौवाँ

5. आकर कर लगाया जाता हैं :-
   (a) नदी आदि जलस्थानों के पार करने पर
   (b) खनिज पदार्थों के उत्खनन एवं ब्रिकी पर
   (c) राजा द्वारा दण्डनीय अपराधों पर
   (d) उपर्युक्त में किसी पर नहीं

6. 'युद्ध अन्तिम अवस्था हैं' से पूर्व की अवस्था में अधोलिखित शामिल नहीं हैं
   (a) साम
   (b) दाम
   (c) भेद
   (d) यान

7. राजा को शत्रु राजा पर आक्रमण (युद्ध) तभी करना चाहिए जब वह -
   (a) सावधान हो
   (b) श्रद्धावान हो

(c) विपदाग्रस्त हो

(d) युद्ध के लिये तैयार हो

8. राजा के युद्ध में मारे जाने पर -

(a) पुण्य मिलता है।

(b) पाप मिलता है।

(c) ख्याति मिलती है।

(d) इनमें से कोई नहीं।

9. चतुरंगिणी सेना में निम्नलिखित में कौन शामिल नहीं है -

(a) तोपची

(b) पैदल

(c) घुड़सवार

(d) रथी

10. राजा के दूतों का -

(a) वध करना चाहिए

(b) वध नहीं करना चाहिए

(c) परिस्थितिजन्य व्यवहार करना चाहिए

(d) उपर्युक्त में कोई नहीं।

10.16 प्रश्नोत्तर

1. (c) 2. (a) 3. (b) 4. (c) 5. (b) 6. (d)

इकाई 11 : गणतंत्र (Republic)

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य
11.1 प्रस्तावना
11.2 प्राचीन भारतीय राजशास्त्र में संघ या गण
11.3 महाभारत में राज्यों के विभिन्न प्रकार
11.4 संघ अथवा गण-राज्यों का संगठन
11.5 गणों की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें
11.6 गणराज्यों के विकास के मार्ग में बाधाएँ
11.7 गणराज्यों के दोषों के निराकरण के उपाय
11.8 सारांश
11.9 उपयोगी पुस्तकें
11.10 विविध शब्दावली
11.11 सम्बन्धित प्रश्न
11.12 प्रश्नोत्तर

11.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप -

- प्राचीन भारतीय राजशास्त्र में गणराज्यों या संघों के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- इस इकाई में महाभारत में वर्णित शासन-व्यवस्था के विविध प्रकारों में से गणतंत्रों के विकास संगठन एवं अन्य विशिष्टताओं के बारे में जानकारी मिल सकेगी।
- महाभारत में वर्णित स्थानों एवं उद्धरणों के माध्यम से गणतंत्रीय प्रणाली की सफलता हेतु आवश्यक दशाओं के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- इस इकाई में गणों के मार्ग में आने वाली बाधाओं एवं उनके निराकरण के उपायों से परिचित हो सकेंगे।
- प्राचीन गणतंत्रीय प्रणाली एवं वर्तमान भारतीय गणतंत्रीय व्यवस्था के बीच एक संक्षिप्त तुलनात्मक मूल्यांकन से भी निष्कर्ष रूप में परिचित हो सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई तीन में आप प्राचीन भारतीय चिन्तन में विशेष रूप से महाभारत में वर्णित शासन की विविध प्रणालियों में से गणतंत्रीय शासन-व्यवस्था से परिचित होंगे। पूर्व के अध्यायों के विवेचन से यह स्पष्ट जानकारी मिलती है कि हमारे प्राचीन राजनीतिक चिन्तन में विचारकों ने राजतंत्रीय प्रणाली पर ही प्रमुख रूप से बल दिया है। सम्पूर्ण शासन प्रबन्ध का केन्द्र बिन्दु राजा था, जो विनयी, **गुढशील एवं दृढ़ होता था। राजा एवं राज्य सामान्यतया पर्याय के रूप में प्रयुक्त शब्दावलियाँ हैं।** विजिगिषु राजा का सिद्धान्त ही केन्द्रीय विषय रहा है जिस पर हमारे प्राचीन विचारकों ने प्रमुखतया बल दिया है। राजा चक्रवर्ती होता था अर्थात् अन्य छोटे-छोटे राज्यगण उसकी अधीनता स्वीकार करते थे, उसकी आज्ञा का तिरस्कार नहीं करते थे। चक्रवर्ती राजा अथवा सम्राट् उनकी आन्तिरक शासन व्यवस्था में सीधा हस्तक्षेप नहीं करता था। एक बार उस राज्य को विजित करने के पश्चात् वह उसी वंश के अथवा अपने पक्षधर को वहाँ का शासक नियुक्त कर देता था और उसकी

आन्तरिक शासन-व्यवस्था में सीधा हस्तक्षेप नहीं करता था। वे अधिराज्य उसे नियत राशि (टोकन मनी) या उपहार दिया करते थे। इन अधिराज्यों की आन्तरिक स्वायत्ता ही शनैः-शनैः गणों या संघीय राज्यों के विकास का आधार बनी।

इस प्रकार प्राचीन राजशास्त्र में विचारकों ने राजा की उत्पत्ति, राजधर्म एवं उसके उद्देश्यों और कार्यों पर विशद रूप से अपने विचार प्रस्तुत किए हैं किन्तु इसके अतिरिक्त भी जिस शासन पद्धति की विवेचना विशेष रूप से कथानकों उद्धरणों आदि के माध्यम से हमें प्राप्त होती है वह है - गणों की शासन-व्यवस्था। डा०के०पी० जायसवाल एवं अन्य भारतीय लेखकों ने इस शब्द 'गण' को व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया है, क्योंकि उनके अनुसार अ-राजतंत्रीय राज्य गणराज्य थे। महाभारत में भी इस शब्द का प्रयोग बारम्बार हुआ जो स्वशासित समुदायों की ओर संकेत करता है। इस अध्याय में हम मूलतः महाभारत में वर्णित संघ या गणतंत्रात्मक प्रणाली पर प्रकाश डालेंगे।

11.2 प्राचीन भारतीय राजशास्त्र में संघ या गण

भारत में लोकतंत्रीय संस्थाएँ प्राचीन काल से चली आ रही हैं। डा०के०पी० जायसवाल ने अपनी बहुमूल्य खोज से यह सिद्ध किया है कि प्राचीन भारत में गणतंत्र थे। इस विषय में भारतीयों में दो मत नहीं रहे। डा०वी०पी० वर्मा का कथन इस बात की पुष्टि करता है कि उन विद्वानों को जिन्होंने एशिया के विषय में केवल निरंकुश, धर्मतन्त्रात्मक, स्वेच्छाचारी शासन की धारणाएँ बनायी थीं, यह जानकर आश्चर्य हुआ होगा कि प्राचीन भारत में गणतंत्रीय संस्थाएँ थी। डा० जायसवाल ने प्राचीन भारत में गणतंत्र या प्रजातन्त्र थे, यह सिद्ध करने के लिए विभिन्न प्रमाण एवं साक्ष्य दिए हैं, जिनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार हैं, गणराज्य के लिए प्राविधिक शब्द 'गण' है, ऋग्वेद, में 46 बार, अर्थवेद में 9 बार और ब्राह्मण गन्थों में कई स्थलों पर मिलता है, परन्तु उसका स्वरूप भूमिगत राज्य की अपेक्षा जनात्मक संगठन अधिक था।

डा० जायसवाल का यही मत है कि प्रारम्भिक वेदों में तो केवल राजतन्त्र का उल्लेख मिलता है। इस साधारण एवं प्रचलित शब्द के प्रयोग में उत्तरवैदिक काल में परिवर्तन हुआ जैसा कि मेगस्थनीज ने इस काल की परम्परा के विषय में लिखा है कि विभिन्न स्थानों में प्रभुता (राजत्व) भंग हुई और प्रजातन्त्रात्मक शासन स्थापित हुआ। महाभारत भी राजतंत्र को ही वैदिक पद्धति मानती है। ऋग्वेद एवं अथर्ववेद के प्रार्थना गीत, महाभारत का दृष्टिकोण और वह परम्परा जिसके विषय में मेगस्थनीज ने भारत में चौथी शती ई०पू० में सुना इस तथ्य की ओर इंगित करते हैं कि भारत में गणतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था प्रारम्भिक वैदिक काल और राजतंत्र के बहुत बाद आया।

महाभारत में उस नीति का विवेचन है जिस पर राजा को गणों के सम्बन्ध में और गणों को अपनी रक्षा के लिए चलना चाहिए। शान्तिपर्व में 'गण' शब्द का प्रयोग स्वशासित समुदाय के लिए हुआ है न.कि व्यापारियों अथवा हस्तकलाकारों के नियमों के लिए। एक स्थल पर कहा गया है कि पर्वतवासी दस्युगण को पाण्डवों (अजुर्न) ने जीता। वास्तव में ये गण चोरों-डाकुओं के नहीं जान पड़ते हैं; वरन् पहाड़ियों (पहाड़ों पर निवास करने वाले) जैसे मोहमन्दों, बजरियों आदि के पूर्व पुरुषों के थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में गणों के अस्तित्व को माना गया है, यद्यपि उस समय तक जबकि अर्थशास्त्र की रचना हुई थी, गणराज्य अतीत के अंग हो चुके थे। पाणिनि ने भी गण अथवा 'संघ' शब्द का प्रयोग किया है, जो समानार्थी है। बौद्धकाल में तो 'गण' शब्द का प्रयोग जनतंत्रात्मक राज्यों के लिए खुलकर होने लगा था। अवदान शतक में मध्य प्रदेश के कुछ वैश्य अपने क्षेत्र के राज्यों के विषय में बताते हैं कि वहाँ कुछ राज्य गणाधीन थे तथा कुछ राजाधीन।

11.3 महाभारत में राज्यों के विभिन्न प्रकार

महाभारत में अराजक अर्थात् राज्य विहीन अवस्था का प्रारम्भ में वर्णन किया गया है, जिसे राज्य की संज्ञा देना उचित नहीं होगा। इसमें अधिकांशतः राजतंत्रों का ही वर्णन प्राप्त होता है। शान्तिपर्व में राजधर्म का विशद रूप में तथा अन्य पर्वों में भी राजा के कर्त्तव्यों का यत्र-तत्र वर्णन किया गया है।

राज्य एवं राज्यपद आकार में बड़े और छोटे दोनों ही मिलते हैं अर्थात् राजा में सम्राट (चक्रवर्ती राजा) एवं करद (छोटे राजा) सम्मिलित हैं। बड़े राजाओं के सामने सम्पूर्ण भारतवर्ष पर अपना आधिपत्य स्थापित करने का आदर्श रहता था, परन्तु करद राजाओं या सामन्तों की संख्या अधिक होने से छोटे राज्यों की संख्या अधिक थी। इस सम्बन्ध में यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि शान्तिपर्व की स्थापना के उद्देश्य से युधिष्ठिर केवल पाँच गाँवों की माँग कौरवों के समक्ष रखते हैं और इन तक ही अपने राज्य को सीमित करने हेतु तैयार थे। छोटे राज्यों के शासक प्राय: राजन कहलाते थे जबकि प्रभुता प्राप्त राज्य का शासक सम्राट् अथवा अधिपति कहलाता था।

महाभारत के शान्तिपर्व में दो संघों के बारे में वर्णन प्राप्त है। इसमें से एक छोटा संघ था और दूसरा बड़ा संघ था। छोटा संघ अंधक और वृष्णि दो राज्यों से मिलकर बना था और बड़े संघ में पाँच राज्य सम्मिलित थे- अन्धक, वृष्णि, यादव, कुकुर एवं भोज जिन्होंने एक संघ के अन्तर्गत अपने आपको संगठित किया था। इस संघ के प्रमुख श्रीकृष्ण थे, जिन पर उन सभी गणराज्यों के उत्थान का भार था। संयुक्त संघ के सदस्य-राज्य, अपने-अपने नेता की अधीनता में स्वायत्त थे। संघ कई प्रजातंत्रीय स्वायत्त इकाइयों के समुदाय की संज्ञा थी, परन्तु गण से प्रत्येक गणराज्य का बोध होता है, जिनके प्रमुख अलग-अलग होते थे।

11.4 संघ या गणराज्यों का संगठन

संघ कई गणराज्यों का समुदाय था जिसके प्रमुख चुने जाते थे। संघ में प्रभुता प्राप्त संस्था संघ की सभा थी; इसमें संघ के अन्तर्गत संघीभूत हुए गणराज्यों के प्रतिनिधि सदस्य होते थे। ये बहुमत से शासन-सम्बन्धी समस्याओं पर वाद-विवाद द्वारा निर्णय देते बताये गये हैं। इस वाद-विवाद के दौरान एक दल दूसरे दल को नीचा दिखाने का प्रयत्न करता हुआ दिखायी पड़ता है। इन सभी का अध्यक्ष राजा और उपाध्यक्ष उपराजा कहलाता था। प्रत्येक दल इस बात के लिए प्रयत्नशील दिखलाई पड़ता है कि उसके दल का नेता संघ के अध्यक्ष का पद प्राप्त कर ले। इसलिए अन्धक और वृष्णि में यह संघर्ष इस सीमा तक पहुँचा हुआ था कि श्रीकृष्ण जैसे नीतिनिपुण नेता को भी इसके निराकरण के उपाय ढूँढने के लिए नारद मुनि की सहायता लेने पर विवश होना पड़ा। श्रीकृष्ण विभिन्न जातियों की आलोचना से सदैव परेशान रहते थे। इसीलिए उन्होंने नारद मुनि से अपनी मुसीबत के सम्बन्ध में प्रश्न किया जिसका उत्तर उन्होंने यह कहकर दिया कि यह अन्दरुनी (आभ्यान्तर) विपत्ति है जो तुम्हें परेशान कर रही हैं इस विपत्ति का निवारण एक ऐसे शस्त्र से किया जा सकता है, जो लोहे का बना न होकर अत्यन्त मृदु होते हुए भी हृदयों को जीतने में समर्थ होता है। यह शस्त्र है दूसरों के प्रति सदा मीठी वाणी बोलना, सबका यथायोग्य रूप से आदर करना और अन्न, भोजन आदि द्वारा यथाशक्ति सत्कार करना। नि:संदेह लोकतंत्र वाले गणराज्यों में संघमुख्यों के लिए यह अनिवार्य है कि वे सबका मन रखें, सबके प्रति मृदुवाणी का प्रयोग करें, सबका आदर करें और इनका-भोजन आदि से यथोचित रूप से सत्कार करते रहें।

11.5 गणराज्यों की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें

महाभारत में इन गणों अथवा संघ की सुस्थिति बनाये रखने के उपाय भी बताये गये हैं। इनको संगठित होकर रहना चाहिए जिससे अर्थ-लाभ होगा और अन्य लोग मित्रता करने को इच्छुक रहेंगे। इस संदर्भ में यह भी कहा है कि गणों के शासन में कतिपय कुलों का महत्व होता था, जो उद्योग, बुद्धि, रूप व धन में न होते हुए भी जाति की दृष्टि से अपने को एक समझते थे। चाहे उनमें शक्ति, बुद्धि व धन की कितनी भी विषमता हो, पर शासन में उनकी स्थिति एकसमान होती थी। इसी कारण शत्रु के लिए धन आदि देकर फूट डाल सकना सुगम होता था। भीष्म के अनुसार कुलवृद्धों का यह कर्त्तव्य था कि वे अपने भाइयों-पुत्रों को नियंत्रण में रखे, ताकि गण के अन्तर्गत विभिन्न कुलों में फूट न पड़ने पाए। साथ ही गुण के मुखियों एवं प्रधानों का भी यह कर्त्तव्य था कि वे आभ्यन्तर भयों से गणों की रक्षा के लिए सदैव प्रयत्नशील रहें। भीष्म के अनुसार गणों के लिए अकेले अपनी रक्षा कर सकना भी सुगम नहीं होता, इसीलिए उन्होंने उपदेश दिया कि उन्हें मिलकर परस्पर 'संघात' बनाना

भीष्म ने गणों की रक्षा एवं उन्नति के लिए जिन बातों को उपयोगी माना है वे निम्नलिखित हैं :

1. गण में जो शास्त्रानुकूल धर्म एवं व्यवहार चले आ रहें हों, उनका यथावत् रीति से पालन किया जाए, उन्हें भलीभाँति स्थापित रखा जाए।

2. सब बातों को उनके वास्तविक रूप में देखा जाए। पक्षपात अथवा लोभ के कारण किसी बात को अन्यथा न देखा जाए।

3. गण के अन्तर्गत कुल के व्यक्तियों में यह प्रवृत्ति स्वाभाविक है कि वे अपने कुलगौरव के कारण नियन्त्रण में रहें। कुलवृद्धों (कुल के नेताओं) के लिए यह आवश्यक है कि अपने पुत्रों एवं भाइयों को काबू में रखें, उन्हें नियंत्रण में रहने के लिए विवश करें और नियंत्रण में रहने पर उनका गण के हित के लिए उपयोग करें।

4. गण-मुख्यों का सम्मान किया जाए क्योंकि गण की रक्षा एवं उन्नति उन्हीं पर निर्भर है। उनके आत्मसम्मान की रक्षा से ही कुलगौरव का मान अक्षुण्ण बना रहता है।

5. राजकीय विषयों में जो गोपनीय हो उसे गण के सम्मुख उपस्थित न किया जाए। गणमुख्य स्वयं ही उन पर मिलकर विचार-विमर्श एवं निर्णय किया करें क्योंकि गणों में मन्त्र की गोपनीयता कठिन होती है।

6. यह यत्न किया जाए कि गणों में फूट न पड़े। धन देकर व फूट डालकर शत्रु-राजा गणों को अपने वश में लाने में समर्थ होते हैं। जब गण में फूट पड़ने लगे तो समझदार नेताओं का यह कर्त्तव्य है कि वे गण को फूट (आपसी सहमति) से बचाएं।

7. गणों के लिए असली भय आभ्यन्तर ही होता है, बाह्य भय का उनके लिये कोई महत्व नहीं क्योंकि उसके लिए वे सदैव सर्तक रहते हैं। अतएव प्रयत्न यह होना चाहिए कि गणों की आभ्यन्तर भयों (आपसी कटु वचनों एवं फूट से) से रक्षा की जाए। भीष्म ने इस तथ्य को बड़े स्पष्ट रूप से इस प्रकार प्रकट किया है-क्रोध, लोभ व मोह के कारण गण के मुख्यों'एवं नेताओं में इतनी फूट पड़ जाती है कि वे परस्पर वार्तालाप भी बन्द कर देते हैं। जब यह दशा आ जाए तो समझ लेना चाहिए कि अब पराभाव के चिन्ह प्रकट हो गये हैं।

11.6 गणराज्यों के विकास के मार्ग में बाधाएँ

महाभारत में गणों के दोषों का वर्णन किया गया है और यह भी बताया गया है कि इन दोषों को किस प्रकार दूर किया जा सकता है। गणों में निम्नलिखित दोषों के कारण उनका अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है :

1. गणों की आन्तरिक आपत्ति से रक्षा करने पर अधिक बल है क्योंकि उसकी तुलना में बाह्य भय तुलनात्मक दृष्टि से कम महत्वपूर्ण है। आन्तरिक आपत्तियों में है कि बहुत व्यक्तियों में मन्त्र (मन्त्रणा) को गोपनीय रखना कठिन होता है।

2. गणों में अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने की लालसा के कारण परस्पर फूट पैदा हो जाता थी जिससे इनमें भेद पैदा करके उन पर आसानी से बड़े साम्राज्य अपना आधिपत्य स्थापित कर लेते थे क्योंकि फूट या भेद के कारण उन्हें परस्पर साथ रख पाना कठिन हो जाता था।

3. गणराज्य क्षेत्र एवं जनसंख्या में अति छोटे थे अतएव विदेशी सेना के आक्रमणों एवं देश के भीतर उदय हुए शक्तिशाली सामन्तों का सफलतापूर्वक सामना कर सकने में उनकी सफलता संदिग्ध थी। डा० के०पी० जायसवाल उनके दोषों में प्रथम स्थान इसी बात को देते हैं कि गणतत्रों का छोटापन राज्य की बड़ी कमजोरी थी। ऐसे राष्ट्रों को जो छोटे रहते हैं, उनमें चाहे कोई भी गुण हों, अस्तित्व मिटा दिया जाता है। बड़े राज्यों ने, जिन्होंने लालची फनों को विकसित किया, छोटे राज्यों को खा लिया।

4. महाभारत में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जब गणों में क्रोध, विभाजन, एक-दूसरे के प्रति

विश्वास का अभाव, सैनिक हिंसा, अत्याचार एवं दमन आदि घर कर लेते हैं तो वे तुरन्त ही शत्रु के चंगुल में फँस जाते हैं।

5. गणों के निर्णयों को नेताओं द्वारा गुप्त रखना चाहिए, मन्त्रणा का गुप्त न रहना उनका एक बड़ा दोष है।

6. गणों के नेताओं को एकत्रित होने पर सदा ही गण के कल्याण हेतु पग उठाने चाहिए, ऐसा न होने पर गण नष्ट हो जाता है।

गणतंत्रों के पतन के विषय में सालटोरे का यह कथन महत्वपूर्ण है कि 'उपर्युक्त कारणों में से, जिनके फलस्वरूप ग्रीक नगर-राज्यों का पतन हुआ, कुछ भारतीय गणराज्यों के पतन के लिए भी उत्तरदायी रहे। आपसी झगड़ों एवं ईर्ष्या से संबंधित पहला वह भयानक रोग रहा जिसने ग्रीक एवं भारतीय दोनों ही समुदायों को घेरा। इसी से यह स्पष्ट होता है कि सिकन्दर ने किस सफलता से एक भारतीय गणतन्त्र को दूसरे गणतन्त्र से भिड़ाया और सबको जीत लिया।' भारतीय गणराज्यों के अन्तिम काल का वर्णन डा० जायसवाल ने बड़े सुन्दर ढंग से किया है- 'वैदिककाल से चली आई सभी अच्छी बातों ने देश से विदा ली। गणतन्त्रवाद उस महान पतन को आरम्भ करने में प्रथम था, उसने राजनीतिक निर्माण के दुःख भरे गीत का नेतृत्व किया। 1350 ई० से आगे हिन्दू इतिहास में चमत्कारपूर्ण जीवनियाँ रह गयी- कुछ बिखरे हुए हीरे, जिनको बाँधने वाले राष्ट्रीय और सामान्य जीवन के सूत्र का अभाव था। समुदाय ने स्वतन्त्रता की साँस लेना बन्द कर दिया।

11.7 गणराज्यों के दोषों के निराकरण के उपाय

महाभारत में इन गणों या संघों की सुस्थिति बनाये रखने के उपाय भी बताये गये हैं। जो निम्नवत् है :

1. गणों को संगठित होकर रहना चाहिए जिससे अर्थलाभ होगा और अन्य लोग मित्रता करने को इच्छुक रहेंगे।

2. गणों में शास्त्रानुसार होकर धर्मपूर्ण व्यवहार (नियमों) की स्थापना करनी चाहिए, पुत्रों, भाइयों आदि को नियन्त्रण में रखते हुए उन्हें विजयी बनाना चाहिए। जो विनीत हो, सदगुणी एवं धैर्यवान प्रत्युत्पन्नमति हों उन्हीं को ग्रहण करना चाहिए अर्थात् ऐसे ही व्यक्तियों को महत्वपूर्ण स्थानों (पदों) पर रखना चाहिए।

3. जो बुद्धिमान, शूर एवं उत्साही तथा विभिन्न कार्यों को करने में स्थिर रूप से पुरुषार्थ करते हैं, उनका सम्मान होना चाहिए क्योंकि संसार में सफलतापूर्वक जीवन (महान लोकयात्रा) उन्हीं पर निर्भर है।

4. मंत्र की गुप्तता तथा गुप्तचरों की नियुक्ति प्रधानों के हाथ में रहनी चाहिए अर्थात् सम्पूर्ण गण को मन्त्र जानने का अधिकार नहीं होना चाहिए।

5. जो एक-दूसरे से भेद रखते हुए अपनी शक्ति के अधार पर व्यवहार कर रहे हों, उन पर नियंत्रण रखना चाहिए।

6. मंत्रणा, गुप्तचरों की व्यवस्था तथा कोष वृद्धि या संग्रह में सदैव लगे रहना चाहिए।

7. गण प्रमुख को ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए जिससे संघ का विनाश हो। जैसा कि श्री नारद जी ने श्रीकृष्ण को परामर्श देते हुए कहा कि संघ का प्रमुख होने के कारण उनहें सदा मृदु शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। साथ ही गणों के विकास हेतु सहिष्णुता, प्रामणिकता, सरलता का प्रयोग, सबका यश योग्य सम्मान और शक्ति के अनुसार अन्नदान (अर्थात जीविकादान) करना चाहिए।

8. गण प्रमुख को धैर्यवान, इन्द्रियनिग्रही, विनयी एवं त्यागी (अर्थधन दान करने हेतु तत्पर) होना चाहिए। इन गुणों के बिना गण बुद्धिमान के अधीन नहीं होता और उनमें पराभव के चिन्ह उत्पन्न होने लगते हैं।

इस प्रकार गणराज्यों के विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं के वर्णन के साथ ही इनके निराकरण के उपाय महाभारत में बताये गये हैं जिनसे उनमें व्याप्त परस्पर अविश्वास एवं फूट को रोका जा सके और उनके विकास के मार्ग को प्रशस्त किया जा सके।

11.8 सारांश

महाभारत में गणराज्यों का वर्णन स्पष्ट रूप में मिलता है। इसमें गणप्रमुखों के चुनाव की बात भी मिलती है। भले ही गणप्रमुखों के चयन में जनता की सीधी भूमिका आजकल की पद्धति की भाँति न रही हो, एवम् महाभारत में राजा के नियुक्ति का आधार वंशानुगत रहा हो, परन्तु राजत्व के स्थायित्व एवं उसकी सुदृढ़ता बनाये रखने हेतु उसे जनता से सम्पुष्टि प्राप्त करनी होती थी। अनेक अवसरों पर भावी राजा अथवा युवराज की नियुक्ति की घोषणा पर राजा को अपने आदेश में संशोधन अथवा उसे बदलने के उदाहरण भी इसमें प्राप्त होते हैं। जैसा कि धृतराष्ट्र द्वारा दुर्योधन के युवराज बनाये जाने की घोषणा पर लोगों द्वारा सार्वजनिक स्थलों पर इसकी आलोचना आदि अनेक उद्धरण महाभारत में प्राप्त होते हैं जिससे यह पता लगता है कि राजतंत्रीय व्यवस्था में भी राजा की नियुक्ति वंशानुगत भले ही हो परन्तु जब तक उसे जनसहमति नहीं प्राप्त होती थी, राजत्व स्थायी नहीं हो पाता था और इसके बड़े ही भयंकर परिणाम भी होते थे, जैसा कि महाभारत का युद्ध स्वयं इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

यह तो राजा की नियुक्ति अथवा उत्तराधिकार की राजतंत्रीय व्यवस्था थी जिसका आधार लोकतंत्रीय होने का उदाहरण महाभारत में प्राप्त होता है। वहीं संघों विशेष रूप से महाभारत में वर्णित लघु संघ (छोटा संघ) और दीर्घ (बड़ा) संघों के उदाहरण में यादववंशी श्रीकृष्ण को संघ प्रमुखों ने अपने संघ का अध्यक्ष चुना था, भले ही उनके मन में शकाएँ रही हों। इस संशय का उदाहरण एवं श्रीकृष्ण की संघ के बारे में शंका का उद्धरण नारदमुनि एवं श्रीकृष्ण संवाद के अन्तर्गत वर्णित है। जिसमें नारदमुनि श्रीकृष्ण को आभ्यन्तरिक आपत्ति के निवारण हेतु मृदु वचनों एवं धैर्ययुक्त शील आचरण का उपदेश देते हैं। अतएव गणों के प्रमुखों या अध्यक्षों के चयन की प्रणाली का स्पष्ट वर्णन महाभारत में प्राप्त होता है। वर्तमान समय में भारतीय राष्ट्र प्रमुख अथवा राष्ट्रपति के चयनित होने के कारण ही इसे गणतंत्रीय व्यवस्था का संविधान में दर्जा प्राप्त है। यह चुना हुआ राष्ट्र प्रमुख ही राज्य की विभिन्न इकाइयों का नेतृत्व करता है। यह लोकतंत्रीय गणतंत्रात्मक व्यवस्था वर्तमान की देन नहीं वरन् प्राचीन भारतीय लोकतंत्रीय आधारवाली प्रणाली की अमूल्य धरोहर है जिसे वर्तमान में हमने अपने राष्ट्र की प्रणाली का प्रमुख आधार स्तम्भ बना रखा है। साथ ही यह हमारे वर्तमान के आधारभूत लोकतंत्र के रूप में गाँवों से लेकर राष्ट्र तक के प्रधान को चुनने की, जन सहभागिता एवं जन सहमति के माध्यम से ही शासन व्यवस्था के संचालन की प्रमुख आधार बनी हुई है।

इस प्रकार प्रकार हम देखते हैं कि महान् राजनीतिक विचारक भीष्म ने राजतंत्रात्मक व्यवस्था के अतिरिक्त गणतन्त्रात्मक शासन-पद्धति पर भी अपना विचार व्यक्त कर अपनी महान चिन्तनशीलता एवं यथार्थपरक विवेचन के मध्य अदभुत समन्वय किया है, जिससे तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था का सांगोपांग विवरण प्राप्त होता है और हम भीष्म के राजनीतिक विचारों की गतिशीलता एवं व्यावहारिकता से परिचित होते हैं, जिसके चिन्ह आज भी हमारी राजनीतिक प्रणाली के अक्षुण्ण आधार बने हुए हैं। महाभारत में जहाँ संघ राज्यों के संरक्षण के उपाय बताए गए हैं, वहीं यह भी माना गया है कि यह शासन पद्धति यदि सफल होती है तो बहुत प्रभावशाली एवं व्यवस्थित विकास की ओर ले जाएगी, किन्तु यदि कतिपय कारणों (फूट, संशय एवं आपसी अविश्वास) से असफल रही तो विनाश का कारण भी बन सकती है। अतएव शासक को इसके संचालन में सतर्कता एवं धैर्य का परिचय देना होगा। तभी यह पद्धति सफलतापूर्वक कार्य कर सकेगी। उपर्युक्त अवरोधात्मक कारणों के कारण ही इस पद्धति का महाभारत काल में ज्ञान होने पर ही इसका विवेचन बहुत अधिक नहीं पाया जाता और जहाँ इसका उल्लेख आता भी है वहाँ सामान्यतया इसके दोषों का विवेचन ही अधिक है। फिर भी प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में महाभारत में वर्णित गणराज्यों का विवेचन उल्लेखनीय है, प्रभावशील है और वर्तमान में भी अनुकरणीय बना हुआ हमारे संविधान का महत्वपूर्ण आधार है।

11.9 उपयोगी पुस्तकें

1. Alyangar, K.V.R., Some Aspects of Ancient Indian Polity, Madras, 1916.
2. Law, N.N., Aspects of Ancient Indian Polity, Oxfords, 1921.
3. Sarkar, B.K., Political Institutional and Theories of the Hindus, Leipzig, 1922.
4. Ghoshal, U.N., A History of Indian Politcal Theories, Oxford University Press, 1923.
5. Jaiswal, K.P., Hindu Polity, Calcutta, 1924.
6. Prasad, Beni, Theory of Government in Ancient India, Allahabad, 1974.
7. शरन, परमात्मा, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, मीनाक्षी प्राकशन, मेरठ एवं नई दिल्ली, 1984
8. पाण्डेय, एस. एल., भारतीय राजशास्त्र प्रणेता, हिन्दी समिती, सूचना विभाग उ०प्र०ए लखनऊ, 1964.

11.10 विविध शब्दावली

गणतन्त्र - ऐसी प्रणाली जिसमें राज्य का प्रमुख चुना हुआ हो।

संघ - प्रजातंत्रीय इकाइयों का समुदाय जिसमें उद्देश्य विशेष की दृष्टि से सामान्य रूप में सहमति हो।

गण - संघ की इकाई का द्योतक, जिसका प्रमुख चुना गया हो।

चक्रवर्ती सम्राट् - ऐसा राजा/महाराजा अथवा सम्राट् जिसकी अधीनता अन्य दूसरे राज्य स्वीकार करते हों, भले ही उन राज्यों/राजाओं पर वह अपना सीधा नियन्त्रण न रखे।

करद - छोटे राजा अथवा सामन्त।

लघु संघ - महाभारत में वर्णित यह छोटा संघ था, जिसमें दो राज्य थे- अन्धक एवं वृष्णि।

दीर्घ संघ - यह बड़ा संघ था जिसमें पाँच गणराज्य सम्मिलित थे। अन्धक, वृष्णि, यादव, कुकुर एवं भोज।

प्रत्युत्पन्नमति - तत्क्षण उत्पन्न विवेक जिससे तत्काल फैसला लिया जा सके।

आभ्यान्तर भय - अन्दरुनी आपत्तियाँ यथा ईर्ष्या, द्वेष, संशय आदि के कारण उत्पन्न होने वाली चिन्ता।

अधिराज्य - ऐसा राज्य जो निर्बल होता है और बड़े राज्य के आश्रय में होता है।

स्वेच्छाचारी - ऐसा राजा जिस पर किसी प्रकार का अंकुश न हो जैसे जनमत या नियमों का।

प्रजातंत्र - ऐसी प्रणाली जिसमें जनता की इच्छा को प्रमुखता मिले और शासन जनसहमति एवं नियमानुकूल चलाया जाए।

संघात् - गणराज्यों का समूह हो जो संघ का ही पर्याय है।

वंशानुगत - वंश-परम्परा के अनुसार राजा की नियुक्ति जिसमें अपने ज्येष्ठ पुत्र या पुत्री को उत्तराधिकारी नियुक्त किया जाए।

11.11 सम्बन्धित प्रश्न

प्रश्न 1 महाभारत में गणतंत्रीय व्यवस्था पर अपने विचार प्रस्तुत कीजिए। (दीर्घ उत्तरीय प्रश्न)

प्रश्न 2 प्राचीन भारतीय शास्त्रों में वर्णित 'गणों' या 'संघ' को संक्षेप में बताएं। (लघु उत्तरीय)

प्रश्न 3 'महाभारत में वर्णित गणराज्यों का विवेचन गुणों की अपेक्षा दोषों पर बल देता हैं' - अपना विचार प्रकट कीजिए। (लघु उत्तरीय)

वास्तुनिष्ठ प्रश्न

टिप्पणी : (1) अग्रलिखित चार विकल्पों से सही विकल्प चुनिए।

(2) अपने उत्तर को इकाई के अन्त में दिए गये उत्तरों से मिलाइए।

1. महाभारत में संघ राज्यों का कैसा रूप मिलता है -

(a) लघु

(b) दीर्घ

(c) दोनों

(d) इनमें से कोई नहीं

2. दीर्घ या बड़े संघ में निम्न से कौन-सा राज्य सम्मिलित नहीं थे :-

(a) अन्धक

(b) कुकुर

(c) यादव

(d) कोशल

3. लघु-संघ में निम्न से कौन से दो राज्य सम्मिलित थे :-

(a) यादव-कुकुर

(b) अन्धक-वृष्णि

(c) अन्धक-भोज

(d) वृष्णि-भोज

4. संघ में सभा का अध्यक्ष राजा नाम से संबोधित किया जाता था जबकि उपाध्यक्ष को संबोधित करते थे :-

(a) उप-राजा

(b) उप-प्रमुख

(c) उप-प्रधान

(d) उप-राष्ट्रपति

5. महाभारत में वर्णित गणराज्यों के प्रधान प्राय: -

(a) चुने जाते थे

(b) वंशानुगत थे

(c) दैवी थे

(d) उपर्युक्त सभी गलत है

6. गणों की सफलता के लिए बल दिया गया है--मंत्रों की'-

(a) गोपनीयता पर

(b) खुली अभिव्यक्ति पर

(c) दोनों पर

(d) इनमें से कोई नहीं

7. गण-राज्य क्षेत्र एवं जनसंख्या के सन्दर्भ में प्राय: होते थे -

(a) छोटे

(b) बड़े

(c) अतिविशाल

(d) इनमें से कोई नहीं

8. गणों के विकास के मार्ग की मुख्य बाधा थी -

(a) मंत्रों की गुप्तता पर बल

(b) अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने की लालसा

(c) गणप्रमुखों का इन्द्रियनिग्रही होना

(d) एक-दूसरे पर अतिविश्वास का शिकार होना

9. महाभारत में गणों की सफलता के लिए आवश्यक माना गया है -

(a) शास्त्रानुकूल धर्मपूर्ण व्यवहार

(b) शास्त्रों के विपरीत आचरण

(c) स्वविवेक पर सार्वाधिक बल

(d) राज्य के विस्तार पर बल

10. महाभारत में 'संघ' एवं 'गण' शब्द प्रयुक्त है, परस्पर -

(a) समानार्थी अर्थ में

(b) विपरीत अर्थों में

(c) दोनों अर्थों में

(d) उपर्युक्त में से किसी में नहीं।

11.12 प्रश्नोत्तर

1. (a) 2. (d) 3. (b) 4. (a) 5. (a)

6. (a) 7. (a) 8. (b) 9. (a) 10. (a)

इकाई 12 : प्रशासनिक नीतियाँ

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 शासन का आधार - मंत्रिपरिषद्

12.3 मंत्रिपरिषद् की संरचना - संगठन एवं विशेषताएँ

12.4 मंत्रिपरिषद् की कार्यप्रणाली

12.5 प्रशासनिक पद्धति का विकास

12.6 महाभारत में प्राशासनिक व्यवस्था - सिद्धान्त एवं विशिष्टताएँ

12.7 राज्य का शासन - प्रबन्ध

12.8 न्याय प्रशासन

12.9 पर-राज्य संबंध अथवा मित्र

(i) मण्डल सिद्धांत

(ii) षाडगुण्य नीति

चार उपाय—साम, दान, भेद और दण्ड

12.10 राजनीति में व्यवहार के नियम

12.11 निष्कर्ष

12.12 सारांश

12.13 विविध शब्दावली

12.14 उपयोगी पुस्तकें

12.15 सम्बन्धित प्रश्न

12.16 प्रश्नोत्तर

12.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप -

- शासनिक/प्रशासनिक नीतियों के आधार, उद्देश्य से परिचित हो सकेंगे।
- मंत्रिपरिषद् की आवश्यकता, इसके संगठन आदि के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- प्रशासनिक पद्धति के विकास एवं सिद्धांत से परिचित हो सकेंगे।
- अष्टादश तीर्थ अथवा अन्य अधिकारीगण विषयक जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- प्रशासिनक संगठन के साथ ही उसकी कार्यप्रणाली के विषय में भी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- इस इकाई में न्याय व्यवस्था एवं दण्ड प्रणाली की भी संक्षिप्त जानकारी मिल सकेगी।
- प्रशासनिक नीतियों का प्रणयन न केवल आन्तरिक व्यवस्था के सुसंचालन हेतु आवश्यक है, वरन् दूसरे राज्यों (वैदेशिक संबंधों) के संबंध में भी राज्य की नीतियों के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई महाभारत में वर्णित राज्य के प्रशासन के सन्दर्भ में अपनायी जाने वाली नीतियों से संबंधित है। पूर्व की इकाइयों में आप राज्य के उद्देश्य, इसके स्वरूप, राजधर्म, शासनतंत्र आदि से भलीभाँति परिचित हो चुके हैं। परन्तु अब आप राजा द्वारा अपने शासन प्रबन्ध को सुदृढ़ बनाए रखने हेतु आन्तिरक एवं बाह्य प्रशासन सम्बन्धी नीतियों के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे। महाभारत में राजा एवं राज्य जहाँ समानार्थी हैं वहीं शासन शब्द का प्रयोग राजत्व सिद्धान्त की क्रियाशीलता का आधार है, अतएव शासन का प्रमुख कार्य समस्त जनता के कल्याण में संलग्न रहना है जिससे उसके विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर किया जा सके और प्रजा के जीवन को निष्कंटक बनाया जा सके। आन्तरिक बाधाओं को दूर करने के साथ ही बाह्य संकट से बचाये रखना (रक्षण कार्य) ही शासन-प्रबन्धन की नीतियों का मुख्य आधार है। जिसके संचालन का भार वर्तमान समय की कार्यपालिका की भाँति ही मंत्रिपरिषद् एवं अधिकारियों के कन्धों पर था। इसके अतिरिक्त, शासन के दो अन्य अंगों विधायिका एवं न्यायपालिका की भाँति ही महाभारत में 'सभा' एवं परिषद (विधायिका के लिए) तथा 'पूग' आदि का वर्णन (न्यायपालिका के लिए) मिलता है। ये समस्त अंग राजधर्म की स्थापना करने में राजा की नीतियों के निर्माण के प्रमुख साधन थे, भले ही उनकी भूमिका राजा हेतु परामर्शदात्री ही थी, फिर भी इस परामर्श के आदर के ही ज्यादा उदाहरण मिलते हैं, उल्लंघन के कम। इनके परामर्श की ओजस्विता पर ही प्रजा कल्याणकारी नीतियाँ अवलम्बित रहती थीं, प्रभावी बनती थीं, देश-काल के अनुरूप आकार लेती थीं-यही उनकी बाध्यकारिता का आधार होता था, अन्यथा राजा उसे किसी भी अवस्था में ठुकरा सकता था।

इस प्रकार राज्य में न्याय एवं प्रजाकल्याण के राजा के प्रमुख उद्देश्य की प्राप्ति हेतु मंत्रिगण, उनके सहायक, अन्य अधिकारीगण, न्यायाधीश, विधिज्ञ आदि की सहायता प्रशासनिक नीतियों का विनिर्माण एवं उनका अनुपालन सुनिश्चित करने में समर्थ होती है। अतएव महाभारत में नीतियों के बनाये जाने पर ही नहीं वरन् उनके क्रियान्वयन एवं अनुपालन पर भी उतना ही बल दिया गया है। ये नीतियाँ राज्य के न केवल आन्तरिक सुव्यवस्था एवं विकास हेतु ही थीं वरन् बाह्य असुरक्षा, आक्रमण को विफल बनाने की दिशा में भी सचेष्ट एवं स्पष्ट रूपरेखा प्रस्तुत करती हैं, जिन्हें आज हम 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' अथवा 'विदेशनीति' कहते हैं। महाभारत में हम इसे आन्तरिक प्रशासन एवं बाह्य-राष्ट्रों अथवा पर-राष्ट्र से संबंध शीर्षक के अन्तर्गत इनके सम्बंधों का यथार्थवादी वस्तुगत विवेचन प्राप्त कर सकेंगे।

12.2 शासन का आधार-मंत्रिपरिषद्

शान्तिपर्व में मंत्रियों की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा गया है कि जिस राजा के अमात्य (मंत्रिगण) नहीं है, वह राज्य को तीन दिन भी अपने शासन में नहीं रख सकता। इसीलिए राजा वीर और बुद्धिमान व्यक्ति को मंत्री नियुक्त करें। भीष्म के अनुसार मंत्रियों की मंत्रणा ही राष्ट्र की जड़ है, उसी के आधार पर राज्य की उन्नति होती है। इसलिए राज्य की सुस्थिति हेतु योग्य मंत्रियों को रखना और उनसे सद्मंत्रणा प्राप्त करना राजा के लिए अनिवार्य है। समस्त सद्गुणों से सम्पन्न कोई एक पुरुष सुलभ हो, ऐसा असम्भव है। अत: भीष्म ने अनेक विषयों के ज्ञाता एवं अनुभवी सदाचरण में रत अनेक पुरुषों से शासन कार्य में मंत्रणा लेने का विधान करते हुए मंत्रिपरिषद् की आवश्यकता एवं उपयोगिता पर बल दिया है। भीष्म ने भी मनु की भाँति ही आमात्य को सप्तांग राज्य का एक आवश्यक अंग माना है। अमात्य शब्द का प्रयोग कुछ विचारकों ने केवल मंत्री और कुछ ने मंत्री सहित अन्य प्रमुख अधिकारियों के लिए किया है। वस्तुत: अमात्य में मंत्री और अन्य प्रमुख अधिकारी दोनों ही आते हैं। राजा अपने समस्त कार्य अमात्यों की सहायता एवं परामर्श से ही करता है। अत: राज्य के शासन में अमात्यों का विशेष महत्व है, बिना अमात्यों के राजा पंगु है।

12.3 मंत्रिपरिषद् की संरचना-संगठन एवं विशेषताएँ

महाभारत में मंत्रियों की संख्या मनु की अपेक्षा अधिक बतायी गयी है। भीष्म के मतानुसार सदस्य संख्या सैंतीस होनी चाहिए, जबकि मनु के अनुसार मंत्रिगण 7 या 8 ही। प्राचीन भारतीय राजशास्त्र में किसी भी विचारक द्वारा इतनी बड़ी सदस्य संख्या वाली मंत्रिपरिषद् का विधान नहीं किया गया है। इस सम्बन्ध में भीष्म के विचार विशेष प्रकार के तथा अतिमौलिक प्रतीत होते हैं। भीष्म कहते हैं कि राजा को चाहिए कि जो वेद विद्या के विद्वान्, निर्भीक, बाहर-भीतर से शुद्ध तथा स्नातक हों ऐसे **चार** ब्राह्मण, शरीर से बलवान व शास्त्रधारी **आठ** क्षत्रिय, धन-धान्य से सम्पन्न **इक्कीस** वैश्य, पवित्र आचार-विचार वाले **तीन** विनयशील शूद्र, तथा आठ गुणों से युक्त पुराण विद्या को जानने वाला **एक** सूत जाति का, को लेकर मंत्रिमण्डल बनाना चाहिए। ऐसे ही मंत्रियों के मध्य राजा मंत्रणा करे। सूत जाति के आठ गुण-सेवा करने को तैयार रहना, कही हुई बात को ध्यान से सुनना, उसे ठीक-ठाक समझना, याद रखना, किस कार्य का कैसा परिणाम होगा-इस पर तर्क करना, यदि अमुक प्रकार से कार्य न हुआ तो क्या करना चाहिए? इस तरह तर्क वितर्क करना, शिल्प एवं व्यवहार की जानकारी रखना और तत्त्व का बोध होते हैं। ये आठ गुण सूत में होने चाहिए। इस प्रकार भीष्म द्वारा वर्णित मंत्रिमण्डल में अनेक विशेषताएँ दिखती हैं|जो आधुनिक समय की मंत्रिपरिषद् के ही तुल्य प्रतीत होती हैं, जो निम्नवत् हैं :-

1. भीष्म ने अपने मंत्रिपरिषद् में समाज के सभी लोगों (वर्गों) को प्रतिनिधित्व दिया है।

2. इसमें योग्यता पर बल है और चारों वर्णों के सुयोग्य व्यक्ति इसके सदस्य हैं।

3. भीष्म ने अन्य वर्णों की अपेक्षा वैश्य वर्ण के सदस्यों की अधिकता का समर्थन किया है जो अभिनव प्रयोग का सूचक है। ऐसा संभवत: इस कारण किया गया है, क्योंकि प्राचीन भारतीय समाज में इस वर्ण का महत्व अधिक था एवं अन्य तीन वर्णों के भरण-पोषण का भार यह वर्ण वहन करता था।

4. मंत्रिपरिषद् में चारों वर्णों के विशिष्ट गुणों से युक्त व्यक्तियों को स्थान दिया गया है।

5. मंत्रिपरिषद् की एक विशेषता यह भी है कि इसके अन्तर्गत अंतरंग समितियों का निर्माण किया जाय क्योंकि मंत्रिपरिषद् के वृहद आकार के कारण मतैक्यता एवं गोपनीयता के अभाव जैसे दुर्गुणों को दूर किया जा सके।

6. भीष्म के मतानुसार मंत्रिपरिषद् के अन्तर्गत सर्वश्रेष्ठ आठ सदस्यों की अंतरंग समिति का निर्माण करना चाहिए, जिससे राजा गुप्त मंत्रणा कर सके। यह अंतरंग समिति वर्तमान समाज के मंत्रिमण्डल की सूचक लगती हैं जो नीति सम्बन्धी निर्णय करती है।

12.4 मंत्रिपरिषद् की कार्यप्रणाली

भीष्म के विचारानुसार परम अंतरंग समिति के तीन सदस्य ही राजा के निकटस्थ मंत्री हैं, जो महत्वपूर्ण हैं। ये सदस्य राजा के संपर्क में प्रत्येक समय रहते हैं। भीष्म का मत है. कि राजा को इन सदस्यों से मंत्रणा किए बिना कोई ठोस कदम राज्य कार्य हेतु नहीं उठाना चाहिए। राजा इन मंत्रियों से मंत्रणा संयुक्त रूप से अथवा अलग-अलग करने का अधिकारी है। राजा के अत्यन्त गोपनीय एवं महत्वपूर्ण मसले समिति के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत होते रहने चाहिए। और प्रत्येक मसले पर खुलकर चर्चा होनी चाहिए। इन मंत्रियों से परामर्श लेने के पश्चात लिये गये निर्णय को राजगुरू (पुरोहित) के समक्ष प्रस्तुत करता है, जिस पर उसका समर्थन प्राप्त हो जिससे वो अन्तिम रूप से मान्य हो। तत्पश्चात बनी नीति एवं योजना को मंत्रिपरिषद् के समक्ष अन्तिम स्वीकृति हेतु प्रस्तुत करना चाहिए। उसके बाद उस शासक की नीति एवं योजना को कार्यरूप में परिणति किया जा सकता है।

भीष्म की यह अभिनव कार्य प्रणाली कार्यों की गुणवत्ता को निखारती है तथा राजा को श्रेष्ठ मंत्रणा

प्रदान कर उसका कार्यपथ आलोकित करती है। साथ ही राजा की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश भी लगाती है एवं कार्यों, निर्णयों योजनाओं एवं नीतियों का निरीक्षण एवं मूल्यांकन कर उसमें सुधार एवं निखार लाती है।

12.5 प्रशासनिक पद्धति का विकास

प्राचीन भारत में शासन के इस पथ पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। प्रशासनिक पद्धति का प्राचीन भारत में क्रमिक विकास हुआ। जैसा कि स्वाभाविक है कि प्रशासन के वैदिक काल में राजा के चारों तरफ अनेक अधिकारीगण थे जैसे राजकर्तार, रथकार, मुखिया, सेनापति आदि, जिनकी सहायता से राजा अपने राजकार्यों को सफलतापूर्वक करने में सक्षम था। ये अधिकारीगण राजा के निकट और महत्वपूर्ण होते थे। मौर्यकाल में प्रशासनिक पद्धति विकास की चरम सीमा पर पहुँची जिसमें अमात्य, युवराज, प्रदेष्टा, समाहर्ता, प्राङ्ग०विवाक आदि अष्टादश तीर्थ तथा अनेक समितियों एवं अध्यक्षों का वर्णन मिलता है। रामायण एवं महाभारत काल में अनेक पदाधिकारिकयों तथा प्रशासन विभागों का बड़े ही विस्तृत ढंग से वर्णन प्राप्त होता है, जिसमें प्रशासन का आधार न्याय और मानवता की सुदृढ़ भावना थी।

12.6 महाभारत में प्रशासनिक व्यवस्था-सिद्धांत एवं विशेषताएँ

प्राचीन भारत के साम्राज्यों में केन्द्रीयकृत प्रशासनिक व्यवस्था थी और प्रशासन संगठन में समन्वय उनकी एक महत्वपूर्ण विशेषता थी। इसका वर्णन महाभारत के विभिन्न अध्यायों में स्पष्ट रूप से मिलता है। इस काल में प्रशासनिक व्यवस्था के सन्दर्भ में निम्न सिद्धान्त उल्लेखनीय हैं :

प्रशासन का प्रथम सिद्धांत समन्वित प्रशासन के विभिन्न विभागों एवं भूमिगत विभागों तथा उपविभागों में एक प्रकार का समन्वय था, तादात्म्य था। राजा शासन का अध्यक्ष होता था और अमात्य अथवा मंत्रीगण तथा अधिकारीगण उसकी अधीनता में प्रशासन का संचालन करते थे। अधिकारियों की विभिन्न श्रेणियाँ थी, जो कि सोपनावत् था (वर्तमान समय के पदसोपान सिद्धान्त की भाँति) जैसे गाँव का सबसे छोटा अधिकारी ग्रामिक, दस गाँव का दशग्रामपति, बीस गाँव का विंशति और आगे इसी क्रम में बढ़ता था। इस प्रकार शहर का सबसे छोटा अधिकारी स्थानिक कोतवाल आदि थे जो मंत्री या विभागध्यक्षों के नेतृत्व में कार्य करते थे।

महाभारत में आधुनिक प्रशासनिक सिद्धांत की भाँति सगठन का एक नवीन एवं महत्वपूर्ण विवेचन मिलता है। एक स्थान पर भीष्म ने कहा कि एक ही पद पर दो या तीन अधिकारी नियुक्त नहीं किये जाने चाहिए क्योंकि वे एक-दूसरे को सहन नहीं कर सकते। कहने का तात्पर्य है कि शासन कार्य में मण्डलों की अपेक्षा एकल पदाधिकारी की नियुक्ति को ही उपयुक्त कहा है। जिसे आधुनिक प्रशासन में आदेश की एकता का सिद्धान्त कहते हैं।

प्रशासनिक संगठन के संचालन हेतु एक अन्य महत्वपूर्ण सिद्धान्त भी अपनाया गया था। प्रत्येक राजा को परामर्श देने के लिए एक परामर्शदात्री मण्डल थी, जिसे परिषद् कहते थे, जो राज्य के सभी मामलों पर विचार करती थी|इसका मुख्य कार्य राज्य के उच्चतम अधिकारियों एवं अन्य सेवकों के बीच सम्पर्क बनाए रखना था। इन परिषदों में उच्च प्रशासनिक अधिकारी सम्मिलित होते थे।

प्रशासनिक-पद्धति में सरकारी सेवकों एवं कर्मचारियों के कार्यों के निरीक्षण पर भी विशेष ध्यान दिया गया था। महाभारत में भीष्म का मानना था कि राजा को अपने कर्मचारियों और अधिकारियों पर निगरानी रखनी चाहिए। इस तथा अन्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए गुप्तचरों की वृहद व्यवस्था की गयी थी जिसके अनेक प्रकार, वेशभूषा एवं कार्य बताए गए हैं। धन एवं मान में राजा द्वारा सम्मानित गुप्तचर राजोपजीवी पुरुषों के सद्व्यवहारों को भलीभाँति जाने। राजा अपने राज्य में मंत्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, द्वारपाल, समाहर्ता, प्रदेष्टा, नायक आदि के पास विश्वस्त देश - वेश, भाषा, कारीगरी तथा अभिजन (कुलीन) युक्त संचारी गुप्तचरों को उनकी राजभक्ति एवं साहस देखकर ही रवाना करे।

इस प्रकार महाभारत में प्रशासनिक पद्धति की निम्नलिखित विशेषताएँ हमारे समक्ष दिखाई पड़ती हैं-

1. विभिन्न प्रकार के राज्यों अथवा साम्राज्यों का प्रशासन भूमिगत विभागों तथा उपविभागों में विभाजित अथवा व्यवस्थित था।

2. बड़े साम्राज्य प्रान्तों, जिलों, नगरों एवं ग्रमीण क्षेत्रों तथा ग्रामों में विभाजित थे। उन विभागों के नाम, काल एवं देश के अनुसार परिवर्तित होते रहते थे। साथ ही छोटे राज्य भी कुछ क्षेत्रों में विभाजित होते थे।

3. प्रशासन राज्य के कार्यों के आधार पर कई विभागों में विभाजित था। कालान्तर में विभागों की संख्या बढ़ती गयी और उनके कार्यों की सीमा भी निर्धारित होती गयी। महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ के मतानुसार प्रशासन के अट्ठारह तीर्थ थे अर्थात् प्रशासनिक विभागों में मुख्य (अध्यक्ष) अधिकारी थे-मंत्री, पुरोहित, चमूपति (सेनापति), द्वारपाल, अन्तर्वेशिक (अन्त:पुर का अधिकारी), कारागार अधिकारी, द्रव्य संचयकृत, कृत्याकृत्येष्वर्थानां (योग्य-अयोग्य कार्यों का विनियोग करने वाला) प्रदेष्टा (कमिश्नर/आयुक्त), नगराध्यक्ष (स्वार्थ चिन्तक), कार्यविनिर्माणकृत, धर्माध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल, राष्टन्तपाल, अटवीपाल (वन-विभाग का अध्यक्ष), पौर (शहर कोतवाल) एवं प्रशास्ता।

4. प्रशासन का संचालन विभिन्न प्रकार तथा श्रेणियों के अधिकारियों एवं कर्मचारियों द्वारा किया जाता था। उनका तथा उनसे सम्बंधित महत्वपूर्ण प्रश्नों तथा उनकी परीक्षा, योग्यता, उनके वेतन, सेवा की शर्तों आदि का विवेचन भी स्पष्ट मिलता है।

5. प्रशासन का एक महत्वपूर्ण अंग (आधुनिक समय में केन्द्रीय सचिवालय की भाँति) केन्द्रीय कार्यालय अथवा सचिवालय था, जिसका प्रमुख कार्य आय-व्यय के हिसाब के सभी कागजात और रजिस्टरों को रखना था और इसके लिए इसे अलग स्थान, सुरक्षित स्थान पर बनाया जाना चाहिए, इस पर बल था।

12.7 राज्य अथवा राष्ट्र का शासन-प्रबन्ध

राज्य या राष्ट्र के शासन प्रबन्ध के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण बातें महाभारत द्वारा ज्ञात होती है। अच्छा शासन (अथवा प्रशासन) कैसा होना चाहिए इसका वर्णन सभापर्व के पांचवें अध्याय में मिलता है। शान्तिपर्व में आन्तरिक प्रशासन का वर्णन मिलता है, जो संक्षेप में इस प्रकार है-भीष्म बताते हैं कि राष्ट्र रक्षा और राष्ट्र-संग्रह किस प्रकार से होता है। राजा प्रत्येक ग्राम में एक पुरुष को सबका स्वामी बनाए, उसके ऊपर किसी को दस गाँव, किसी को बीस, किसी को सौ और किसी को सहस्त्र गाँवों की प्रभुता प्रदान करे। एक गाँव का स्वामी गाँव के गुण दोषों का विचार करके दस गाँव के स्वामी से कहे, और दस गाँव का स्वामी बीस गाँव के स्वामी से कहे। बीस गाँवों का स्वामी जनपद में जिन-जिन कार्यों को सिद्ध करे वह सब सौ गाँव के स्वामी के सामने निवेदन करे। गाँव में जो खाने योग्य वस्तु उत्पन्न हो एक गाँव का स्वामी उन सब वस्तुओं का उपयोग करे और वह दस गाँव के स्वामी का और दस गाँव का स्वामी बीस गाँव के स्वामी का भरण करे। जो ग्राम बहुत बड़ा, उन्नत और जन समूह युक्त हो, सौ गाँव का स्वामी सत्कार सहित उसे ही भोगने में समर्थ होगा। परन्तु सौ गाँव का स्वामी जिस गाँव का भोग करेगा, वह गाँव इस राज्य के अनेक लोगों के अधीन रहेगा। सबसे अधिक सहस्त्र गाँवों का स्वामी राष्ट्रीय लोगों के साथ मिलकर शाखा, नगर और वहाँ के अन्न, स्वर्ण आदि सब भोगने योग्य वस्तुओं को भोगने में समर्थ होगा। युद्ध-कार्य उपस्थित होने पर कोई धर्म जानने वाला आलस्य रहित मंत्री उसे यथार्थ रीति से देखे और सब नगरों में एक एक जन, सब कार्यों को देखते रहें। सब अर्थों को जानने वाला मंत्री सब सभासदों के ऊपर निरीक्षण करते हुए उन लोगों के सब कार्यों को देखें और उनका कोई दूत राज्य में सभासदों के व्यवहार को गुप्तरीति से मालूम करे।

12.8 न्याय प्रशासन

वर्तमान काल में विधि-निर्माण का कार्य राज्य को करना पड़ता है। समाज के अन्दर जिस समय जैसी स्थिति होती है, उस समय उस स्थिति के अनुसार विधि की आवश्यकता पड़ती है तथा तत्कालीन परिस्थितियों के लिए भी बहुधा विधि का निर्माण आवश्यक हो जाता है। विशेष रूप से उन राज्यों में जहाँ विधि के अनुसार राज्य चलता है, वहाँ तो कोई भी बात विधि बनाये बिना की ही नहीं जा सकती इसलिए राज्य को प्रत्येक समय विधि बनाना पड़ता है। जनतांत्रिक राज्यों में विधि बनाने का कार्य जनता द्वारा निर्वाचित एक पृथक् संस्था के पास होता है। अतएव राज्य आज प्रभुसत्ताधारी है अर्थात् राज्य को न्याय के ऊपर वरीयता है। जबकि प्राचीन भारतीय व्यवस्था में राज्य को स्वयं समाज के नियमों के अधीन माना गया है, तथा विधि को देवसम्मत (ब्रह्मा द्वारा मनुष्यों के कल्याण हेतु) तथा आर्ष (ऋषियों-मुनियों द्वारा निर्मित) माना गया है। फिर भी महाभारत में भीष्म के मतानुसार विधि के शासन में रहने से मनुष्य सुखी रहता है। इससे स्पष्ट होता है कि उनकी आस्था विधि की प्रधानता में है। इसी आधार पर लोकसम्मत अर्थात् ऐसी विधियाँ जिनका निर्माण जनता की सम्मति से हुआ हो, का वर्णन महाभारत के शान्तिपर्व के 67वें अध्याय की कथा से स्पष्ट है। जैसे शरीर का निर्माण इसके विविध अवयवों एवं अंगों के द्वारा होता है जो विविध आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं उसी प्रकार मत्स्यन्याय (अराजकता की अवस्था) को दूर कर विधि अथवा न्याय शासन के निर्माण के लिये व्यक्ति आपस में सहमति के आधार पर राजा का वरण करते हैं, जिसका मूल उद्देश्य ही विधि/न्याय के शासन का प्रणयन है। अन्त में संस्थासम्मत स्रोत पर भी इसमें बल है जिसका तात्पर्य है - तत्कालीन संस्थाओं द्वारा निर्मित नियम कुलधर्म, देशधर्म आदि। भीष्म के मतानुसार चारों आश्रमों के पालने से मनुष्य (राजा) जिस पुण्य का भागी होता है वह पुण्य राजा को इन धर्मों (विधियों) के पालन मात्र से ही प्राप्त हो जाता है।

प्राचीन भारत में न्याय-दान अथवा दण्ड-व्यवस्था को राजा का ही कार्य समझा गया। स्पष्टतः कहा गया है कि प्रजा का पालन करने के निमित्त राजदण्ड धारण करना ही क्षत्रिय धर्म है, सिर मुड़ाना राजधर्म नहीं है। दण्ड ही सबका नियन्ता है, सुप्रणीत दण्ड में धर्म, अर्थ, काम ये तीनों सदा विद्यमान रहते हैं। दैवदण्ड सबसे श्रेष्ठ है, इसका रूप जलती हुई अग्नि के समान है। दण्ड का आन्तरिक रूप दुष्टों को संतप्त करने वाला है और इसी क्रूरता के कारण अग्नि से समानता धारण करता है। दण्ड का बाह्य रूप नीलोत्पल दल के समान श्यामवर्ण है। कोई मान-भंग, कोई धन-हरण, कोई अंग विकलता के कारण दण्डित होते हैं और कोई प्राण-नाश के कारण दण्डभागी होते हैं-इससे दण्ड को चतुर्दंष्ट्र (चार दाढ़ वाला) कहा गया है। प्रजा से धन वसूल करना, राज्य से कर लेना, वादी प्रतिवादी से दूना धन ग्रहण करना और कायर ब्राह्मणों से सर्वस्व वसूल करना-दण्ड के ये चार प्रकार के अर्थ-संग्रह होते हैं, इसी कारण दण्ड चतुर्भुज रूप कहा जाता है। दुर्धर्ष दण्ड सदा प्रचण्ड रूप धारण करता है और सदा सावधान अक्षय होकर प्रजा की रक्षा करते हुए जाग्रत रहता है।

न्याय-अन्याय को विचारकर धर्म के अनुसार दण्ड-विधान करना चाहिए। इच्छानुसार दण्ड देना उचित नहीं है। दुष्ट-पुरुषों के निग्रह करने को दण्ड कहते हैं। लोभ के वशीभूत होकर मनुष्य जब दूसरे मनुष्य की सम्पत्ति को छीन लेता है या दूसरे के अधिकारों पर अपना अधिकार जमा लेता है तो ऐसी परिस्थिति में प्रजावर्ग में अपसी कलह, द्वेष-वैरभाव एवं हिंसा उत्पन्न होती है। इस समस्याओं के समाधान के लिये राजा का कर्त्तव्य होता है कि वह न्याय व्यवस्था की स्थापना करे। इस सम्बन्ध में भीष्म इस प्रकार विचार व्यक्त करते हैं कि राजा को न्याय करते समय सदा वादी-प्रतिवादी की बातों को सुनने के लिये विविध विषयों के ज्ञाता विद्वान् पुरुषों की नियुक्ति करनी चाहिए। इस कार्य में पक्षपात से बचना चाहिए, राजा के रक्त-सम्बंधियों, पुत्र-पौत्रों को भी दोषी पाए जाने पर दोषानुसार दण्ड मिलना चाहिए। माता-पिता, भाई-बहन, स्त्री, पुरोहित कोई भी क्यों न हो, जो अपने धर्म में स्थिर न हो उसे राजा अवश्य दण्ड दे। राजा के लिए कोई अदण्डनीय हीं है। राजा का न्यायोचित व्यवहार एवं दण्ड व्यवस्था अर्थात् न्याय व्यवस्था के लोप हो जाने पर उसे न स्वर्ग की प्राप्ति होती है और न ही यश की प्राप्ति हो पाती है। भलीभाँति दण्ड-धारण करने वाला राजा ही धर्म का भागी होत है। उचित दण्ड की व्यवस्था करना ही राजा का सनातन धर्म है।

12.9 पर-राज्य सम्बन्ध अथवा 'मित्र'

अभी तक राज्य के आन्तरिक प्रशासन एवं तत्सम्बन्धी नीतियों का विवेचन किया गया। राजा को आन्तरिक प्रशासन ही नहीं करना पड़ता था बल्कि प्रत्येक राज्य को अपने चारों ओर के सभी परकीय राज्यों से सम्बन्ध भी रखना पड़ता था, चाहे वह मित्रों का हो, चाहे शत्रु का या उदासीन हो। इस अन्तर्राज्य सम्बन्धात्मक नीतियों का सम्बन्ध प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारों में 'मित्र' शीर्षक के अन्तर्गत वर्णित है। राज्य के लिये यह आवश्यक है कि इसके अन्य मित्र राज्य भी होने चाहिए क्योंकि जब विभिन्न राज्य अपनी सत्ता की वृद्धि का प्रयत्न करते हैं और जब राज्यों में अपनी वृद्धि के लिए प्रतियोगिता प्रारम्भ होती है, तो उस अवस्था में जो राज्य अकेला रह जाता है, मित्रविहीन होता है, उस राज्य को बहुत कठिनाइयों, विपत्तियों एवं घोर कष्ट का सामना करना पड़ता है। अतएव प्राचीन शास्त्रों में यह स्पष्ट आग्रह है कि प्रत्येक राज्य अपने मित्रों का मण्डल अधिक से अधिक बड़ा बनाए, जिससे इस राज्य का स्वामी किसी प्रकार की आपत्ति-विपत्ति का सामना सफलतापूर्वक कर सके। इसी कारण भारतीय ग्रन्थों में पर-राज्य सम्बन्ध के विषय को बहुत महत्व दिया गया है और न्याय-व्यवस्था के अर्थात् आन्तरिक शान्ति स्थापन के पश्चात सबसे अधिक महत्व पर-राज्य संबंध अर्थात् बाह्य आक्रमण से सुरक्षा का है। इस सम्बन्ध में मनुस्मृति में न्याय-व्यवस्था को छोड़कर शेष राज्य-व्यवस्था का चौथाई भाग, कौटिल्यीय अर्थशास्त्र का चौथाई भाग, कामन्दकीय नीतिसार का चौथाई भाग, महाभारत में शान्तिपर्व तथा विभिन्न पर्वों में एवं शुक्रनीति का बीसवाँ भाग, पर-राज्य सम्बन्धों का स्पष्ट वर्णन करते हैं।

पर-राष्ट्र सम्बन्धों पर विचार करते हुए दो प्रमुख सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है-

(i) मण्डल सिद्धान्त

(ii) षाड्गुण्य नीति

(i) मण्डल सिद्धान्त

किसी राज्य को अपने पड़ोसी राज्यों से सम्बन्ध किस प्रकार चलाने चाहिए, इसके सिद्धान्त का वर्णन 'मण्डल' के नाम से किया गया है। इस सिद्धान्त में अनेक राज्यों के समूह या मण्डल में विद्यमान राज्यों द्वारा एक-दूसरे के प्रति व्यवहार में लायी जानी वाली नीति का वर्णन है। इसके केन्द्र में ऐसा राजा होता है जो पड़ोसी राज्यों को जीतकर अपने में मिलाने के लिये प्रयत्नशील है। ऐसे राजा को विजिगिषु (विजय की इच्छा रखने वाला राजा) कहा है। यह मान्यता स्पष्ट है कि एक राजा का पड़ोसी राज्य स्वाभाविक रूप से उसका शत्रु राज्य होता है। विजिगिषु राजा के राज्य की सीमा से लगा हुआ जो राज्य होगा, वह अरि (शत्रु) राज्य होता है। महाभारत में लिखा है कि राजा शत्रुओं को पराजित करके सदा सुख की नींद न सोए, दुष्टात्मा शत्रु लोग सदा ही जागते रहते हैं। शत्रु के बालक या वृद्ध होने पर भी बालक नहीं समझना चाहिए। युधिष्ठिर से यह पूछने पर कि प्रबल पक्ष वाले शत्रु के कोमल या कठोर होने पर राजा उसके प्रति कैसा आचरण करें, भीष्म ने उत्तर दिया- शत्रुवध की इच्छा करने वाला राजा शत्रुओं को सावधान न करे, क्रोध हर्ष एवं भय को छिपाता रहे। उन्हें सदा प्रियवचन कहता रहे और उनका कभी विश्वास न करे। विजिगिषु राज्य से अलग, किन्तु उसके पड़ोसी राज्य से मिला हुआ राज्य विजिगिषु राज्य का मित्र होता है। शान्तिपर्व में चार प्रकार के मित्रों का वर्णन इस प्रकार है- सहार्थ, भजामन, सहज एवं कृत्रिम। उनमें से राजा के समक्ष जो ऐसा स्वीकार करते है कि शत्रु को दोनों मिलकर नष्ट करेंगे और शत्रु राज्य को आपस मिलकर बाँट लेंगे वे सहार्थ हैं। जो पितृ-पितामहों के क्रम में विद्यमान रहता है, वे भजमान हैं। मौसी आदि के सम्बन्ध से सहज मित्र होते है और जो धर्म के पक्षपाती होकर धर्म के ही मार्ग में विद्यमान रहते हैं राजाओं के कृत्रिम मित्र होते हैं। इन मित्रों में भजमान एवं सहज जी श्रेष्ठ हैं, किन्तु सहार्थ एवं कृत्रिम से सदा शंकित रहना चाहिए। राजा मित्रों की रक्षा करने में कभी असावधान न रहे। काणे का विचार है कि मण्डल के अन्तर्गत विजिगिषु, अरि, मध्यम एवं उदासीन श्रेणियों के द्योतक हैं और अन्य शेष चार आगे वाले राज्य यथा मित्र, अरिमित्र, मित्र-मित्र और अरि मित्र-मित्र जबकि पार्ष्णिग्राह (पीछे का शत्रु), आक्रान्दा (विजिगिषु का मित्र) पार्ष्णिग्राहसार (शत्रु-मित्र) तथा आक्रन्दासार (विजिगिषु मित्र-

मित्र) पीछे अथवा विपरीत दिशा से सम्बन्धों कि द्योतक हैं। कौटिल्य के मत से उपर्युक्त 12 प्रकृतियाँ मण्डल में पायी जाती हैं। मनु ने भी राज्य तत्वों के मण्डल के 12 सदस्यों से मिलकर 72 संख्या बतायी। कौटिल्य ने 72 संख्या की ओर संकेत किया है। जिनमें 12 तो राजाओं द्वारा व्यवस्थित (राज प्रकृति) है और 60 (12 के साथ प्रत्येक में 5 राज्य तत्त्वों के समावेश को द्रव्य प्रकृति कहा जाता है।

वस्तुत: मण्डल सिद्धांत का मूल प्रेरणाप्रद तत्त्व राज्यों के बीच शक्ति सन्तुलन स्थापित करने की बात में निहित है। कुछ राज्य यदि मैत्री भाव से जीना चाहते हैं तो स्वाभाविक रूप से कुछ राज्य विरोधी भावों से प्रेरित होकर एक समूह अथवा गुट बना लेते हैं। इनमें सन्तुलन बना रहे, यही मण्डल सिद्धान्त का उद्देश्य है।

(ii) षाड्गुण्य नीति

यह नीति पड़ोसी राज्य विशेषतया अन्य विदेशी राज्यों के प्रति व्यवहार के सम्बन्ध में छह मंत्र (लक्षणों वाली) है-संधि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय एवं द्वैधीभाव के अपनाये जाने पर बल है। इन नीतियों के अपनाने में राजा देश-राज्य एवं परिस्थितियों का विचार करे।

1. सन्धि :

वार्तालाप आदि के माध्यम से राजा अन्य राज्यों से सन्धि करे जिसका उद्देश्य अपनी शक्ति में वृद्धि एवं शत्रु को वार्ता के भ्रम में रखना और उसको कमजोर बनाने के उपायों के लिए अधिक से अधिक समय प्राप्त करना है अर्थात उपयुक्त समय का इन्तजार करना।

2. विग्रह :

इसका अर्थ है युद्ध। इस नीति का राजा तभी अनुगमन करे जब वह शत्रु को निर्बल देखे और स्वयं को बलशाली। अपने मित्र राज्यों की सहायता लेवे, लेकिन अपनी शक्ति के प्रति आश्वस्त होने पर ही।

3. यान :

इसका अभिप्राय वास्तविक आक्रमण है। इस नीति को तभी अपनाया जाना चाहिए, जबकि राजा अपनी स्थिति को सुदृढ़ देखे और ऐसा प्रतीत हो रहा हो कि आक्रमण के मार्ग को अपनाए बिना शत्रु को वश में करना संभव नहीं है। विग्रह और यान में मात्र स्तर का ही अन्तर है। यान विग्रह से कुछ आगे है।

4. आसन :

जब विजिगिषु और शत्रु दोनों समान रूप से बलशाली हों तो राजा के द्वारा आसन अर्थात् तटस्थता की नीति अपनायी जानी चाहिए। आसन की नीति अपनाते हुए राजा को शक्ति अर्जन की निरन्तर चेष्टा करनी चाहिए।

5. संश्रय :

संश्रय का अर्थ है बलवान का आश्रय। यदि राजा शत्रु को हानि पहुँचाने की क्षमता नहीं रखता अथवा अपनी रक्षा स्वयं कर पाने में असमर्थ हो तो उसे बलवान राजा के आश्रय में चले जाना चाहिए।

6. द्वैधीभाव :

इस नीति के प्रतिपालन का अभिप्राय यह है कि एक राज्य के प्रति सन्धि और दूसरे राज्य के प्रति विग्रह की नीति को अपनाना। जब राजा को अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु एक राज्य की सहायता और दूसरे राज्य को लड़ने की आवश्यकता हो तो द्वैधीभाव की नीति अपनायी जानी चाहिए।

चार उपाय- साम, दान, भेद और दण्ड तथा उनका प्रयोग :

इस मण्डल के अन्दर राजनीति का संचालन चार उपायों अथवा छ: गुणों वाली नीतियों के माध्यम से

होता है। उपायों में साधारणतया चार प्रमुख उपायों का ही उल्लेख किया जाता है- साम, दान, दण्ड और भेद, परन्तु इसके अतिरिक्त तीन और उपाय भी बताए जाते हैं। ये तीन उपाय हैं- माया, उपेक्षा, इन्द्रजाल अथवा छलपूर्ण बध। इन उपायों के ठीक से प्रयोग करने पर बल है क्योंकि इनके ठीक से प्रयोग करने पर राजा इच्छित फल की प्राप्ति करता है। इन उपायों में साम का अर्थ है- समझाना-बुझाना। इसके दो प्रकार बताये गये हैं- तथ्य और अतथ्य। असत्य बात कहकर समझाना अतथ्य है जबकि अन्य बातों का वर्णन करके किसी को अपने पक्ष में करना 'तथ्य' है। अतएव सज्जनों के साथ 'तथ्य' साम तथा दुर्जनों के साथ अतथ्य साम का प्रयोग राजा को करना चाहिए। जहाँ तक दान का प्रश्न है, इसके प्रयोग से दूसरे संगठित लोगों में भी फूट डाली जा सकती है। यदि किसी को वश में करना है तो इच्छित वस्तु दे देनी चाहिए। साम और भेद का प्रयोग राजा को दान के साथ करना चाहिए क्योंकि दान के प्रयोग से इन दोनों उपायों की सिद्धि होती है। भेद चार प्रकार से बताया जा सकता है, लोभी, अपमानित, क्रुद्ध तथा द्वेष करने वाले व्यक्ति को साधकर राजा को अपने लक्ष्य की प्राप्ति करने में संलग्न रहना चाहिए। बलवान से तो भेद का प्रयोग करना ही बुद्धिमानी है। चार उपायों में सबसे अन्तिम उपाय दण्ड है और इसका प्रयोग सदैव अन्तिम अवस्था में ही करना चाहिए। श्रीकृष्ण ने भी युधिष्ठिर से अपने दौत्य कर्म के पश्चात् कहा कि उन्होंने कौरवों के साथ पहले साम का फिर भेद का, फिर दान का प्रयोग किया और अब केवल दण्ड ही उपाय शेष है। दण्ड के अन्तर्गत प्रकाश युद्ध, क्रूर युद्ध तथा छल से मारना सम्मिलित है।

इन चार उपायों का प्रयोग तो सभी व्यक्तियों के अर्थात् शत्रु, मित्र, अपने राज्य के दुष्ट तथा पर-राज्य की प्रजा के साथ हो सकता है, परन्तु शत्रु के साथ व्यवहार करने के लिए चार उपायों के अतिरिक्त छः गुणों का भी वर्णन किया गया है। सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय एवं द्वैधीभाव का प्रयोग शान्तिपर्व में राजा के उद्योग एवं पुरुषार्थ के साथ उसके विजय के आदर्श की प्राप्ति का मूल कारक बताया गया है। राजा को इनका उपयोग उपयुक्त देश-काल एवं परिस्थितियों में करना चाहिए तभी सफलता प्राप्त हो सकेगी।

12.10 राजनीति में व्यवहार के नियम

राजनीति में किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए यह भी शान्तिपर्व में बहुत अच्छी तरह बताया गया है। भीष्म कहते हैं कि आपातकाल में अधर्म भी धर्म के लक्षण पाता है। शास्त्र की मर्यादानुसार आपातकाल में प्रजापीड़न आदि भी धर्म में गिना जाता है, ऐसा न करने से अधर्म होता है। आपातकाल में श्रेष्ठ क्षत्रिय, तपस्वियों और ब्राह्मणों को छोड़कर अन्य सभी के धन ले सकता है। क्षत्रिय पुरुष आपातकाल में अधिक धनशाली पुरुषों से बलपूर्वक धन-ग्रहण करके जीवन धारण करे। इस काल में धर्म हेतु प्रजापीड़न किया जाना उचित है और राजा जिस उपाय से धन, बल और मित्रों की वृद्धि हो, उसका उपाय करे। आपातकाल में नैतिकता के अपने सिद्धान्त होते हैं।

प्राणरक्षा के लिए शत्रु के साथ सन्धि करना उचित है। जो पुरुष अर्थयुक्ति अवलम्बन करके समय के अनुसार शत्रुओं के साथ सन्धि अथवा उनके प्रति विरोध करते हैं, वे अच्छा फल पाते है। इस जगत् में बिना कारण न कोई किसी का मित्र होता है और न ही शत्रु। स्वार्थ साधन के निमित्त ही शत्रु-मित्रों के संगठन हुआ करते हैं। कालक्रम से मित्र भी शत्रु होता है और शत्रु भी मित्र होता है, इसलिए स्वार्थ ही बलवान है।

वैदेशिक नीति के क्षेत्र में महाभारत में अनेक कूटनीति की बातें अनेक स्थलों पर बताई गयी हैं। वनपर्व में कहा गया है कि राजा राज्य जीतने के लिए कुछ भी पाप करता है, उसे बाद में यज्ञ और उपकार द्वारा धोया जा सकता है। इस विषय में शान्तिपर्व में भीष्म ने जो नैतिकता का महान् प्रतिपादक है-विशुद्ध विवेक की नीति अपनायी है। असाधारणपरिस्थितियों में वैदेशिक मामलों के संचालन में असाधारण सिद्धान्तों का पालन किया जाना चाहिए। शक्ति के सामने योद्धा को हार मान लेनी चाहिए, परन्तु बलवान शत्रु अथवा राजा को नष्ट करने के लिये जो भी अवसर मिले उससे तुरन्त लाभ उठाना चाहिए। राजा को सदैव याद रखना चाहिए कि पराजित शत्रु सदा सावधान रहते हैं अतः उन पर कभी भी विश्वास नहीं करना चाहिए। गुप्त कूटनीति का पालन करना चाहिए। राजा को

बलवान को न छोड़ना चाहिए न उससे युद्ध करना चाहिए अपितु उसके साथ सन्धि करना चाहिए। इस सम्बन्ध में उदाहरण दिया गया है कि जैसे बड़े-बड़े वृक्षों को समुद्र एवं नदियाँ अपने वेग से जड़ से उखाड़ देती हैं परन्तु बेंत का वृक्ष उनके वेग के समक्ष झुककर पुनः उनके शान्त होने पर खड़ा हो जाता है उसी भाँति राजा को भी बलवान शत्रु के समक्ष झुककर और फिर समय पर पराक्रम की नीति का पालन करना चाहिए तभी उसकी सम्पत्ति स्थिर रहती है, राज्य स्थिर रहता है और उसकी शक्ति चिरस्थायी बनी रहती है। आपातकाल से सम्बन्धित महाभारत के सभी अध्याय मैकियावेली की याद दिलाते हैं।

12.11 निष्कर्ष

ड० घोषाल ने भीष्म के विभिन्न उपदेशों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि हमारे राजनीतिक विचारों के इतिहास में उनका अत्यधिक महत्व है, क्योंकि उनमें शासन की नीतियों के सम्बन्ध में नैतिक प्रश्न अन्तर्निहित हैं। राजशासन के प्रति भीष्म का सामान्य दृष्टिकोण यह है कि क्षत्रिय धर्म नैतिकता से ऊपर तथा परे है, परन्तु वह सब आदर्शों से उच्च बताते हुए इस सिद्धांत पर आधारित रहते हैं कि राजा का रक्षा का कार्य सबसे अधिक नैतिक कार्य है। इस सम्बन्ध में तीन सिद्धान्तों को आधार बताया है :

1. क्षत्रिय का धर्म स्थापित नैतिक आदर्शों से स्वतन्त्र है जिसके कारण अपनी रक्षा हेतु उसके द्वारा बल प्रयोग और प्रजा की सम्पत्ति के हरण को न्यायोचित ठहराया जा सकता है।
2. हिंसा जीवन का कानून है, विशेष रूप से राजा के जीवन का जिसके आधार पर आपातकाल में धनिकों की सम्पत्ति हरण को न्यायोचित बताया गया है।
3. राज्य ही धर्म की नींव है और शासक तथा प्रजा के जीवन की सुरक्षा भी। अतः राजा बल प्रयोग द्वारा सेना और धन एकत्रित कर सकता है।

संक्षेप में, लेखक के अनुसार भीष्म के पूर्वोक्त उद्धरणों में दिये गये विचार राजनीतिक में भारतीय बुद्धिवाद की भावना को पूर्ण रूप से लागू करते हैं।

12.12 सारांश

महाभारत के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भीष्म केवल शूरवीर ही नहीं थे। वे बड़े भारी सदाचारी, सदगुणसम्पन्न, शास्त्र के ज्ञाताओं में शिरोमणि थे। भीष्म ने भगवान श्रीकृष्ण के कहने से राजा, युधिष्ठिर को भक्तिज्ञान, सदाचार और राजधर्म आदि के विषय में अलौकिक उपदेश दिया था जिससे महाभारत के शान्तिपर्व और अनुशासन पर्व भरे पड़े हैं। भीष्म पर्व में प्रसिद्ध भगवदगीता का समावेश कर्मयोग की दृष्टि से विशिष्ट महत्व रखता है। भीष्म के चिन्तन से आगे चलकर बाल गंगाधर तिलक एवं श्री अरविन्द घोष को प्रेरणा मिली। सार रूप में यही कहा जा सकता है कि महाभारत का चिन्तन जहाँ एक ओर हमारी बौद्धिक ज्ञानपिपासा एवं नैतिकता के अथाह सागर में से महत्वपूर्ण मानवीय सामाजिक उत्थान के मोती हमारे समक्ष पेश करता है तो वहीं दूसरी तरफ यथार्थ के ठोस धरातल पर हमारी शासनिक-प्राशासनिक संरचना का भव्य महल तैयार करता है। जिससे सभ्य मानवता का दिव्य विकास संभव ही नहीं अवश्यम्भावी हो जाता है, शर्त यह है कि हम अपने ज्ञानचक्षु एवं दृष्टि का कितना विस्तार संभव कर पाते हैं और अपना कितना लौकिक विकास कर पाते हैं। यह हमारी अपनी योग्यता, क्षमता एवं कुशलता पर निर्भर है।

12.13 विविध शब्दावली

आमात्य - मंत्रिपरिषद् एवं अन्य अधिकारीगण।

प्रदेष्टा - आयुक्त अथवा कमिश्नर।

समाहर्ता - कलक्टर अर्थात् जो मालगुजारी आदि वसूलते थे।

अष्टदशतीर्थ - अट्ठारह विभागों के अध्यक्ष।

श्रमिक - ग्राम प्रधान।

दसग्रामपति - दस ग्रामों के अधिपति।

विशति - बीस गाँवों का प्रधान।

परिषद् - राजा को परामर्श देने वाला मण्डल।

अभिजन - अच्छे एवं उच्च कुल में उत्पन्न लोग।

चमूपति - सेना का प्रमुख अथवा सेनापति।

अन्तर्वेशिक - अन्त:पुर का उच्चाधिकारी।

स्वार्थचिन्तक - नगराध्यक्ष।

अटवीपाल - वन-विभाग का अध्यक्ष।

देव सम्मत विधि - ब्रह्मा अथवा ईश्वर द्वारा मानवों के कल्याण हेतु बनायी गयी विधि व्यवस्था।

आर्ष - ऋषि-मुनियों द्वारा निर्मित विधि।

लोक सम्मत्त - जनता की सहमति द्वारा निर्मित विधान ।

चतुर्दंष्ट्र - चार दाढ़ वाला।

चर्तुभुज - चार भुजाओं वाला।

संस्थासम्मत - संस्थाओं द्वारा निर्मित नियम कानून।

मत्स्य न्याय - अराजकता अथवा अव्यवस्था की स्थिति।

मण्डल - राज्य का समूह (महाभारत में 12 राज्यों का मण्डल माना गया है)।

षाड्गुण्य नीति - छह गुणों वाली नीतियाँ।

प्रजापीड़न - प्रजा को कष्ट देना।

12.14 उपयोगी पुस्तकें

1. Hopkins, E.W., The Great Epics of India., India, old and new, Newyork, 1901.
2. Smith, V.A., The Early History of India, 4th eddition Oxford, 1924.
3. Law, N.N., Aspects of Ancient Indian Polity, Oxfords, 1921.
4. Ghoshal, U.N., A History of Hindu Politcal Theories, Oxford University Press, 1923.
5. Aiyangar, K.V.R., Some Aspects of Ancient Indian Polity, Madras, 1916.
6. Banerji, P.N., Public Administration in Ancient India (with Some Critical Notes on theories of kingship).
7. Jaiswal, K.P., Hindu Polity, Calcutta, 1924.
8. Mazumdar, R.C., Corporate Life in Ancient India, Calcutta, 1919.
9. Mookerji, R.K., Local Government in Ancient India, Clarendon Press, Oxford, 1919.
10. Sharan, P., Ploitical Thought and Institution in Ancient India, Meenakshi Prakashan, Meerut & Allahabad (Hindi & English).
11. Sharma, R.S., Aspects of Political Ideas and Institution in Ancient India.

12. Pandey S.L., Bhartiya Rajashastra Praneta (Hindi) Information Dept. of U.P., 1964.

13. के० दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा

14. Beni Prasad, The State in Ancient India, Allahabad.

12.15 सम्बन्धित प्रश्न

प्रश्न 1 महाभारत में वर्णित पर-राष्ट्र संबंधी सिद्धांतों (नीतियों) का वर्णन कीजिए। (दीर्घ उत्तरीय)

प्रश्न 2 मण्डल सिद्धान्त पर एक लघु टिप्पणी लिखिए। (लघु उत्तरीय)

प्रश्न 3 'राजनीति में राजा को किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए'? स्पष्ट कीजिए। (लघु उत्तरीय)

प्रश्न 4 प्रशासनिक नीतियों के संबंध में मंत्रिपरिषद् की भूमिका एवं आवश्यकता पर प्रकाश डालिए। (दीघ उत्तरीय)

प्रश्न 5 मंत्रिपरिषद् के संगठन पर अपने विचार दीजिए। (लघु उत्तरीय)

प्रश्न 6 महाभारत में वर्णित 'प्रशासन' के मूल लक्षणों को स्पष्ट कीजिए। (दीर्घ उत्तरीय)

प्रश्न 7 महाभारत में न्याय एवं दण्ड प्रणाली पर लघु लेख लिखिए। (दीर्घ उत्तरीय)

प्रश्न 8 महाभारत में वर्णित प्रशासनिक सिद्धान्त का विवेचन कीजिए। (दीर्घ उत्तरीय)

वास्तुनिष्ठ प्रश्न

1. महाभारत में मंत्रिपरिषद् के निर्माण हेतु इसकी कितनी संख्या पर बल है –

   (a) 37

   (b) 47

   (c) 57

   (d) 97

2. महाभारत में मंत्रिपरिषद् में ब्रह्मणवर्ग से कुल कितने सदस्य शामिल करने पर बल है:

   (a) एक

   (b) तीन

   (c) चार

   (d) आठ

3. मंत्रिपरिषद् में सर्वाधिक सदस्य किस वर्ग से होते थे?

   (a) ब्राह्मण

   (b) वैश्य

   (c) क्षत्रिय

   (d) शूद्र

4 मंत्रिपरिषद् के गठन में सर्वाधिक बल किस गुण पर था?

   (a) योग्यता

(b) समता

(c) धन-बल

(d) शक्ति

5. मंत्रिपरिषद् के गठन का आधार क्या था?

(a) वर्गीय

(b) आर्थिक

(c) राजनीतिक

(d) इनमें से कोई नहीं

6. प्रशासनिक अधिकारियों (तीर्थों) की निम्मांकित संख्या का वर्णन है :-

(a) 37

(b) 28

(c) 18

(d) 8

7. महाभारत में पर-राज्य सम्बन्ध सप्तांग राज्य के किस अवयव का पर्याय है?

(a) मित्र

(b) शत्रु

(c) किन्नर

(d) यक्ष

8. पर राज्य नीति विशेषतया अवलम्बित है :-

(a) मण्डल सिद्धांत पर

(b) षाड्गुण्य नीति पर

(c) चार उपायां पर

(d) उपर्युक्त सभी पर

9. महाभारत में, अपने पड़ोसी राज्यों से किस प्रकार सम्बन्ध संचालित किया जाए, का विस्तार पूर्वक वर्णन मिलता है :-

(a) षाड्गुण्य नीति में

(b) मण्डल सिद्धांत में

(c) उपर्युक्त दोनों में से किसी में नहीं

(d) उपर्युक्त दोनों में

10. विजिगिषु राजा का अपने पड़ोसी राज्य से प्राय: सम्बन्ध होता है :-

(a) मित्रता का

(b) सौहार्द्र का

(c) शत्रुता का

(d) उपर्युक्त कोई नहीं

11. मण्डल सिद्धांत से तात्पर्य है :-

(a) समाज में सुव्यवस्था का सिद्धांत

(b) राज्य की प्रशासनिक नीतियाँ

(c) पड़ोसी राज्यों के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों से सम्बन्धी नीतियाँ

(d) उपर्युक्त में से कोई नहीं

2. मनुस्मृति में राज्य मण्डल में कुल कितनी प्रकृतियाँ बताई गयी है :-

(a) 5

(b) 12

(c) 60

(d) 72

12.16 प्रश्नोत्तर

1. (a)	2. (c)	3. (b)	4. (a)	5. (a)	6. (c)
7. (a)	8. (d)	9. (b)	10. (c)	11. (c)	12. (d)

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय

MAPS – 02
प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन

खण्ड

4

कौटिल्य रचित अर्थशास्त्र

इकाई 13

धर्म एवं नीति पर कौटिल्य के विचार 05

इकाई 14

प्रशासनिक संगठन तथा गुप्तचर व्यवस्था 18

इकाई 15

मंडल सिद्धान्त 38

इकाई 16

कौटिल्य एवं मैकियावेली का एक तुलनात्मक अध्ययन 52

विशेषज्ञ समिति

प्रो. देवेन्द्र प्रताप सिंह — अध्यक्ष
कुलपति
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

डॉ. आर.के. मणि त्रिपाठी — विषय विशेषज्ञ
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर

डॉ. एल.डी. ठाकुर — विषय विशेषज्ञ
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
राजनीतिशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रो. एस.एम. सईद — विषय विशेषज्ञ
राजनीतिशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

डॉ. मंजूलिका श्रीवास्तव — दूरस्थ शिक्षा विशेषज्ञ
रीडर, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

डॉ. आर.के. बसलस — सचिव
कुलसचिव
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

कार्यक्रम संयोजक : डॉ. हरीश चन्द्र जायसवाल, परामर्शदाता, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सम्पादन : प्रो. एस. के. द्विवेदी, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

PGPS-02 :– *प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन*

लेखक मण्डल

खण्ड एक: डॉ. मुकुल अस्थाना, रीडर,राजनीतिशास्त्र विभाग, सेन्ट एन्ड्रूज पी.जी. कालेज, गोरखपुर — 2 इकाई
खण्ड एक: डॉ. कार्तिकिय, राजनीतिशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद — 2 इकाइ
खण्ड दो: प्रो. राकेश कुमार मिश्र, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ — 4 इकाई
खण्ड तीन: डॉ. बी.के. राय, राजनीतिशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद — 4 इकाई
खण्ड चार: डॉ. कमल कुमार रीडर, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ — 4 इकाई
खण्ड पाँच: डॉ. के.सी. पाण्डेय, राजनीतिशास्त्र विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी — 4 इकाई

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य का कोई भी अंश उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुति अनुमन्य नहीं है।

दूरस्थ शिक्षा परिषद, नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित।

खण्ड 04 का परिचय : कौटिल्य रचित अर्थशास्त्र

भारतीय राजशास्त्रकारों में कौटिल्य का असाधारण महत्व है। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' राजनीतिक चिन्तन की परम्परा का एक अनुपम ग्रंथ है। वस्तुतः वह पूर्व-प्रतिपादित अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों का सार है। कामन्दक ने 'नीतिसार' मे कौटिल्य की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि वह नर-चन्द्र है जिसने सभी अर्थशास्त्रों का मंथन करके अमृत-तत्त्व को प्राप्त किया, जिसने वज्र बनकर नंदवंश का नाश किया एवं राजविद्या व कूटनीति के ज्ञान के बल पर चन्द्रगुप्त को भारत का सम्राट् बना दिया। कौटिल्य के सिद्धान्तों की महत्ता इसी से स्पष्ट हो जाती है कि संस्कृत के महाकवियों-कालिदास एवं दण्डी ने अपने ग्रंथों में कौटिल्य का बार-बार उल्लेख किया है।

कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' एक व्यवस्थित एवं विद्वतापूर्ण ग्रंथ है जो 15 अधिकरणों में विभाजित है। राजनीति एवं प्रशासन के विभिन्न पक्षों जैसे राजधर्म, विधि एवं दंड, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, युद्ध एवं सन्धि, प्रशासनिक संगठन, गुप्तचरी, सैन्य संगठन आदि का सांगोपांग विवेचन अर्थशास्त्र में प्राप्त होता है। राज्य की प्रकृति का निरूपण करने के लिए सप्तांग सिद्धान्त का वर्णन किया गया है। कौटिल्य ने राजा एवं मंत्रियों एवं राज्याधिकारियों के द्वारा स्वधर्म के पालन पर बहुत जोर दिया है। राजा का स्वधर्म यह है कि वह अन्य व्यक्तियों वर्णों और संस्थाओं को अपने नियत कर्तव्यों का पालन करने के लिए प्रेरित करे। राज्य के योगक्षेम का वहन करना राजा का दायित्व है, परन्तु एक नीतिवान् एवं धर्मशील राजा ही ऐसा सफलतापूर्वक कर सकता है। अर्थशास्त्र में राजा के आभिगामिक, बौद्धिक एवं आत्मिक गुणों का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया है।

'अर्थशास्त्र' में प्रशासनिक व्यवस्था का भी विस्तृत विवेचन है। केन्द्रीय शासन का वर्णन करते हुए 18 मुख्य अधिकारियों या 'तीर्थों' का उल्लेख किया गया है। विभागों की संरचना का उल्लेख करते हुए कौटिल्य ने प्रशासनिक तंत्र का विस्तृत विवरण दिया है। नगरीय एवं ग्रामीण प्रशासन का वर्णन करते हुए प्रशासनिक इकाइयों व प्रशासनिक अधिकारियों का ब्यौरा दिया गया है, और उनके आपसी सम्बन्धों की व्याख्या भी की गयी है।

अर्थशास्त्र में लोक वित्त (Public Finance) का भी निरूपण है। कृषि, उद्योग, श्रम आदि का वर्णन विभिन्न अध्यायों में प्राप्त होता है। राज्य की आय एवं व्यय के साधनों का वर्णन भी किया गया है। कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित प्रमुख कर हैं- सीता, भाग, बलि, पिंडकर, सेनभक्त पट्टनम्, उत्संग। कर-संग्रह के सिद्धान्त का वर्णन करते हुए कौटिल्य ने कहा है कि राजा को बागवान की भाँति कर ग्रहण करना चाहिए। जिस प्रकार माली पके एवं विकसित फलों एवं फूलों को तोड़ता है, और कच्चे फलों एवं अविकसित फूलों को स्पर्श नहीं करता, उसी प्रकार राजा को सम्पन्न एवं सामर्थ्यशाली लोगों से उनकी क्षमतानुसार ही कर लेना चाहिए। 'अर्थशास्त्र' में राज्य के अधिकारियों एवं कर्मचारियों के वेतन का वर्णन भी आता है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का प्रतिपादन करते हुए कौटिल्य ने मंडल सिद्धान्त का विवेचन किया है। इसके अन्तर्गत उसने 12 राजप्रकृतियों का उल्लेख किया है। राज्यों के आपसी सम्बन्धों का निर्धारण करने वाले छः तत्त्वों का विवेचन षाड्गुण्य सिद्धान्त में किया है। इन छह तत्वों का उपयोग करने के लिए साम, दाम, भेद एवं दण्ड इन चार उपायों का वर्णन किया गया है।

आन्तरिक एवं बाह्य शत्रुओं से राज्य की रक्षा करने के लिए सेना और गुप्तचरों के संगठन का वर्णन भी 'अर्थशास्त्र' में विस्तार से किया गया है। सैनिकों के प्रकार, सेना के प्रकार, दुर्गों की संरचना, अस्त्र-शस्त्र का विवरण आदि पक्षों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। राजनय के अन्तर्गत दूत के दायित्वों व कार्यों का विवेचन किया गया है। 'अर्थशास्त्र' में गुप्तचरी को बहुत महत्त्व दिया गया है। गुप्तचर राजा के आँख एवं कान हैं, और इसलिए राजा को एक कुशल एवं व्यापक गुप्तचर-तंत्र विकसित करना चाहिए।

राजनीति के मर्म को निरूपित करते हुए कौटिल्य ने लिखा है—"सुखस्य मूलं धर्मः, धर्मस्य मूलमर्थः, अर्थस्य मूल राज्यम्, राज्यमूलमिन्द्रियजयः, इन्द्रियजयस्य मूलं विनयः, विनयस्य मूलं वृद्धोपसेवा।" अर्थात् सर्वविध सुख का मूल धर्म है, परन्तु धर्म का मूल अर्थ है। अर्थ रहने पर ही धर्मानुष्ठान संभव है। अर्थ का मूल राज्य है, राज्य का मूल इन्द्रियजय है, इन्द्रियजय का मूल विनय है और विनय का मूल वृद्ध-सेवा है। वृद्धों की सेवा का भी मूल विज्ञान है, और इसलिए ज्ञान एवं विनय सम्पन्न राजा ही राज्य की सुचारू व्यवस्था कर सकता है और सभी को अपने-अपने धर्मों में प्रवृत्त कर सकता है। कौटिल्य ने राजदण्ड को समाज की व्यवस्था का आधार माना है। यह राजदण्ड परम तेजस्वी है, और अजितेन्द्रिय शासक उसका ठीक-ठीक विधान नहीं कर सकता। इसलिए राजा के जितेन्द्रिय होने पर कौटिल्य ने बहुत बल दिया है।

कौटिल्य ने राजनीति के सनातन आदर्शों का निर्वचन किया है। इनके लिए राजनीति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हुए भी साध्य नहीं है। मानव के चार पुरुषार्थों का स्रोत श्रुति है, और राजनीति की भूमिका समाज की ऐसी व्यवस्था करने तक सीमित है जिसमें मनुष्य इन पुरुषार्थों की ओर प्रवृत्त हो सके।

इकाई-13 धर्म एवं नीति पर कौटिल्य के विचार

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 धर्म एवं नीति की अवधारणा

13.3 धर्म की उत्पत्ति एवं अर्थ

13.4 धर्म पर कौटिल्य के विचार

13.5 नीति पर कौटिल्य के विचार

13.6 धर्म एवं नीति में सम्बन्ध

13.7 सारांश

13.8 उपयोगी पुस्तकें

13.9 संबंधित प्रश्न

13.10 प्रश्नोत्तर

13.0 उद्देश्य

इस इकाई में धर्म और नीति पर संक्षिप्त चर्चा है। इसे पढ़ने के बाद आप निम्न विषय वस्तु को ग्रहण कर सकेंगे :

- अर्थशास्त्र की रचना के बारे में;
- धर्म एवं नीति की अवधारणा को;
- धर्म समाज में कैसे संतुलन बनाकर रखता है, समझ सकेंगे;
- वर्ण-आश्रम व्यवस्था में कौटिल्य के अनुसार धर्म की भूमिका को;
- राजा कैसे नीति और धर्म का प्रतीक है;
- राज्य-व्यवस्था-संचालन में नीति के महत्व को समझ सकेंगे;
- कौटिल्य के अनुसार कैसे राजा धर्म तथा नीति में समन्वय बनाते हुए शासन को प्रभावी एवं समाज को संगठित रखता है-समझ सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

अर्थशास्त्र-युगीन धर्म एवं नीति की विवेचना से पूर्व यह सुस्थिर कर लेना आवश्यक है कि अर्थशास्त्र का रचयिता कौन था और उसके निर्माण-काल की सर्वाधिक सम्भाव्य और मान्य तिथि क्या है। स्मिथ, फ्लीट, शामशास्त्री, जायसवाल, लाटा आदि विद्वान् कौटिल्य को अर्थशास्त्र के प्रणेता के रूप में मानते हैं। तदनुसार अर्थशास्त्र का प्रणयन-काल ई.पू. की चौथी अथवा तीसरी शताब्दी माना गया है। किन्तु इसके विपरीत विंटरनित्ज़, भण्डारकर, कीथ तथा याली आदि विद्वान् इसे अवान्तर-कालीन ग्रन्थ मानते हैं। याली का तो कथन है कि यह प्रायः तीसरी शताब्दी ई. का लिखा हुआ एक बुद्धिमत्तापूर्ण ग्रन्थ है, जिसका वास्तविक प्रणेता कोई नितान्त सिद्धान्तवादी व्यक्ति था, जब कि स्वयं कौटिल्य एक कल्पित राजमंत्री था। अपने कथन की पुष्टि

के लिए उन्होंने सबल तर्क प्रस्तुत किए हैं। याली के अधिकांश तर्क भ्रान्ति-मूलक हैं। ब्राह्मण साहित्य, पालि तथा जैन ग्रंथों में चाणक्य को चन्द्रगुप्त मौर्य का मंत्री कहा गया है। प्राप्य ग्रंथ के अन्त में स्पष्ट अंकित है कि नन्दों का उच्छेद करने वाले कौटिल्य ने इसकी रचना की है।

नन्दवंश का उन्मूलन कर चन्द्रगुप्त मौर्य को पदासीन करनेवाला कूटनीतिज्ञ चाणक्य अथवा कौटिल्य ही था, जो चन्द्रगुप्त का प्रधानमंत्री था। उसके ग्रंथ में जिन सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक तथ्यों का अनुलेखक है, वे मौर्य-युगीन ही प्रतीत होते हैं। लौकिकवादी कौटिल्य समाज की निवृत्तिवादी प्रवृत्ति का निरोध चाहता था। अतः उसने ब्राह्मण, श्रमण, परिव्राजकों के लिए, जिनका समाज के मानस पर पर्याप्त प्रभाव था, निषेध-मूलक विधानों की व्यवस्था की। उसने आजीविकों तथा बौद्धों के प्रति अवज्ञा प्रकट की तथा बौद्धों की गणना शूद्र-संन्यासियों के वर्ग में की। स्त्रियों के भिक्षुणी बनने का निषेध तथा परिवार की समुचित व्यवस्था किए बिना प्रव्रज्या-ग्रहण के लिए दण्ड-विधान (नीति) आदि ऐसे तत्व हैं जिनसे ध्वनित होता है कि बौद्ध धर्म अभी राजधर्म न बन सका था। ग्रन्थ में राजकर्मचारी के लिए 'युक्त' शब्द का प्रयोग हुआ है। अशोक के शिलालेखों में भी यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त है। प्रजातंत्र-राज्यों या गणों के संबंध में 'नीति' स्थिर करते हुए उस समय का जो भौगोलिक विस्तार प्रस्तुत किया गया है उसका संबंध केवल मौर्य काल से ही हो सकता है।

अतः इन सबल प्रमाणों के आधार पर यह अग्राह्य नहीं है कि इस ग्रन्थ के, जिसका मूल भाग मौर्यकालीन है, रचयिता कौटिल्य ही हैं। सम्भाव्य है कि इसमें कुछ प्रक्षिप्त अंश बाद में संलग्न किए गए हैं।

13.2 धर्म एवं नीति की अवधारणा

धर्म तथा नीति प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की दो महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं के रूप में जाना जाता है। धर्म का एक व्यापक अर्थ है। इसे अंग्रेजी शब्दकोष के रीलिजियन (Religion) के रूप में नहीं देखना चाहिए। धर्म का पर्याय ही नीति है। धर्म को हम एक जीवन शैली के रूप में देखते हैं। नीति का संबंध शासन एवं राजनीति से है। राजशास्त्र एवं नीति एक दूसरे से घनिष्ठ रूप में अन्तःसंबंधित हैं।

प्राचीन शास्त्रकारों के मतानुसार 'धर्म' एवं 'नीति' का अद्वैत (ऐक्य) है। 'धर्म' और 'नीति' के परिपालन के बिना कोई भी पुरुषार्थ साध्य नहीं होता, ऐसा उनका सिद्धान्त है। नीति और धर्म का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। नीति केवल लौकिक हित की साधिका ही नहीं, पारलौकिक कल्याण की साधिका भी है। नीति यदि आचरण है तो धर्म अन्तस्। नीति यदि व्यक्तित्व है तो धर्म आत्मा है।

धर्म, आचार एवं कर्त्तव्य शब्द भी 'नीति' शब्द के अर्थ को स्पष्टता और व्यापकता प्रदान करते हैं—धर्म शब्द संस्कृत के 'धृञ् = धृ' धातु से बना है—जिसका अर्थ है धारण करना अथवा धारण किया जाना। अर्थात् धर्म के नियम हैं—जिनसे जीवन व्यर्थ न जाए, भलीभाँति स्थित रहे, चलता रहे। धर्म का ही व्यावहारिक रूप नीति और नीति का व्यावहारिक रूप विधि है। आचार शब्द का अर्थ है—जीवन का नियमित व्यवहार, संयमित, नियंत्रित जीवन। कर्त्तव्य का अर्थ है, वे कर्म जो मनुष्य को अपने लक्ष्य पर पहुँचने के लिए अथवा जीवन को ठीक चलाने के लिए करने चाहिए। कर्त्तव्यपालन जीवन की आध्यात्मिक पूर्णता का एक सोपान है। आधुनिक दृष्टि से हम कह सकते हैं कि नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, आचारशास्त्र या कर्त्तव्यशास्त्र जीवन का वह विज्ञान है जो हमें जीवन का उचित निर्माण सिखाता है।

13.3 धर्म की उत्पत्ति एवं अर्थ

धर्म का अर्थ वस्तुओं के तत्त्वों को समन्वित रखने की शक्ति और क्रिया है। ऋग्वैदिक काल में

धर्म को ऋतु का स्वरूप प्राप्त था। धर्म या ऋतु का मुख्य उद्देश्य समाज में व्यवस्था स्थापित करना था। समाज में संतुलन रखने के लिए मर्यादा और व्यवस्था स्थापित करनी पड़ती है। मनुष्य विश्वव्यापी समन्वय का एक अंग है। वह अपने को इस विश्वव्यापी समन्वय के अनुरूप बनाने के लिए अपनी भावनाओं, विचारों, प्रवृत्तियों और आवश्यकताओं का संतुलन करके अपने व्यक्तित्व को व्यवस्थित करता है। दूसरी ओर अपने बन्धुओं के साथ अपने व्यवहार, आचार, व्यापार, सम्पर्क और सम्बन्ध को ठीक कर समाज को संगठित करता है1 यह समन्वय कुछ मान्यताओं पर आधारित रहता है जो बुद्धि-संगत और ज्ञान-गर्भित होती हैं। इन ज्ञान समन्वित, कर्मपरक मान्यताओं को ही धर्म कहते हैं। इन मान्यताओं की बाहरी अभिव्यक्ति आचारों, कर्त्तव्यों और पारस्परिक सम्बन्धों के रूप में होती है जिनसे समाज का ढाँचा बनता है।

इस प्रकार समाज पूर्णतया धर्म पर आधारित है। धर्म का उद्देश्य समाज में संतुलन रखना है। धर्म के अनुसार सभी मनुष्यों को मिलकर चलना चाहिए, सबको ज्ञानी बनना चाहिए, और सबको अपना कर्त्तव्य करना चाहिए। इस प्रकार का सामाजिक संगठन तभी सम्भव है जब सबके विचार सत्य पर आधारित हों। शतपथ ब्राह्मण में केवल सत्य बोलने का निर्देश है। तैत्तिरीय उपनिषद् में आचार्य शिक्षा समाप्ति पर शिष्य को सत्य और धर्मपालन का उपदेश देता है। छांदोग्य उपनिषद में दक्षिणा में पाँच गुणों—तप, दान, आर्जव (निष्कपटता) अहिंसा और सत्य का उल्लेख है।

ब्राह्मण ग्रंथों में कर्मकाण्ड को ही धर्म समझा जाता था। गौतम बुद्ध ने अहिंसा, सदाचार और त्याग पर सबसे ज्यादा जोर दिया। 'बहुजन हिताय' ही उनके उपदेश का सार है और आत्मसंयम उसका आधार। जनसाधारण पर बुद्ध और महावीर की शिक्षाओं का इतना व्यापक प्रभाव पड़ा कि ब्राह्मणों को भी अपनी जीवन पद्धति को पुनर्जीवित करने के लिए कुछ नये नियम बनाने पड़े। इन नियमों को हम धर्म-सूत्रों, धर्म-शास्त्रों और रामायण तथा महाभारत जैसे महाकाव्यों में देख सकते हैं। इन नियमों का विवेचन इन ग्रन्थों में सामान्य-धर्म, वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म और राज-धर्म के अन्तर्गत किया गया है।

13.4 धर्म पर कौटिल्य के विचार

'धर्म' शब्द का प्रयोग प्राचीन भारत में अनेक अर्थों में हुआ है। वैदिक कर्मकाण्ड, नैतिक आचरण, जाति के नियम और दीवानी तथा फौजदारी कानून धर्म के अन्तर्गत हैं। वास्तव में धर्म का अर्थ बहुत व्यापक है। हम कह सकते हैं कि धर्म के अन्तर्गत वे सब नियम सम्मिलित हैं जिनसे व्यक्ति को सांसारिक और आध्यात्मिक सहारा मिलता है और उसकी एवं समाज की उन्नति होती है। धर्म का शाब्दिक अर्थ है : वे नियम जो समाज के विभिन्न अंगों को मिलाकर रख सकें या जो समाज की रक्षा कर सकें। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि धर्म का अर्थ वे सिद्धान्त हैं जिनके पालन से समाज में स्थायित्व रहता है।

चौथी सदी ई.पू. तक धर्म के प्रतिष्ठित एवं सूक्ष्मतम निदर्शन और वर्णाश्रम-धर्म की व्यवस्था में समाज, धर्म एवं राजनीति का एक विशिष्ट दृष्टिकोण मान्य हो चुका था। बौद्ध तथा जैन धर्मों जैसे अवैदिक सम्प्रदायों ने सामाजिक अपवादों की चेतना अवश्य की, जिसकी प्रतिक्रिया भी समाज पर हुई, किन्तु वे सामाजिक व्यवस्था के मूल दार्शनिक आधार में कोई विशेष परिवर्तन न ला सके। कौटिल्य वर्णाश्रम-सिद्धान्त के पूर्ण समर्थक थे। उन्होंने वर्णाश्रम की व्यवस्था से मर्यादित समाज को सुखकर और मुक्तिदायी बताया है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि वर्ण और वर्णाश्रम धर्म की समाज में प्रतिष्ठा स्थापित रखना राजा का परम कर्त्तव्य था। कौटिल्य का कथन है कि—

स्वधर्मः स्वर्गायानन्त्याय च।
तस्यातिक्रमे लोकः सङ्करादुच्छिद्येत॥

अर्थात अपने धर्म का पालन करने से स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त होता है, और पालन न करने से वर्ण और कर्म में संकरता आ जाती है, जिससे लोक का नाश हो जाता है। अतः अर्थशास्त्र में राजा को निर्देश दिया है कि वह वर्णों को अपने धर्म और कर्म से पथभ्रष्ट न होने दें। इस तरह प्रजा को धर्म और कर्म में प्रवृत्त रखने वाला राजा लोक-परलोक में सुखी रहता है—

तस्मात्स्वधर्म भूतानां राजा न व्यभिचारयेत् ।
स्वधर्मं संदधानो हि प्रेत्य चेह च नन्दति ॥

तथा चारों वर्ण, चारों आश्रम और लोकाचार तथा नष्ट होते हुए सभी धर्मों का राजा रक्षक और धर्म का प्रवर्त्तक माना गया है—

चतुर्वर्णाश्रमस्यायं लोकस्याचाररक्षणात् ।
नश्यतां सर्वधर्माणां राजधर्म प्रवर्तकः ॥

अर्थशास्त्र में चारों वर्ण के धर्म इस प्रकार निर्धारित किए गए हैं—

ब्राह्मण—अध्ययन, यजन-याजन, दान देना और दान लेना।

क्षत्रिय—अध्ययन, यजन (यज्ञ करना), दान देना, शस्त्र बल से जीविका उपार्जन करना और प्राणि रक्षण।

वैश्य—अध्ययन, यजन, दान, कृषिकार्य, पशुपालन और वाणिज्य-व्यापार करना।

शुद्र—सेवा, वार्त्ता (पशुपालन व व्यापार करना) और शिल्प (कारीगरी) व गायन-वादन आदि कार्य करना। शूद्र और नीचे वर्ग के लोगों के धार्मिक कृत्य व अध्यापन कार्य करने से जो ब्राह्मण, पुरोहित असहमति प्रकट करता था, वह राज्य से दण्डित किया जा सकता था। (पुरोहितमयाज्ययाजना ध्यापने नियुक्तममृष्यमाणं राजावक्षिमेत्!)

आश्रम धर्मः–

ब्रह्मचर्य आश्रम—स्वाध्याय, नित्य स्नान, और गुरु का सामीप्य आदि। कौटिल्य ने मुण्डन संस्कार के बाद पहले लिपि (वर्णमाला) और संख्या (अंक) का अभ्यास करने का निर्देश दिया है और उपनयन के बाद त्रयी व आन्वीक्षकी आदि का अध्ययन करने को कहा है।

गृहस्थ आश्रम—सम्यक् कार्यों द्वारा जीविका उपार्जन। देव, पितर, अतिथि और भृत्यों को खिलाकर सबसे अन्त में स्वयं भोजन करना।

वानप्रस्थ आश्रम—ब्रह्मचर्य, भूमि शयन, देव-पितर आदि की पूजा, नित्य स्नान, वन्य आहार (कन्द, मूल फल का भोजन) करना।

संन्यास आश्रम—सांसारिक कार्यों का त्याग, समाज से अलग निवास, शौच (मन और शरीर को शुद्ध रखना) और स्वल्प आहार आदि।

महाभारत में अहिंसा, सत्य और अक्रोध को "सर्वाश्रमगतं तपः" (सब आश्रमों का तप) कहा गया है। कौटिल्य ने भी निर्देश दिया है कि चारों वर्णों के लिए—अविहिंसा (हिंसा न करना), सत्य बोलना, शुचिता, अईर्ष्या, दया और क्षमा, धर्म अथवा कर्त्तव्य है। कौटिल्य ने प्रव्रज्या ग्रहण कर संन्यासी बनने का उन्हीं को अधिकार दिया है, जिन्हें धर्म के अधिकारी पुरुषों द्वारा प्रव्रज्या की अनुमति प्राप्त हो गयी हो। लेकिन इस नियम का उल्लंघन करके जो बिना अपनी स्त्री व संतान के जीवन-निर्वाह का प्रबंध किये सन्यास लेते थे, अथवा अपनी स्त्री को प्रव्रज्या लेने को प्रेरित करते थे, उन्हें कठोर दण्ड दिये जाने का विधान था। कौटिल्य ने सामाजिक कर्त्तव्यों के सुपालन पर बहुत जोर दिया है। वर्ण और आश्रम व्यवस्था के द्वारा अपने सभी कर्त्तव्यों की पूर्ति करके मनुष्य अमर हो जाता है या मोक्ष प्राप्त कर लेता है। जीवन के इस लक्ष्य की पूर्ति उन चारों पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) से होती है, जो व्यक्ति समाज में रह कर ही कर सकता है। इस प्रकार चारों पुरुषार्थों को हम आश्रमों का मनोवैज्ञानिक और नैतिक आधार कह सकते हैं।

प्राप्त करने की प्रवृत्ति की तुष्टि 'अर्थ' द्वारा होती है। धन के संग्रह व उपभोग के द्वारा ही मनुष्य धर्म का पालन कर सकता है। 'अर्थ' से अभिप्राय उन सब साधनों से है जिन्हें प्राप्त कर मनुष्य समृद्ध हो जाता है। इसका मुख्य लक्ष्य सांसारिक सुखों की प्राप्ति है। इन साधनों का उपार्जन मनुष्य को धर्म से करना चाहिए, अधर्म से नहीं। कौटिल्य के अनुसार 'धर्म' और 'काम' का मूल 'अर्थ' ही है। पुरुषार्थ के रूप में 'अर्थ' शक्ति और **ऐश्वय प्राप्ति** करने की मानव अभिलाषा का द्योतक है।

'काम' का अर्थ उन सब इच्छाओं से है जिनकी पूर्ति करके मनुष्य सांसारिक सुख प्राप्त करता है। 'काम' भी धर्म की मर्यादा से सीमित है। काम का मुख्य उद्देश्य संतानोत्पत्ति के द्वारा समाज को आगे बढ़ाना है। जो व्यक्ति केवल अर्थ या काम में फंसा रहता है वह हेय है क्योंकि धर्म ही विश्व का सार और शक्ति है। सबमें धर्म को सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ कहा है। धर्म को ध्यान में रखकर ही व्यक्ति आत्मा और कार्यरूप जगत में और अपने एवं समाज के साथ संबंधों में उचित तारतम्य स्थापित कर सकता है। धर्म, अर्थ और काम चौथे पुरुषार्थ मोक्ष के साधन-मात्र हैं।

कौटिल्य का मत है कि अहिंसा, सत्य, पवित्रता, ईर्ष्या न करना, दूसरे के अच्छे गुणों की प्रशंसा, दया और सहिष्णुता ऐसे गुण हैं जिनका सभी आश्रमों में सबको अनुसरण करना चाहिए। राजा का धर्म है कि इनका अपनी जनता से पालन करवाएं। उन्होंने कहा प्रत्येक वर्ण तथा आश्रम के लोगों को स्वधर्म का पालन करना चाहिए और उस पर दृढ़ रहना चाहिए

कौटिल्य ने लिखा है कि शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य इंद्रियों को वश में करना है। जिसकी इन्द्रियाँ वश में नहीं है वह शीघ्र नष्ट हो जाता है। इसलिए ब्रह्मचारी को काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और अत्यधिक हर्ष का त्याग करना चाहिए। ब्रह्मचारी धर्म के द्वारा काम और अर्थ पर नियंत्रण रखता था।

कौटिल्य ने उनकी सार्थकता के क्रम के अनुसार विधि के चार स्रोतों का उल्लेख किया है :

1. धर्म (सत्य पर आधारित धर्मोपदेश, सत्ये स्थितो धर्मो)
2. व्यवहार (जो बातें आपस में तय कर ली गई हों)
3. चरित्र (रीति-रिवाज) और
4. राजशासन (राजाज्ञा)

यह भी कहा गया है कि राजा को धर्म, व्यवहार, संस्था (लोकाचार) तथा न्याय के अनुसार इस कानून का पालन करवाना चाहिए। विवाद के निर्णय के चार साधन जो ऊपर बताये गये हैं उसमें राजशासन सर्वाधिक बलवान् था।

कौटिल्य राज्य की दृढ़ता एवं स्थायित्व के निमित्त समाज की विघटनकारी प्रवृत्ति का प्रतिरोध करता है। ब्राह्मणवाद के सिद्धान्तों का सबल समर्थन कर कौटिल्य ने धर्म तथा वर्णाश्रम धर्मों की प्रधानता घोषित की और तापस-परम्परा पर राज्य-अंकुश की व्यवस्था की। बौद्ध भिक्षु का भोजनादि से सत्कार करने वाले व्यक्ति पर सौ पण दण्ड था। राजा से अपेक्षित था कि एक ही स्थान पर जन्मे लोगों के संघ एवं वानप्रस्थी संन्यासियों के समूह के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार के संघ को देश में न बढ़ने दें।

कौटिल्य बौद्ध तथा अन्य वेद-विरोधी सम्प्रदायों की स्थिति को राज्य एवं समाज की एकता और अखण्डता के लिए घातक समझता था। इन सम्प्रदायों के प्रति लोक-आस्था अवश्य थी। स्वयं कौटिल्य राज्य के कार्य में बौद्ध भिक्षुणियों को नियोजित करने के पक्ष में था। ब्राह्मण धर्म के हिंसात्मक पक्ष का वह पूर्ण समर्थक न था। ब्राह्मण-धर्म की प्रवरता होते हुए भी तत्कालीन समाज में औपनिषदिक तथा बौद्ध आदि दर्शन के प्रभाव के चलते ब्राह्मण-धर्म का स्वरूप सामंजस्यमय हो गया था। इस युग में धर्म के ज्ञान-मार्गी एवं कर्म-मार्गी दोनों ही स्वरूपों का

अवलम्बन धर्म-जिज्ञासु लेते थे।

ब्राह्मण-धर्म के सामान्य स्वरूप के तथ्यों का आचरण जनसाधारण करता रहा। इसके अन्तर्गत कुल, देश एवं जाति विशेष की आराध्य-विधियाँ, मन्त्र-तन्त्र संबंधी जादू-टोना आदि समाविष्ट थे।

कौटिल्य के पराघात प्रयोग नामक अध्याय में मंत्र-तंत्र संबंधी विधियों का सविस्तार विवरण है। इसमें सामान्य अथवा लोक धर्म का तात्विक पक्ष भी था जिसे सभी सामाजिक वर्ग एवं सम्प्रदाय स्वीकार करते थे। जातकों में इनका उल्लेख कुरु-धर्म तथा देश-राजधर्म के नाम से हुआ है। मनु ने इसे देश-धर्म की संज्ञा दी है। सम्राट् अशोक ने सभी धर्मानुयायियों के लिए जिस समान धर्म के तत्वों को अपने अभिलेखों में उत्कीर्ण करवाया वह इसी लोकधर्म का रूपान्तर था, जिसकी युगों से जन-समुदाय में प्रतिष्ठा थी। अवश्य वे बौद्धमत में ग्राह्य हुए नियम ही थे। अल्पासिनव, बहु-कल्याण, दया, दान, सत्य, दानशीलता, शौच, मार्दव, अविहिंसा, मातृ-पितृ शुश्रूषा, गुरुजन-सेवा, ज्ञातृयों, ब्राह्मणों तथा श्रमणों आदि के प्रति सद्व्यहार इस धम्म के प्रमुख अंग थे।

कौटिल्य ने इस परिकल्पना पर जोर दिया है कि राजा दण्ड का प्रतीक होता है और दण्ड धर्म का अर्थात् वह वर्णाश्रम धर्म और उस पर आधारित लोकाचार का नियमन करने वाली विधि की रक्षा करता है। यही राजधर्म सभी धर्मों की रक्षा करता है जो इस संरक्षण के बिना नष्ट हो जाएँगे

13.5 नीति (दण्ड) पर कौटिल्य के विचार

हिन्दू-धर्मशास्त्र ने नीति-नियमों को विशेष महत्त्व प्रदान किया है, अतः वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत, स्मृति, पुराणादि में नीतितत्त्व का कथन हुआ है। वैदिक साहित्य में नीति के लिये 'ऋतु' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ है—'नियम' अथवा 'सुव्यवस्था'। 'नीति' शब्द 'णीञ् = नी' धातु से क्तिन (ति) प्रत्यय करने पर बना है, इसका अर्थ है—अभीष्ट को प्राप्त कराने वाली, बतलाने वाली या लक्ष्य तक पहुँचानेवाली पद्धति अथवा प्रकार। कोश-ग्रंथों में नीति का अर्थ निर्देशन, योजना, प्रबंधन, व्यवहार, आचरण, औचित्य, कौशल तथा बुद्धिमत्ता आदि किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि नीति शब्द प्रयोग के अनुसार ही भिन्न-भिन्न अर्थ व्यंजित करता है, फिर भी नीति का सर्वस्वीकार्य अर्थ है—व्यवहार ज्ञान या वह आचारशास्त्र जो जीवन में सर्वविध सफलता के लिए उत्कृष्ट दिशा-निर्देश प्रदान करता है। 'नय' (नी+अच्) शब्द का प्रयोग भी इसी अर्थ में होता रहा है; किन्तु इसका अर्थ कौशल, बुद्धिमत्ता तथा कूटनीति समझा जाता है। (डॉ. श्री श्यामजी शर्मा 'वाशिष्ठ' नीतिसार अङ्क कल्याण, पृ. 223, जनवरी-फरवरी 2002 ई०)

'नीति' शब्द का अर्थ होता है पहुँचाना, ले जाना, दिग्दर्शन कराना, नेतृत्व करना तथा उपायों को बतलाना—

नीयन्ते संलभ्यन्ते उपायादाय इति वा।

कामन्दक ने दण्डनीति का लक्षण बताते हुए नीति शब्द की व्याख्या 'नयनान्नीतिरुच्यते' (नयन करने से नीति कही जाती है) की है। जो समाज को अभ्युदय के मार्ग पर ले चले वह नीति है। शुक्राचार्य ने दण्डविद्या को ही नीतिविद्या का पर्याय माना है। दण्डनीति के बिना किसी भी विद्या की सुरक्षा नहीं हो सकती। अतः सभी विद्याओं में प्रधान नीति विद्या है। शुक्राचार्य ने नीतिशास्त्र की परिभाषा इस प्रकार दी है—

सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृन्नीतिशास्त्रकम् ।
धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः ॥ (शुक्रनीति 1/5)

अर्थात् नीतिशास्त्र, सबकी जीविका का साधन और लोक की स्थिति बनाए रखने वाला एवं धर्म, अर्थ तथा काम का मूल होने से मोक्ष देने वाला है। नीति की इस परिभाषा में नैतिक विकास के सभी स्तरों-शुद्ध उपयोगितावाद से परमार्थ तक का समावेश है। सरल परिभाषा में नीतिशास्त्र वह है, जिसमें शुद्ध-अशुद्ध, सत्य-असत्य, उचित-अनुचित एवं शुभ तथा अशुभ के आधार पर मानव-चरित्र और जीवनमूल्यों का विवेचन किया गया है। (नीतिसार अङ्क, कल्याण, पृष्ठ-204, जनवरी-फरवरी 2002 ई०)

राज्य-व्यवस्था-संचालन का एक विशिष्ट, प्रभावी तौर-तरीका होता है, जिसे कौटिल्य ने नीति के रूप में बताया है। उन्होंने इस परिकल्पना पर जोर दिया है कि राजा दण्ड का प्रतीक होता है, और दण्ड धर्म का। यही राजधर्म अन्य सभी धर्मों की रक्षा करता है। इस प्रकार दण्ड, जो सबसे समान रूप से धर्म का पालन करवाता है चाहे वह बेटा हो या शत्रु, और जो किसी भी व्यक्ति के साथ पक्षपात नहीं करता, इस लोक में सुख की स्थापना करेगा और परलोक में भी सुख के लिए मार्ग प्रशस्त करेगा—

दण्डो हि केवलो लोकं परं चेमं च रक्षति ।

राज्ञा पुत्रे च शत्रो च यथादोषं समं धृतः ॥

कौटिल्य के अनुसार राजा को प्रजा के हित में अपना हित समझना चाहिए और उसके सुख में अपना सुख समझना चाहिए। राजा को अपनी प्रजा से वर्णाश्रम धर्म का पालन करवाना चाहिए। जो इसका पालन न करें उन्हें दण्ड दे। राजा को चारों वर्णों और आश्रमों के आचारों की रक्षा करनी चाहिए क्योंकि ऐसा करने से ही सब अपना-अपना कर्त्तव्य करेंगे। जब सभी कानून का पालन करेंगे तो व्यक्तिगत सुख और सुरक्षा तथा सामाजिक व्यवस्था भी स्थायी होगी।

कौटिल्य के अनुसार यह धारणा गलत है कि दण्ड से लोगों के मन में डर उत्पन्न होता है। अपराधी दण्डित होते देखने से सामान्य जनता के मन में कायदे-कानून के अनुसार चलने की प्रवृत्ति स्वभावतः उत्पन्न होती है, जिसके फलस्वरूप दण्ड प्रयोग करना भी सुसंस्कृत समाज में धीरे-धीरे अनावश्यक हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष ये ध्येय प्राप्त करने में समाज की अच्छी प्रगति होती है, व न केवल व्यक्ति का, किन्तु समाज का भी कल्याण होता है।

आन्वीक्षकीत्रयीवार्तानां योगक्षेमसाधनो दण्डः तस्य नीतिर्दण्डनीतिः।

राज्य के हित में धर्म ही नहीं नैतिक तत्त्व भी अपेक्षित समझे जाते थे। नीति-अनीति का आश्रय सर्वथा तर्कसम्मत था। साम, दाम, भेद तथा दण्ड की नीति कौटिल्य की राजनीति का मूल मंत्र था। कौटिल्य के अनुसार छल के द्वारा कार्य की सिद्धि सहज थी। निजी तथा अन्य राज्यों में दूत-व्यवस्था और दूतों की कार्य-विधि के आधार में यही सिद्धान्त व्यवहृत हुआ था। ब्राह्मणों के विशेषाधिकार उसे मान्य थे। किन्तु राज्य के उद्देश्य की पूर्ति में इनका स्वरूप नित्य नहीं वरन् परिस्थिति से नियमित था। कौटिल्य के द्वारा अनीति-आश्रय में राज्य की पुष्टता ही ध्येय था, अन्यथा वह राजा को धर्म और नीति के अनुसार शासन करने पर सर्वाधिक बल न देता। उसका तो विधान है कि राजा नीतिवान तथा जितेन्द्रिय हो। वास्तव में धर्म एवं नैतिकता के प्रति उसका यह दृष्टिकोण राजनीति को उदार बनाने के लिए था, जिसमें समाज के सभी वर्गों तथा सम्प्रदायों की एक न्यायसम्मत स्थिति बनी रहे और तब सर्वोच्च शक्ति से सम्पन्न राज्य परस्पर विरोधी तत्वों में समन्वय स्थापित कर सके। उसने एक ऐसे राज्य की परियोजना की थी, जिसकी सत्ता व्यापक और प्रकृति में अपेक्षाकृत उदार हो।

राज्य में परम शक्ति निहित है, यह कौटिल्य का युक्ति-संगत निष्कर्ष है। इस परमशक्ति को प्राचीन भारतीय राजशास्त्रज्ञों ने दण्ड के रूप में परिभाषित किया है, जिसका कार्यान्वीकरण राजा करता है। कौटिल्य का कथन है कि राजा इस दण्ड-शक्ति का प्रयोग उचित ढंग से करे। न्यायोचित दण्ड-प्रयोग के द्वारा वह प्रजा को धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि प्रदान करता है।

राग-द्वेष और अज्ञान से दण्ड का प्रयोग करना वानप्रस्थों और परिव्राजकों को भी कुपित कर देता है, फिर गृहस्थों का क्या कहना। यदि दण्ड का उत्तम प्रयोग नहीं होगा तो बड़ी मछली जैसे छोटे को आहार बना लेती है, उसी तरह बलशाली, बलहीन को खा डालेगा। दण्ड के द्वारा राजा के हाथों सुरक्षित चारों वर्ण अपने-अपने कर्म और धर्म में संलग्न रहकर अपने मार्ग पर चलते हैं। अतः राज्य की दण्ड-शक्ति के द्वारा ही सामाजिक सुव्यवस्था की स्थापना, धर्म, अर्थ एवं काम के साधनों का विकास और तब व्यक्ति उत्कर्ष सम्भव है। व्यक्ति के कर्त्तव्यों एवं अधिकारों की रक्षा भी तभी की जा सकती है। दण्ड का उत्तम प्रयोग न होने से स्थिति कुछ भिन्न हो सकती है। अतः कौटिल्य दण्ड को राज्य का एक अनिवार्य तत्व समझता था।

कौटिल्य शक्ति-सिद्धान्त के समर्थक पाश्चात्य दार्शनिकों की भाँति राज्य को शक्ति का प्रतिफल या उसका मूर्त-रूप नहीं स्वीकार करता। वह तो कहता है कि दण्ड का प्रयोग न मृदु हो न कठोर, अन्यथा जनता रुष्ट हो जाएगी। राज्य की सावयवी अवधारणा में यह निहित ही है कि राज्य के निर्माण तत्त्वों का पारस्परिक सहयोग बना रहे। राजा दण्ड का उपयोग सम्यक् एवं न्यायोचित रूप से करे, न कि किसी स्वार्थ-भावना से प्रेरित होकर। इस प्रकार कौटिल्य के मतानुसार राज्य की यह प्रतिरोधी शक्ति उसकी एक विशेष स्थिति है न कि उसका सार और आधार। दण्ड का वास्तविक आशय नियम अथवा विधि से है। प्राचीन भारत में राज्य विधि-निर्माण का स्रोत न था, किन्तु परिस्थिति विशेष में राजा आदेश जारी करता था। कौटिल्य लिखित आज्ञा को शासन कहता है। राजा प्रधानतः शासन पर निर्भर होते हैं। उसने धर्म अथवा विधि के अन्य साधनों में राजाज्ञा को ही प्रमुख स्रोत माना है। उसके अनुसार धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजशासन, ये विवाद के चार आधार हैं। उनमें सबसे अंतिम सर्वाधिक तर्कसम्मत है। इस प्रकार कौटिल्य विधि-रूप से दण्ड शक्ति की प्रबलता को स्वीकार करता है, किन्तु वह इसे यह कह कर मर्यादित कर देता है कि जो राजा धर्म, व्यवहार, चरित्र और न्याय के अनुसार प्रजा का पालन करता है वह चारों समुद्रों से परिवेष्टित इस पृथ्वी के शासन में समर्थ होता है। अतः राज्य की यह प्रतिरोधी सत्ता धर्म अथवा न्याय के नैतिक नियमों से ही नहीं धर्म (वेद-शास्त्रीय), व्यवहार, चरित्र (रीति-परम्पराओं) आदि व्यावहारिक तथ्यों से भी प्रतिबाधित थी।

कौटिल्य के अनुसार राज्य का उद्देश्य त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) का उचित साधन करना था। अतः प्रजा की नैतिक, भौतिक एवं सांस्कृतिक उन्नति को साध्य बनाना ही राज्य का लक्ष्य था। कौटिल्य ने शांति, सुव्यवस्था, सुरक्षा तथा न्याय आदि के अनिवार्य कार्यों की तर्क-संगत व्यवस्था की है। कौटिल्य सामाजिक हित की दृष्टि से अहस्तक्षेप की नीति का समर्थक नहीं था। उसकी दृष्टि में तो संसार में अर्थ ही प्रमुख वस्तु है। अर्थ के अधीन ही धर्म और काम हैं, अतः अर्थ-संवर्धन राज्य का प्रमुख कार्य था। आर्थिक कार्यों एवं उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति राज्य का विशेष उद्देश्य माना गया है। अतः अर्थ के प्रायः सभी साधनों पर वह राज्य-नियंत्रण का परिपोषी था। कृषि, वाणिज्य, उद्योग आदि संबंधी सभी कार्यों को व्यक्तिगत प्रतियोगिता का उपकरण न बनाकर राज्य-नियंत्रण एवं संरक्षण के अन्तर्गत किए जाने का विधान है। प्रमुख उद्योगों पर राजा का प्रत्यक्ष स्वामित्व था। कौटिल्य की अर्थनीति में जनहित-संवर्धक राज्य को दृढ़ता एवं सामान्य हित साधन की क्षमता प्रदान करना, धर्म एवं काम अर्थ के ही अधीन थे। अर्थ की समुचित व्यवस्था के पश्चात् ही धर्म तथा काम के साधनों का विकास किया जा सकता है। अतः इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए राज्य पर समाज के लिए हितकारी अन्य कार्यों का उत्तरदायित्व था। शिक्षा को प्रोत्साहन, स्वास्थ्य-रक्षा, दीनों-अनाथों की देखभाल, धर्मशाला, चिकित्सालय आदि की व्यवस्था, अकाल तथा महामारी आदि आधि-व्याधिजन्य दुःखों के निवारण का दायित्व राज्य पर ही था। बाल, वृद्ध और दुःखी जनों को, जो अरक्षित हों, सन्तान-हीन स्त्रियों को और सन्तान उत्पन्न करने वाली सभी नारियों के बालकों की रक्षा राज्य का कर्त्तव्य था। कौटिल्य के ये कोरे विधान ही नहीं थे, सम्राट् अशोक द्वारा इनमें से अधिकांश कार्य-सम्पन्न किए जाते थे। व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए उन दूषित तत्वों पर भी, जो स्वस्थ समाज के निर्माण में बाधक हो सकते थे, राज्य का नियंत्रण था। सुरा-पान एवं

वेश्यावृत्ति को अस्वीकार न करते हुए भी उन पर नियंत्रण आवश्यक समझा जाता था।

संघात-राज्यों की शासन प्रणाली और उनके संघटन पर प्रकाश डालते हुए यह बताया गया कि महाबलशाली मौर्य साम्राज्य की एकराज शासन-व्यवस्था में अपने अस्तित्व को बनाये रखने की शक्ति इन्हीं संघात राज्यों में पायी गई। ये संघात प्रजातंत्र के पोषक थे और उन्होंने एकराज शासन का सदा बहिष्कार किया। इन प्रजातंत्रवादी संघातों को वश में करने के लिए कौटिल्य ने साम और दाम नीति को उपयुक्त बताया है। कौटिल्य का सुझाव है कि "किसी संघ को प्राप्त करना, जीतना, मित्रता सम्पादित करने या सैनिक सहायता प्राप्त करने की अपेक्षा अधिक उत्तम है। जिन्होंने मिलकर अपना संघ बना लिया हो, उनके साथ साम और दाम की नीति का व्यवहार करना चाहिए; क्योंकि वे अजेय होते हैं। जिन्होंने अपना इस प्रकार का संघ न बनाया हो, उन्हें दण्ड और भेद की नीति से जीतना चाहिए।"

धर्म, अर्थ, नीति (शासन, न्याय) आदि विषयों पर लिखे गए ग्रन्थों में मंत्रिपरिषद् पर इसलिए गंभीरता से विचार किया गया कि एक चिरस्थायी एवं सर्वांगीण साम्राज्य की सुरक्षा-व्यवस्था के लिए उसकी आवश्यकता है। कौटिल्य यद्यपि एकराज्य-शासन प्रणाली का समर्थक रहा है, जिसमें राजा ही एकमात्र कर्त्ता-धर्त्ता होता है, किन्तु मंत्रिपरिषद् की अनिवार्यता को उसने भी माना है। उसका कहना है कि राजा को अपना प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य मंत्रिपरिषद् के परामर्श से करना चाहिए और संदिग्ध या विवादग्रस्त विषयों में जो बहुमत द्वारा समर्थित हो उसी के अनुसार कार्य करना चाहिए। सम्पूर्ण प्रजा, सारा राज्य और यहाँ तक कि राजा भी मंत्रिपरिषद् पर निर्भर है। अर्थशास्त्र की दृष्टि से, मंत्री के बिना राजा का कोई अस्तित्व नहीं है।

राजा और मंत्री के पारस्परिक संबंध और राज्य के लिए उनकी क्या आवश्यकता है, इसकी चर्चा करते हुए कौटिल्य ने लिखा है कि राजा और मंत्री साम्राज्यरूपी शकट के दो पहिए हैं, जिनके बिना वह राज्य-शकट आगे नहीं बढ़ सकता है।

मंत्रिपरिषद् की योजना का मुख्य उद्देश्य है प्रत्येक राजकीय समस्या पर विचार करना और राज्य की उन्नति के लिए योजनाएँ बनाना। सभी राजकार्यों को मंत्रणा के बाद ही क्रियान्वित करने का कौटिल्य ने विधान किया है। किसी कार्य को सुचारु रूप से करने के लिए कौटिल्य के अनुसार पाँच पहलुओं पर ध्यान देने की जरूरत है। जैसे कार्य आरम्भ करने का तरीका, योग्य पुरुषों का सहयोग तथा द्रव्य-संचय, देश तथा काल का विचार, अनर्थों से आत्म रक्षा और अपनी अभीष्ट सिद्धि का विचार। कौटिल्य का उद्देश्य एक ऐसे विराट् साम्राज्य की स्थापना करना था, जिसकी शासन-सत्ता निरंकुश हो और जिसके अतुल बल-वैभव के समक्ष किसी को भी सिर उठाने का साहस न हो। फिर भी उसकी नीति के अन्तराल में लोक-कल्याण की एक व्यापक भावना विद्यमान थी, जिसका उल्लंघन उसने कभी भी नहीं किया और सम्भवतः यही एक भारी कारण रहा कि कौटिल्य की निरंकुश नीति में प्रजातंत्री विचारों का आश्चर्यमय समन्वय था।

राजा के प्रमुख कर्त्तव्य हैं, यज्ञ, प्रजापालन, न्याय, दान शत्रु-मित्र से उचित व्यवहार, विभिन्न विषयों के प्रकांड विद्वानों को उनके उपयुक्त स्थानों पर नियुक्त करना। इसी को अच्छी नीति (सुशासन) कहा गया है और ऐसी नीति के अनुसार आचरण करने वाले राजा की सभी विघ्न-बाधाएँ दूर होकर उसकी उन्नति एवं कल्याण होता है।

13.6 धर्म एवं नीति में सम्बन्ध

प्राचीन भारत की राज-व्यवस्था में धर्म का सर्वोच्च स्थान रहा है। समाज के सभी वर्गों और समस्त कार्य-प्रणाली के मूल में धर्म के नीति-निर्देश समन्वित थे। समाज का सबसे महत्त्वपूर्ण व्यवस्थापक राजा भी धर्म के बंधन से इस प्रकार बंधा था कि इस दिशा में कोई संस्कार-संशोधन करने का उसे कोई अधिकार ही नहीं था। राज्य में परम शक्ति निहित है, जिसे प्राचीन

भारतीय शास्त्रज्ञों ने दण्ड के रूप में परिभाषित किया है, जिसका कार्यान्वयन राजा करता है। कौटिल्य का कथन है कि राजा इस दण्ड-शक्ति का प्रयोग उचित ढंग से करे। न्यायोचित दण्ड-प्रयोग के द्वारा वह प्रजा को धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि प्रदान करता है। दण्ड का वास्तविक आशय निगम अथवा विधि से है। राजा को धर्म के अनुसार शासन करने का आदेश देकर कौटिल्य ने राज्य शक्ति मर्यादित कर दी। उसे पुर, ग्राम, देश तथा सामाजिक संगठनों, श्रेणी, निगम आदि की विधियों को ध्यान में रखने का आदेश था। दण्ड सदा धर्म की सीमा में परिबद्ध था। मनु, बृहस्पति, शुक्र, पराशर एवं उनके पुत्र, चाणक्य तथा अन्य विद्वानों को नृपशास्त्र का लेखक कहा गया है। इसी का दूसरा नाम है दण्डनीति। कौटिल्य के अनुसर "दण्ड वह साधन है जिसके द्वारा आन्वीक्षकी, त्रयी (तीनों वेदों) एवं वार्ता का स्थायित्व एवं रक्षण अथवा योगक्षेम होता है। जिसमें दण्ड नियमों की व्याख्या होती है वह दण्डनीति है; जिसके द्वारा अलब्ध की प्राप्ति होती है, लब्ध का परिरक्षण होता है, रक्षित का विवर्धन होता है और विवर्धित का सुपात्रों में बँटवारा होता है।"

प्रायः 'अर्थशास्त्र' शब्द 'दण्डनीति' का पर्याय माना जाता रहा है। कौटिल्य-युगीन धर्म अपने व्यापक स्वरूप में व्यवहृत था। स्वाभाविक है कि तद्‌युगीन सामाजिक संगठन एवं परिस्थितियों तथा धर्म-स्वरूप और उसके चिन्तन ने राजनीतिक विचार-धारा को भी प्रभावित किया। राजनीतिक ध्येय की पूर्ति में नैतिक तत्त्वों की अमान्यता स्वीकार करते हुए भी कौटिल्य का आदेश था कि राजा धर्म और नीति के अनुसार ही काम का सेवन करें। उसका तो कहना था कि अधर्म और अनीति की शिक्षा बुरे संस्कारों को जन्म देती है।

वास्तव में इस जगत के दो रूप हैं—एक सूक्ष्म तथा दूसरा स्थूल। इसी को अन्तर्जगत् तथा बाह्यजगत भी कह सकते हैं। लौकिक अभ्युदय (उन्नति) के साधन को 'नीति' और पारलौकिक उन्नति के साधन को 'धर्म' कहते हैं। अन्तर्जगत् को नियंत्रण में रखने के लिए धर्म की आवश्यकता होती है तथा बाह्यजगत् को नियंत्रण में रखने के लिए नीति की आवश्यकता होती है। इसलिए राज्यशासन की स्थापना की जाती है। लोकयात्रा का निर्वाह धर्म तथा नीति दोनों से चलता है। धर्म की रक्षा के लिए राज्य की स्थापना होती है तथा राज्य की रक्षा के लिए धर्म की आवश्यकता होती है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में प्रजा को सुख देने वाली राजनीति का धर्म से अटूट संबंध बताते हुए कहा है—'सुखस्य मूलं धर्मः। प्रचण्ड बाहुबल से विशाल राज्य तो स्थापित किया जा सकता है, किन्तु राज्य संचालन हेतु दूरदर्शी, बुद्धिमान् एवं नीतिमान नरेश की आवश्यकता होती है।

महर्षि वेदव्यास नीतिशास्त्र को इस भूमण्डल का अमृत, उत्तम नेत्र, तथा श्रेयप्राप्ति का सर्वोच्च उपाय मानते हैं। समाज को स्वस्थ एंवं संतुलित पथ पर अग्रसर करने एवं व्यक्ति को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को उचित रीति से प्राप्त कराने के लिए जिन विधि या निषेधमूलक वैयक्तिक और सामाजिक नियमों का विधान देश, काल एवं पात्र के संदर्भ में किया जाता है, उसे नीति कहते हैं। दूसरे शब्दों में व्यवहार की वह रीति, जिससे अपना हित हो और दूसरों को कष्ट या हानि न पहुंचे वह नीति कहलाती है। ये वे नियम हैं जिन पर चलने से मनुष्य का ऐहिक, आमुष्मिक तथा सर्वविध कल्याण होता है। समाज में संतुलन और स्थिरता बनी रहती है तथा सभी प्रकार से अभ्युदय का मार्ग प्रशस्त होता है। भाव यह है कि उचित व्यवहार का नाम नीति है। इसी से कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का बोध होता है। धर्म में रति तथा अधर्म में विरति इसी बोध की देन है। (डॉ. श्री गणेशदत्त जी सारस्वत, पृष्ठ 504, नीतिसार अङ्क, कल्याण, जनवरी-फरवरी 2002 ई.)

13.7 सारांश

'ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' (कृष्णयजुर्वेदीय पुरुषसूक्त)

इस पुरुषसूक्त से भगवान् विष्णु की सेवा में तत्पर उनकी दो पत्नियों का स्मरण किया गया है,

जिनके नाम क्रमशः 'ह्री' एवं 'लक्ष्मी' हैं। इनकी यर्थाथता स्पष्ट करने हेतु परम्परा-प्राप्त अर्थशास्त्र को संक्षिप्त करते हुए आचार्य चाणक्य ने अर्थशास्त्र प्रकाशित करके सामाजिक अर्थ की नीति सुदृढ़ बनायी। इससे स्पष्ट होता है कि जो अर्थार्थी हैं वे यदि 'ह्री' का आदर नहीं करते तो विष्णुजी की द्वितीय पत्नी लक्ष्मीजी उन अर्थार्थियों को छोड़कर अपना चंचलत्व प्रकट करती हैं। 'ह्री' पद से बोध्य लज्जा साधारण नहीं अपितु पुरुषसूक्त की दृष्टि से जगज्जननी जगदम्बिका का अवतार है। जैसा कि कहा गया है—

या देवी सर्वभूतेषु लज्जारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै, नमस्तस्यै, नमस्तस्यै नमो नमः॥

तथा पुरुषसूक्त के मंत्र में उक्त लक्ष्मीजी के तीन अर्थ हैं— (1) आध्यात्मिक (2) आधिदैविक तथा (3) आधिभौतिक।

'अर्थ एवं प्रधान इति कौटिल्यः' इस उक्ति को पढ़कर यह समझा जाता है कि इतना मात्र ही उनका मत है, किन्तु ऐसा नहीं है। लक्ष अध्याय के अर्थशास्त्रमहोदधि से थोड़ा-थोड़ा भाग पढ़कर बृहस्पति आदि ऋषियों के शिष्यों ने अपने-अपने, सम्प्रदाय में उसे प्रचारित किया। इस सीमित ज्ञान का परिणाम हुआ कि आन्वीक्षिकी, वार्ता एवं त्रयी आदि विद्याओं के लोप के साथ अर्थादिपदों के वास्तविक अर्थ के लोप का प्रसंग उपस्थित हो गया। दण्डनीति का अर्थ भी उलटा किया जाने लगा। इसको समझकर आचार्य कौटिल्य ने आन्वीक्षिकी एवं त्रयी का अनुगमन करते हुए अपनी गुरुभक्ति, तपस्विता एवं विवेक से उक्त अर्थशास्त्रमहोदधि का अभिप्राय प्रकाशित कर लोकयात्रा की सुचारुता पुनः सम्पादित कर सम्पूर्ण भारत को एक सूत्र में बांधा। यही अभिप्राय बताते हुए आचार्य कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में जहाँ-तहाँ 'नेति कौटिल्यः' कहा है अर्थात् यह उनका मत नहीं अपितु पूर्व परम्परा से प्राप्त अर्थ ही है।

उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि पुरुषसूक्त ने यथार्थ तत्व का विचारकर भगवान श्री विष्णु के स्तवन के प्रसंग में पत्नीद्वय का निरूपण कर जिस तत्त्व को ध्वनित किया, उसी तत्त्व को सिद्ध करने के लिए कौटिलीय अर्थशास्त्र आगे आया। (विशेष पढ़ें—'पुरुषसूक्त' के आधार पर अर्थशास्त्र का उद्भव, लेखक महामहोपाध्याय श्री विश्वनाथ जी शास्त्री दातार, नीतिसार अङ्क, पृष्ठ-184-185, कल्याण, जनवरी-फरवरी 2002 ई.)

13.8 उपयोगी पुस्तकें

1. प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा	डॉ० लल्लनजी गोपाल
2. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् (हिन्दी व्याख्योपेतम्)	वाचस्पति गैरोला (व्याख्याकार)
3. प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति	प्रो० अनंत सदाशिव अलतेकर
4. प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता	दामोदर धर्मानंद कोसम्बी
5. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास	ओम प्रकाश
6. चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल	राधाकुमुद मुखर्जी
7. मौर्य साम्राज्य का सांस्कृतिक इतिहास	प्रोफेसर भगवती प्रसाद पांथरी
8. अशोक और मौर्य साम्राज्य का पतन	रोमिला थापर

13.9 संबंधित प्रश्न

लघुउत्तरीय

1. धर्म के सही अर्थ को बताइए। (पाँच पंक्तियों में उत्तर दीजिए)

2. चारों पुरुषार्थों का नाम लिखें।

(क) (ख) (ग) (घ)

3. अर्थशास्त्र में चारों वर्ण के क्या-क्या धर्म निर्धारित किए गये हैं।

(पाँच पंक्तियों में उत्तर दीजिए)

दीर्घउत्तरीय

1. "राजा को धर्म के अनुसार शासन करने का आदेश देकर कौटिल्य ने राज्य शक्ति मर्यादित कर दी"। व्याख्या करें।

(पन्द्रह पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

2. कौटिल्य के दण्ड नीति पर प्रकाश डालें।

(बीस पंक्तियों में उत्तर दीजिए।)

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्नलिखित में से कौटिल्य किसका प्रधान मंत्री था? (सही उत्तर के सामने ✓ का चिह्न लगाइए)।

(क) अशोक

(ख) चन्द्रगुप्त

(ग) बिन्दुसार

(घ) अजातशत्रु

2. कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार वर्णाश्रम धर्म की समाज में प्रतिष्ठा स्थापित करना किसका कार्य था?

(क) मंत्री

(ख) पुरोहित

(ग) राजा

(घ) कौटिल्य

3. निम्न कथनों में से कौन से सही (✓) है और कौन गलत (✗) निशान लगाइए।

(क) चाणक्य को कौटिल्य नाम से भी जानते हैं। ()

(ख) धर्म को एक जीवन शैली के रूप में नहीं देखा गया है। ()

(ग) धर्म के अनुसार सबको अपना कर्तव्य करना चाहिए। ()

(घ) चार वर्ण में शामिल हैं---ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। ()

(ङ) चार आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास होते थे। ()

(च) राज-व्यवस्था चलाने के एक खास तौर-तरीके को कौटिल्य ने नीति बताया है। ()

(छ) दण्ड (नीति) का वास्तविक आशय नियम अथवा विधि से है। ()

4. रिक्त स्थानों की पूर्ति करो।

(क) – तथा – प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के दो महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं के रूप में जाना जाता है।

(ख) – का उन्मूलन कर – को पदासीन करने वाला कूटनीतिज्ञ – था।

(ग) अर्थशास्त्र की भाषा – है।

(घ) समाजवादी – वर्णाश्रम-सिद्धान्त का पूर्ण समर्थक था।

13.10 प्रश्नोत्तर

1. (ख) चन्द्रगुप्त
2. (ग) राजा
3. (क) (✓)

   (ख) (✗)

   (ग) (✓)

   (घ) (✓)

   (ङ) (✓)

   (च) (✓)

   (छ) (✓)
4. (क) धर्म तथा नीति

   (ख) नन्दवंश, चन्द्रगुप्त मौर्य, चाणक्य

   (ग) संस्कृत

   (घ) कौटिल्य

इकाई - 14 प्रशासनिक संगठन तथा गुप्तचर व्यवस्था

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 शासन का आदर्श

14.3 साम्राज्य संगठन

14.4 पृष्ठभूमि, जिसके फलस्वरूप मौर्य प्रशासनिक व्यवस्था अस्तित्व में आई

14.5 केन्द्रीय प्रशासन

- 14.5.1 राजा
- 14.5.2 मंत्रिपरिषद्
- 14.5.3 नागरिक प्रशासन
- 14.5.4. सेना
- 14.5.5 न्याय-व्यवस्था
- 14.5.6 जनकल्याण
- 14.5.7 अन्य विभाग : गुप्तचर, राजस्व, इत्यादि

14.6 प्रान्तीय प्रशासन

14.7 जनपद तथा ग्रामीण प्रशासन

14.8 गुप्तचर व्यवस्था

- 14.8.1 कार्य तथा प्रकार
- 14.8.2 गुप्तचरों की नियुक्ति (स्थायी गुप्तचर-'संस्था')
- 14.8.3 गुप्तचरों की नियुक्ति (भ्रमणशील गुप्तचर-'संचार')
- 14.8.4 मंत्रयुद्ध और कूटयुद्ध में गुप्तचरों की भूमिका

14.9 सारांश

14.10 उपयोगी पुस्तकें

14.11 सम्बन्धित प्रश्न

14.12 प्रश्नोत्तर

14.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

अर्थशास्त्र में वर्णित प्रशासनिक ढाँचे को समझ सकेंगे;

उस युग के प्रशासन की विभिन्न इकाइयों, उनके अधिकार और कार्यभार से परिचित हो सकेंगे;

विभिन्न स्तरों पर प्रशासन करने के ढंग में अन्तर कर सकेंगे और

गुप्तचर व्यवस्था के बारे में व्यापक जानकारी से अवगत हो सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

प्राचीन भारत की प्रशासकीय व्यवस्था के विषय में अध्ययन करते समय कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' अनायास हमारा ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। राजनीति की नवीन विचारधारा का संस्थापक, कौटिल्य, चाणक्य के नाम से भी जाना जाता है, यों तो उसका मूल नाम विष्णुगुप्त था। हिन्दू राज्य-व्यवस्था विषयक ग्रंथों में 'अर्थशास्त्र' अग्रणी ग्रंथ है। दूसरे ग्रन्थों के रचयिताओं की तुलना में चाणक्य ने गहन विचारों तथा वैज्ञानिक विवेचन का आश्रय लिया है। उसका प्रमुख योगदान यह है कि उसने हिन्दू राज-व्यवस्था को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया। साथ ही उसके अनुसार राज्य का उद्देश्य जन-हित होना चाहिए। स्वयं से पहले के विद्वानों जैसे विष्णु, नारद व बृहस्पति के विचारों का चाणक्य ने अध्ययन किया और फिर उसने अपने विचार प्रतिपादित किए। उस समय जो शासन-व्यवस्थाएँ, जैसे-राजतंत्र, वर्गतंत्र, गणतंत्र और संघ-राज्य-विद्यमान व प्रचलित थीं, चाणक्य ने उनके गुण व दोष भी बताए। इस प्रकार कौटिल्य ने अध्ययन की तुलनात्मक प्रकृति को अपनाकर अपने विचारों को प्रतिपादित किया है।

कौटिल्य, चन्द्रगुप्त मौर्य का प्रधानमंत्री था। वह बिन्दुसार तथा अशोक के समय भी मंत्रिपद सुशोभित करता रहा। इस प्रकार उसने तीनों मौर्य शासकों के काल में शासननीति में समता रखने का प्रयास किया होगा। पर यह परिस्थिति की बात थी कि अशोक ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया और अपने शासन की नीति उसने बहुत कुछ उसी के अनुरूप बदल दी, यद्यपि बहुत अंशों तक अपने पूर्वज शासकों की नीति से उसकी नीति में मेल रहा।

14.2 शासन का आदर्श

मौर्य शासक प्रजावत्सल थे। उनका शासन जनता के हित-सुख की भावना व नीति पर आधारित था। मुद्राराक्षस नाटक में चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में चाणक्य ने कहा है कि उसका राज्य-शासन नन्दों के जैसा न था। नन्द अर्थ से प्रीति रखते थे लेकिन चन्द्रगुप्त प्रजाक्लेशहरण में ही सुख मानता था।

चन्द्रगुप्त राज्यमिदं न नन्दराज्यम्।
नन्दस्यैवार्थरूचेरर्थ सम्बन्धः प्रीतिमुपादयति।
चन्द्रगुप्तस्य तु भवतामपरिक्लेश एव। (मुद्राराक्षस, प्रथम अंक)

यही भाव पूर्णरूपेण अशोक द्वारा भी अपने अभिलेखों में बार-बार दुहराया गया है। उसने अपनी प्रजा को पुत्रवत् कहा है—"सबे मुनिसे प्रजा मया", तथा "जिस प्रकार मैं अपनी संतान (प्रजा) के लिए कामना करता हूँ कि वह सभी हित-सुख इहलौकिक और पारलौकिक को प्राप्त करे उसी प्रकार सभी मनुष्यों के लिए भी कामना करता हूँ", क्योंकि राजा के लिए उसका कहना था कि 'कर्त्तव्यमतं हि मे सर्वलोकहितम्'—"सबका कल्याण करना मेरा कर्त्तव्य है, धर्म है।" और इसके लिए ही वह सदा सतत् उद्यम (परिश्रम) करता रहता है, क्योंकि सर्वलोकहित का मूल आधार—"एतत् मूलम् उत्थानम्"—उत्थान अर्थात् परिश्रम है। (धौली प्रथम पृथक अभिलेख। शाहबाजगढ़ी षष्ठ शिलालेख। कालसी षष्ठ शिलालेख।) कौटिल्य ने भी यही भाव व्यक्त करते हुए उत्थान, राजा का व्रत, और अनुशासनकार्य को यज्ञ (व्रतमुत्थानं यज्ञः कार्यानुशासनम्) कहा है, और प्रजा के हित-सुख को ही राजा का हित-सुख बताया है (—प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्)। चन्द्रगुप्त, सत्यता के साथ अभिषेक के समय अपनी प्रजा के प्रति दिए गये वचनों का पालन करने वाला तथा धर्म के आधार पर शासन करने वाला सत्यसन्ध धर्मराज कहा गया है। उसी प्रकार अशोक भी धर्म और सत्य पर चलने वाला सत्य राजा था। वह पहला भारतीय शासक है, जिसने मानव इतिहास में प्रथमतः विश्व को एकता, निर्भयता और समानता का पाठ पढ़ाया था और राज्य का उद्देश्य सर्वहित और सर्वकल्याण घोषित किया था।

उसका उद्घोष था—"कर्त्तव्यमतं हि मे सर्वलोकहितम्" सर्वलोकहित ही मेरा कर्त्तव्य है, और नास्ति हि क्रमतर सर्वलोकहितेन—सर्वलोकहित से बढ़कर दूसरा कोई काम नहीं है। (षष्ठ अभिलेख-मानसेरा) स्पष्ट है कि अशोक और उसके पिता व पितामह चन्द्रगुप्त का शासन इन्हीं आदर्शों पर आधारित था।

चन्द्रगुप्त का राज्य विभिन्न प्रान्तों में विभक्त था, जिनके शासन के लिए गवर्नर नियुक्त थे। किन्तु राज्य का वह स्वयं सर्वेसर्वा था और प्रान्तों की व्यवस्था उसी के आदेशों पर चलती थी। अतः शासन केन्द्र अधीन था। अशोक के समय भी प्रान्तीय व्यवस्था इसी प्रकार से थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि जो राजत्व का सिद्धान्त चन्द्रगुप्त के समय स्थापित किया गया था वही अशोक के समय भी बना रहा। पर कुछ क्षेत्रों में स्पष्ट अन्तर भी दिखायी देता है। अशोक ने युद्ध घोष को धर्म-घोष में बदलकर धर्म-विजय करने का जो सिद्धान्त अपनाया था वह चन्द्रगुप्त के समय में हम नहीं पाते। यह अन्तर परिस्थितियों के परिवर्तन का ही फल था।

14.3 साम्राज्य का संगठन

यह राजनीतिक इतिहास की पहली घटना है जब चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में हम भारत में विशाल चक्रवर्ती राज्य को स्थापित देखते हैं जो हिमालय से समुद्रान्त तक विस्तृत था। इस दृष्टि से मौर्य शासक भारतीय इतिहास में वास्तविक सार्वभौमिकता के नव युग का निर्माण करते हैं। केन्द्र की यही व्यवस्था अशोक के समय भी थी पर इससे थोड़ा अन्तर उसके समय दिखता है। उसके तेरहवें शिलालेख से स्पष्ट होता है कि उसके साम्राज्य में कुछ प्रदेश तथा जनपद ऐसे भी थे जहाँ के शासक मौर्य अधिपति के अधीन थे फिर भी अपने राज्य के आन्तरिक शासन के लिए उनको पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी। ये राज्य थे—यवन, कम्बोज, गांधार, राष्ट्रिक, नाभड, पैठानिक, आन्ध्र, पुलिन्द, भोज, पितनिक, आटवी और अपरान्ता के राज्य। आन्तरिक स्वतंत्रता प्राप्त रहने पर भी इनको केन्द्र से प्राप्त निर्देशों का पालन करना पड़ता था। अशोक के शिलालेखों से प्रकट है कि वे पूर्ण स्वतंत्र नहीं छोड़े गये थे, बल्कि धर्ममहापात्र नामक अधिकारी उनकी देखरेख के लिए वहाँ भेजे जाते थे।

शासन की सुव्यवस्था के लिए सम्पूर्ण साम्राज्य यद्यपि केन्द्र द्वारा राजा के अन्तर्गत शासित होता था पर शासन की सुविधा के लिए उसको प्रान्तों, जनपदों, और ग्रामों में विभक्त किया गया था। इनके लिए अलग-अलग अधिकारी नियुक्त होते थे। रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख से प्रकट होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने सौराष्ट्र को अपने साम्राज्य का एक प्रान्त बनाया था और वहाँ एक प्रान्तपति नियुक्त किया था जो वैश्य वंश का था तथा जिसका नाम पुष्यगुप्त था। उसने वहाँ जनता के हित के लिए विशाल सुदर्शन झील का निर्माण कराया था। इससे स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त ने प्रशासन की सुविधा के लिए सम्पूर्ण राज्य को कई प्रान्तों में विभक्त कर रखा था, जिनके प्रशासन के लिए प्रान्तपति नियुक्त थे। अशोक ने भी अपनी प्रशासनिक सुविधाओं के लिए अपने सम्पूर्ण राज्य को पाँच प्रान्तों में विभक्त किया था तथा उनके लिए अलग-अलग प्रान्तपतियों की नियुक्ति की गयी थी। राज्य के प्रमुख प्रान्तों के लिए राजवंश के कुमार व आर्यपुत्र ही प्रान्तपति नियुक्त होते थे। पर राजपरिवार के अतिरिक्त भी प्रान्तपति नियुक्त किए गए थे।

अशोक द्वारा विभाजित प्रान्त निम्न थे :

(i) गंधार (उत्तरापथ) — राजधानी तक्षशिला थी।

(ii) अवन्ति — राजधानी उज्जैन थी।

(iii) कलिंग — राजधानी तोसली थी।

(iv) दक्षिणापथ — राजधानी स्वर्णगिरी थी।

(v) गृहप्रान्त — इसका शासन महापात्रों के सहयोग से सीधे सम्राट् द्वारा होता था। प्रान्तों को

अनेक छोटे-छोटे भागों में बांटा गया था—

(i) स्थानीय — इसमें 800 गाँव होते थे,

(ii) द्रोणमुख — 400 गाँवों का संगठन,

(iii) खारवटिक — 200 गाँवों का संगठन, तथा

(iv) सग्रहण — 10 गाँवों का संगठन।

इस क्रम में सबसे छोटी इकाई ग्राम की होती थी। इन ग्रामों को प्रशासनिक व्यवस्था की दृष्टि से विभिन्न कोटियों में विभाजित किया गया था— (i) परिहारक-करमुक्त ग्राम (ii) आयुधीय, जो केन्द्र को सेना देते थे, (iii) ऐसे ग्राम जो धान्य, पशु, हिरण्य इत्यादि में कर चुकाते थे और (iv) जो गाँव विष्ट (बेगार) दही, दूध, मक्खन आदि से कर चुकाते थे।

14.4 पृष्ठभूमि, जिसके फलस्वरूप मौर्य प्रशासनिक व्यवस्था अस्तित्व में आयी

तीसरी शताब्दी ईसवी पूर्व तक मौर्य राज्य, जिसका केन्द्र मगध था, सुदृढ़ रूप से संस्थापित हो चुका था। अब इसका प्रभाव क्षेत्र गंगा के मैदान तक ही सीमित नहीं था। दक्षिण के अन्दरुनी क्षेत्रों तथा पूर्वी क्षेत्रों और उत्तर-पूर्व के इलाकों को छोड़कर लगभग समस्त भारतीय उपमहाद्वीप मौर्यों के नियंत्रण में आ चुका था। एक विशाल राज्य क्षेत्र के नियंत्रण के लिए उपयुक्त प्रशासनिक संयंत्र भी मौजूद था। उस संयंत्र के अन्तर्गत प्रशासन के विभिन्न स्तर थे। इनमें प्रमुख था साम्राज्य का केन्द्रीय प्रशासकीय क्षेत्र मगध, प्रान्तीय केन्द्र, परिधि पर स्थित क्षेत्र, नगर तथा गाँव, आदि। राजा के प्रभुत्व को बनाए रखने और उसके आदेश का पालन करने के अलावा प्रशासन के कार्यालय में, न्याय, सेना, गुप्तचरी, राजस्व जमा करना, हस्त शिल्प इत्यादि शामिल थे।

मगध की निरंतर विजय और विस्तार में अनेक कारकों का योगदान था, जिन्होंने उसे एक बड़े साम्राज्य का रूप दिया जैसे राज्य द्वारा राजस्व बढ़ाने का प्रयास। इस प्रयास में ऐसी जमीनों पर नियंत्रण किया गया जिससे अतिरिक्त उत्पादन हो सके ताकि राज्य इसे वसूल कर सके; व्यापारियों पर कर लगाना; खान और व्यापार मार्गों पर नियंत्रण इत्यादि। उदाहरण के लिए, अशोक की कलिंग पर विजय, पूर्वी भारत के तटीय व्यापार को अपने नियंत्रण में करने की इच्छा से प्रेरित थी। इसी प्रकार कर्नाटक के इलाके पर कब्जा करने का उद्देश्य कोलार की सोना खानें हो सकती हैं। अतिरिक्त उत्पादन को हासिल करने, तथा उसके वितरण या व्यय की समस्या ने एक जटिल प्रशासनिक व्यवस्था का होना अनिवार्य बना दिया। यह व्यवस्था विभिन्न स्तरों पर आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए भी जरूरी थी। अन्य क्षेत्रों पर विजय के लिए एक शक्तिशाली सेनां की जरूरत थी और सेना को संगठित करने तथा उसकी आवश्यकता की पूर्ति के लिए एक कुशल प्रशासन होना जरूरी था। उसी तरह व्यापारियों से कर या उत्पादकों से अतिरिक्त उत्पादन वसूल करना हो तो एक ऐसा प्रशासनिक ढाँचा चाहिए था जो नियम बनाए और उन्हें लागू भी करे। काफी समय से जो पद्धतियाँ और संस्थाएँ विकसित हो रही थीं, मौर्य प्रशासन ने उन्हें एक ठोस रूप दिया। मौर्य प्रशासन के काम काज का ढंग अत्यन्त सुव्यवस्थित था। शासन स्वरूप यद्यपि केन्द्रीय एवं एकात्मक था, फिर भी स्थानीय संस्थाओं को बहुत से अधिकार प्राप्त थे। मोटे तौर पर प्रशासन की केन्द्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय इकाइयाँ मौजूद थीं।

14.5 केन्द्रीय प्रशासन

प्रशासन केन्द्र और प्रान्तीय क्षेत्रों से लेकर गाँव तक अनेक प्रशासनिक इकाइयों में विभाजित था।

इन सभी इकाइयों के अपने अलग-अलग प्रशासनिक ढाँचे तो थे, पर यह सभी, एक केन्द्रीय प्राधिकार से नियंत्रित होते थे। केन्द्रीय प्रशासन को निम्नलिखित भागों में बाँट सकते हैं :

1. राजा 2. मंत्रिपरिषद् 3. नागरिक प्रशासन 4. सेना 5. गुप्तचर विभाग 6. विधि एवं न्याय 7. जन-कल्याण

14.5.1. राजा

राजा साम्राज्य का प्रमुख शासक, न्यायाधीश, धर्म-प्रवर्त्तक तथा सेनापति होता था। वह समाज का संरक्षक और राज्य की शक्ति का केन्द्र-बिन्दु था। उसके अधिकार और कर्त्तव्य विविध और व्यापक थे। शासक के रूप में वह स्वयं प्रत्येक विभाग का निरीक्षण करता था और राज्य के प्रमुख अधिकारियों की नियुक्ति करता था। मंत्रियों को उसके विभागों का बँटवारा तथा गुप्तचरों (गूढ़पुरुषों) की नियुक्ति भी वह स्वयं करता था। राज्य के हिसाब-किताब की देखरेख भी उनको करनी पड़ती थी। वही नगर तथा जनपद के कार्यों पर विचार करता था तथा कर ग्रहण व गुप्त-सूचनाओं का अध्ययन करता था। प्रमुख न्यायाधीश के रूप में वह दण्ड और पुरस्कार का उत्तरदायी होता था। दण्ड के द्वारा सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने तथा चतुर्वर्णों के कर्त्तव्यों को समुचित रीति से कार्यान्वित कराना उसका प्रमुख कर्त्तव्य था—

चतुर्वर्णाश्रमो लोको राज्ञा दण्डेन पालितः।

स्वधर्मकर्माभिरतो वर्तते स्वेषु वेश्मसु॥

कौटिल्य के अनुसार राज्य के सात अंगों में केवल दो की प्रधानता है— राजा और देश (राजराज्यमितिप्रकृतिसंक्षेपः)। यों राज्य के सात अंग थे—राजा, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड (सेना) और मित्र। अर्थशास्त्र इस बात की साफ तौर पर पुष्टि करता है कि यदि किसी समस्या को सुलझाने में नीतिशास्त्र और राजा के कानून में मतभेद होता था तो राजा का कानून ही मान्य होता था। अर्थशास्त्र के अनुसार प्रशासन के प्रत्येक पहलू में राजा का आदेश या विचार ही सर्वोपरि है, राजा उनका केन्द्र था। कौटिल्य का निर्देश है कि राजा का पहला कर्त्तव्य प्रजा को प्रसन्न रखना है। राजा का अपना कोई हित या सुख अथवा अभीष्ट नहीं होना चाहिए। वह तो प्रजा की सुख-सुविधाओं एवं प्रजा के अभीष्ट की व्यवस्था करने वाला एक व्यवस्थापक मात्र है। अपनी विराट् प्रजा के कुशल-क्षेम के लिए किन-किन बातों और किन-किन साधनों की आवश्यकता है, इसकी सारी जिम्मेदारी और सारा भार राजा के ऊपर निर्भर है। सत्कुलोत्पन्न, दैव बुद्धि, बलवान, धार्मिक, सत्यवादी, तत्त्ववक्ता, कृतज्ञ, उच्चादर्शयुक्त, उत्साही, शीघ्र कार्य करने वाला, समर्थ सामंतों से युक्त, दृढ़निश्चयी और विद्या-व्यसनी : राजा के चरित्र के ये प्रधान गुण हैं। राजा की बुद्धि में शास्त्रों को सुनने की उत्कण्ठा, शास्त्रोपदेश को ग्रहण करने की क्षमता, तदनुसार आचरण करने का संयम और तर्क-वितर्क के द्वारा तत्त्व की बात को जान लेने की निपुणता होनी चाहिए। शौर्य, अमर्ष, शीघ्रता और दक्षता, ये चार बातें उसके उत्साह में होनी चाहिए। इन बातों के साथ-साथ उसमें वे सभी बातें भी होनी चाहिए, जिनके कारण वह विराट् प्रजा के उच्चादर्शों को जान सके और अपने उन्नत गुणों को प्रजा में क्रियान्वित कर सके। राजा के चरित्र की यह सम्पदा (पूंजी) है।

अपने आचरण को विशुद्ध बनाए रखने के लिए राजा को जितेन्द्रिय होना चाहिए। उसको वृद्धजनों का सहवास करना चाहिए। उसको परस्त्री, परधन और हिंसा आदि कार्यों से सदा दूर रहना चाहिए। अधिक शयन करना तथा लोभ, मिथ्या-व्यवहार, एवं अनर्थकारी कार्यों को त्याग देना चाहिए। अधर्मकारी तथा अनर्थकारी कार्यों से उनको दूर रहना चाहिए। धर्म और अर्थ को क्षति न पहुँचाने वाले काम का सेवन करना चाहिए। यदि वह धर्म, अर्थ और काम इन तीनों में से किसी एक का अधिक सेवन करता है तो अपने लिए वह नाशकारी अनर्थ को पैदा करता है।

कौटिल्य का सुझाव है कि राजा के आचरण पर ही उसके कर्मचारियों का आचरण निर्भर करता

है। यदि वह प्रमादी होगा तो उसके कर्मचारी भी प्रमाद करने लगेंगे और यह भी असम्भव नहीं कि प्रमादी राजा के कर्मचारी उसके शत्रु से सन्धि करके एक दिन उसका सर्वस्व ही समाप्त कर डालेंगे। इसके विपरीत यदि राजा उदार, परिश्रमी और विवेकशील होगा तो उसका सा‌रा भृत्यवर्ग उसके इन गुणों को अपनाएगा। इसलिए, कौटिल्य का कहना है कि उक्त बातों का ध्यान रखकर राजा को चाहिए कि यत्नपूर्वक सावधानी से वह अपनी उन्नति की ओर सचेष्ट रहे।

राजा की कार्य व्यवस्था नियमित ढंग से संचालित होती रहे, इसके लिए कौटिल्य ने रात और दिन को दो भागों में विभक्त कर प्रत्येक भाग को आठ-आठ उप-भागों में बाँट दिया है। ब्रह्ममूहूर्त में उठने के बाद रात्रि में शयन-पर्यन्त राजा को किस समय क्या कार्य करना चाहिए, इसका कौटिल्य ने ब्यौरेवार विवरण दिया है। राजा के प्रमुख कर्त्तव्य हैं—यज्ञ, प्रजापालन, न्याय, दान, शत्रु-मित्र से उचित व्यवहार, विभिन्न विषयों के प्रकांड विद्वानों को उनके उपयुक्त स्थानों पर नियुक्त करना। इसी को अच्छी नीति (सुशासन) कहा गया है। और ऐसी नीति के अनुसार आचरण करने वाले राजा की सभी विघ्न-बाधाएँ दूर होकर उसकी उन्नति एवं कल्याण होता है।

प्रमुख सेनापति के रूप में सैनिकों की नियुक्ति सेना की व्यवस्था, विग्रह तथा संधि का दायित्व राजा पर ही होता था। कौटिल्य ने कहा है कि बाह्य तथा भीतरी कठिनाइयों को दबाने के लिए राजा को कोष और सेना अपने अधिकार में रखनी चाहिए। भीतरी शत्रुओं और बाह्य आक्रमण से अपने राज्य को सुरक्षित रखना राजा का प्रमुख कर्त्तव्य कहा गया है। कौटिल्य ने राजा को धर्म अथवा न्याय का स्रोत माना है। उसने न्याय के चार पैर बताये हैं—धर्म, व्यवहार, चरित्र और राज्यशासन। राज्यशासन अथवा दण्ड के द्वारा ही राजा समाज में व्यवस्था बनाए रखता है जिस कारण राजा अपने राज्य में रहने वाले लोगों के इहलोक तथा परलोक की रक्षा करने वाला कहा गया है—

दण्डो हि केवलो लोकं परं चेमं च रक्षति।
राज्ञो पुत्रे च शत्रो च यथादोषं समं धृतः॥

इसका अभिप्राय यही है कि राजा लोकहित सुख के लिए दण्ड द्वारा शासन करता था। कौटिल्य ने राजा को दैवी सत्तायुक्त नहीं माना है और दण्ड को योगक्षेम का साधन कहा है।

नैतिक दृष्टि से राज्य में पुरोहित की परम्परागत महत्ता थी। कौटिल्य कहता है कि राजा पुरोहित को पिता एवं स्वामी की भाँति सम्मान दे। राजा को धर्म के अनुसार शासन करने का आदेश देकर कौटिल्य ने राजशक्ति मर्यादित कर दी। उसे पुर, ग्राम, देश तथा सामाजिक संगठनों, श्रेणी, निगम और पूग आदि की विधियों को ध्यान में रखने का आदेश था। शासन-चक्र को परिचालित करने के लिए इनकी नियम-परम्पराएँ भी आधार-रूप थीं। कौटिल्य ने तो भिन्न-भिन्न करों में राजा का भाग तथा जन-हित में होने वाला भाग, दोनों निश्चित कर दिए थे। कर की दर का निर्धारण करने में राजा को क्षेत्र-विशेष की विधि-परम्पराओं को प्रधानता देने का आदेश था। राजा को षड्भाग उसके वेतन के रूप में प्रजा के रक्षणार्थ ही मिलता था। कर के स्वरूप और अंश को तथा कौन-कौन से कर राजा किन-किन कार्यों पर व्यय कर सकता है, यह निश्चित कर कौटिल्य ने राज-शक्ति पर व्यावहारिक प्रतिबन्ध लगा दिए।

राजा नहीं प्रजा का हित प्रधान था। प्रजा के साथ राजा का व्यवहार पिता-तुल्य होने का आदेश था। राजा को जनमत को जानने के लिए चेष्टाभिमुख रहना पड़ता था। कौटिल्य ने कहा है कि गुप्तचर लोग नगर या राष्ट्र में फैली हुई राज-चर्चा का पता लगाते रहें और असंतुष्टों को राजा धन-दान या शान्ति के उपायों से संतुष्ट करें।

तात्पर्य यह है कि राजा ही राज्य है। राज्य की समस्त सत्ता उसी में केन्द्रीभूत है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए भी कौटिल्य ने शास्त्रांकित उन सभी राजसत्ता-प्रतिरोधी तत्वों को स्वीकार ही नहीं किया प्रत्युत् उनके क्रियान्वयन की व्यावहारिक युक्तियों की भी परिव्याख्या की।

14.5.2 मंत्रिपरिषद्

कौटिल्य यद्यपि राजतंत्र शासन प्रणाली का समर्थक रहा है, जिसमें राजा ही एकमात्र कर्त्ता-धर्त्ता होता है, किन्तु मंत्रिपरिषद् की अनिवार्यता को उसने भी माना है। उसका कहना है कि राजा को अपने प्रत्येक महत्वपूर्ण कार्य मंत्रिपरिषद् के परामर्श से करने चाहिए और संदिग्ध या विवादग्रस्त विषयों में जो बहुमत द्वारा समर्थित हो, उसी के अनुसार कार्य करना चाहिए। (अर्थशास्त्र पृष्ठ 47)

सम्पूर्ण प्रजा, सारा राज्य और यहाँ तक कि राजा भी मंत्रिपरिषद् पर निर्भर हैं। अर्थशास्त्र की दृष्टि से मंत्री के बिना राजा का कोई अस्तित्व नहीं है। राजा और मंत्री के पारस्परिक संबंध और राज्य के लिए उनकी क्या आवश्यकता है, इसकी चर्चा करते हुए कौटिल्य ने लिखा है कि राजा और मंत्री साम्राज्यरूपी शकट के दो पहिए हैं, जिसके बिना वह राज्य-शकट आगे नहीं बढ़ सकता है। (अर्थशास्त्र पृष्ठ-19) मंत्री ही राजा का ऐसा सहायक है, जो विपत्ति के समय उसकी रक्षा और प्रमाद के समय उसको सावधान करता है।

मंत्रिपरिषद् की योजना का मुख्य उद्देश्य है प्रत्येक राजकीय समस्या पर विचार करना और राज्य की उन्नति के लिए योजनाएँ बनाना। सभी राजकार्यों को मंत्रणा के बाद ही क्रियान्वित करने का कौटिल्य ने विधान किया है। इस मंत्रणा को राजा एकाकी नहीं कर सकता। अकेले में विचारित कार्य-क्रमों की सफलता संदिग्ध होती है। इसलिए समुचित परामर्श के लिए मंत्रिपरिषद् की अनिवार्यता स्वयं सिद्ध है।

कौटिल्य का कहना है कि अज्ञात विषय को जान लेना, ज्ञात विषय का निश्चय करना, निश्चित विषय को स्थायी रूप देना, मतभेद हो जाने पर संशय का निराकरण करना, किसी विषय का आंशिक ज्ञान होने पर ही उस सारे विषय को हृदयंगम करना, ये सभी कार्य मंत्रिपरिषद् के अधीन होते हैं। इसलिए मंत्रियों का अत्यन्त बुद्धिमान होना आवश्यक है। (अर्थशास्त्र, पृष्ठ 44)

किसी भी सुविचारित गुप्त विषय के रहस्य को सुरक्षित रखने के लिए कौटिल्य ने बड़ा जोर दिया है। कौटिल्य का कहना है कार्यान्वित होने से पहले ही किसी गुप्त योजना का फूट जाना, राजा और मंत्रिपरिषद् दोनों के लिए अनिष्ट का कारण हो सकता है। इसलिए मंत्र की सुरक्षा के लिए पहली आवश्यकता यह है कि मंत्रणा–गृह अत्यन्त सुरक्षित हो। दूसरे, राजा तथा उसके परिषद् इतने संयमी एवं विचारवान् होने चाहिए कि उनकी किसी चेष्टा से उनके गुप्त रहस्यों का भेद प्रकट न हो सके। मंत्र की सुरक्षा के लिए तीसरी आवश्यकता इस बात की है कि मंत्रणा में भाग लेने वाला कोई भी व्यक्ति मादक वस्तुओं का सेवना न करता हो। (अर्थशास्त्र, पृष्ठ 43&44)

कौटिल्य ने मंत्र के पाँच अंग बताए हैं : कार्य आरम्भ करने का तरीका, योग्य पुरुषों का सहयोग तथा द्रव्य-संचय, देश तथा काल का विचार, अनर्थों से आत्मरक्षा और अपनी अभीष्ट सिद्धि का विचार।

मनु और कौटिल्य दोनों इस बात से सहमत हैं कि राजा को चाहिए कि पहले वह सब मंत्रियों से अलग-अलग परामर्श करे और तब उन सबको एक साथ बैठाकर उनके साथ विचार करें। मंत्रिपरिषद् में मंत्रियों की संख्या के बारे में कौटिल्य ने कहा है कि परिषद् में मंत्रियों की संख्या इतनी ही होनी चाहिए जिससे वे सभी कार्यों को सफलता पूर्वक सम्पादन करते हुए राज्य की उन्नति करते रहें। अर्थशास्त्र के अनुसार मंत्री, पुरोहित, सेनापति और युवराज मंत्रिपरिषद् के प्रमुख चार सदस्य बताए हैं।

मंत्रिपरिषद् वस्तुतः राष्ट्रपरिषद् थी। उसके कार्यों की सीमा मंत्रियों तथा राजा तक ही सीमित नहीं थी, अपितु वह सारे राष्ट्र के कार्यों, विभिन्न विभागीय अध्यक्षों की रीति-नीति को निर्धारित करने

वाली परिषद् थी। उसका अधिकार क्षेत्र बहुत व्यापाक था। प्रमुख राज्यधिकारियों को कौटिल्य ने 18 तीर्थों में व्यवस्थित किया है।

कौटिल्य के अनुसार मंत्री और अमात्य दो भिन्न पद थे और अमात्य की अपेक्षा मंत्री का पद बड़ा था। मंत्री, मंत्रिपरिषद् का सदस्य भी होता था और राजा को भी सुझाव दे सकता था; जबकि अमात्य मंत्रिपरिषद् का सदस्य तो होता था, किन्तु उसको मंत्रिपद प्राप्त करने का अधिकार नहीं था। कौटिल्य की विवेचन प्रणाली से हमें यह भी विदित होता है कि मंत्रिपरिषद् के निर्णय बहुमत पर आधारित थे। बहुमत द्वारा स्वीकृत-समर्थित कार्यों को ही कौटिल्य ने क्रियान्वित करने का विधान किया है।

14.5.3 नागरिक प्रशासन

नागरिक प्रशासन की चर्चा मेगस्थनीज तथा कौटिल्य दोनों ने की है। अर्थशास्त्र में उन समितियों का वर्णन नहीं है जिनकी चर्चा मेगस्थनीज ने की है। फिर भी समितियों के सभी कार्यों का वर्णन अर्थशास्त्र में है। मेगस्थनीज की चौथी समिति वाणिज्य तथा व्यापार से संबंधित है। अर्थशास्त्र में यह कार्य पणअध्यक्ष करता है।

मेगस्थनीज की छठी समिति का कार्य कौटिल्य का शुल्काध्यक्ष करता है। नागरिक प्रशासन का अध्यक्ष नागरिक कहलाता था। गोप का कार्य जन्म एवं मृत्यु का पंजीकरण करना था। यह मेगस्थनीज के तृतीय समिति का कार्य था। अर्थशास्त्र में नागरिक प्रशासन के अन्तर्गत बहुत सी गतिविधियों और उनसे संबंधित नियमों का भी वर्णन है तथा उन नियमों के पालन न करने पर दंड की भी चर्चा हैं। इसमें सम्मिलित थे—स्वच्छता और जलस्रोत, मिलावट की रोकथाम, सराय तथा यात्रियों के ठहरने के स्थानों की देखरेख, आग से सतर्कता। कानून लागू करने वाले कानून के ऊपर नहीं थे। नागरिक को प्रतिदिन उदक स्थानों (पानी के स्थान), मार्गों, गुप्त-पथों, दुर्गों, दुर्ग की दीवारों और सुरक्षा के अन्य साधनों का निरीक्षण करना होता था। रात को होने वाली समस्त घटनाओं की सूचना वह राजा को देता था। इसका एक दूसरा कार्य यह भी था कि किसी की खोई हुई वस्तु अगर मिल जाती थी तो उसे वह अपनी देखरेख में रख लेता था। इस प्रकार नगर के महत्वपूर्ण कार्यों के सम्पादन का दायित्व नागरिक पर था।

मेगस्थनीज ने नगर अधिकारियों को 'आस्टिनोमाय' कहा है। नगर के शासन के लिए ये अधिकारी छह समितियों में विभक्त थे। प्रत्येक समिति में पाँच सदस्य होते थे। प्रथम समिति औद्योगिक शिल्पशाला का निरीक्षण करती थी। सूत, स्वर्ण, लौह तथा शस्त्र-निर्माण आदि उद्योग नगर-शासन से संबंधित थे। कौटिल्य की योजना में ये उद्योग क्रमशः सूत्राध्यक्ष, सौवर्णिक, लौहाध्यक्ष, आयुधागाराध्यक्ष के नियंत्रण में सम्पन्न किए जाते थे। पुनः ये सभी अध्यक्ष नागरिक के संरक्षण में कार्य करते थे। मेगस्थनीज की दूसरी समिति नवागन्तुकों को देखभाल करती थी। यह कार्य अर्थशास्त्र में नागरिक करता था। चौथी तथा छठी समितियों का वर्णन ऊपर हो चुका है। पाँचवी समिति तौल-बाट, निर्मित वस्तु का विक्रय तथा नई एवं पुरानी वस्तुओं के विक्रय-मूल्य के अन्तर आदि का निरीक्षण करती थी। ये सभी कार्य कौटिल्य के पौतवाध्यक्ष तथा पण्याध्यक्ष के नियंत्रण में था।

कौटिल्य के समय तक नगरों का समुचित विकास हो चुका था। देश में उनकी संख्या बहुत थी। अर्थशास्त्र में व्यापार, व्यवसाय एवं विभिन्न उद्योगों की जिस मर्यादित व्यवस्था का विवरण दिया गया है, उसका स्वाभाविक निष्कर्ष यह है कि उस समय नगरों का बाहुल्य था और अधिकारी तंत्र उनके शासन का एक विशेष आधार था।

14.5.4 सेना

अर्थशास्त्र में कहा गया है कि हिमालय से समुद्रान्त तक एक हजार योजन विस्तार का देश चक्रवर्ती (चन्द्रगुप्त से अभिप्राय है) का है। (क्षेत्र हिमवत्समुद्रान्तरमुदीचीनं योजन-सहस्रपरिमाणं तिर्यक् चक्रवर्तिक्षेत्रम्) निःसन्देह इस महान क्षेत्र की दिग्विजय बिना एक विशाल, सुसंगठित,

सुशिक्षित, सुसंयमित और सुसंचालित सेना के सम्भव न थी। अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने कोष और दण्ड या बल को बहुत महत्व दिया है। क्योंकि कोष से ही बल (दण्ड) अथवा सेना खड़ी की जा सकती थी और सेना की शक्ति से राजा साम्राज्य का विस्तार करता हुआ देश को बाहरी और भीतरी शत्रुओं से सुरक्षित रख सकता है। कौटिल्य ने वश्य विक्षिप्त (अनेक स्थानों में विघटित) सैन्य से अधिक श्रेयस्कर अपने पास स्थित सेना को बताया है (Standing Army)। कौटिल्य का मानना है कि अवश को तो 'वश' किया जा सकता है लेकिन यत्र-तत्र बिखरी (विक्षिप्त) सेना को एकत्र करना कठिन होता है। चन्द्रगुप्त के पास एक विशाल सेना थी। सेना का प्रबन्ध कितना सुव्यवस्थित और संगठन व प्रशिक्षण कितना सुसंचालित था, यह मेगस्थनीज और अर्थशास्त्र के विवरण से प्रकट हो जाता है।

मेगास्थनीज के अनुसार सेना की विभिन्न शाखाएँ थीं जैसे-पैदलसेना, घुड़सवार सेना, हाथी, रथ, यातायात और नौसेना। प्रत्येक शाखा की देखरेख पाँच सदस्यों की एक समिति करती थी। कौटिल्य चतुरंगबल को (पैदल सेना, अश्वरोही सेना, रथ और हाथी) सेना का मुख्य अंग बताते हैं। अर्थशास्त्र के अनुसार सेना के प्रत्येक विभाग का पृथक् अध्यक्ष होता था जैसे पत्याध्यक्ष (पैदल सेना का अध्यक्ष); अश्वाध्यक्ष (अश्व सेना का अध्यक्ष); रथाध्यक्ष (रथ सेना का अध्यक्ष); हस्त्याध्यक्ष (हस्ति सेना का अध्यक्ष)और नवाध्यक्ष (नौसेना का अध्यक्ष)। अर्थशास्त्र में सेना को सामान पहुँचाने और सैनिक आवश्यकताओं को पूरा करने वालों का एक अलग विभाग दिया गया है। यह विभाग विष्टि–कर्म करने वाला कहलाता था। कौटिल्य रचित अर्थशास्त्र से विदित होता है कि सेना के साथ वर्तमान रेडक्रास रुम की भांति एक चिकित्सा विभाग भी रहता था। कौटिल्य के अनुसार पैदल सेना छह वर्गों की थी।

1. मौल - राजा की निजी पैतृक सेना
2. भृतक - पैसा लेकर लड़ने वालों की सेना (वैतनिक 'किराये की सेना')
3. श्रेणी - युद्ध अथवा शस्त्रों से आजीविका कमाने वाले सैनिक
4. मित्रबल - मित्र राज्य की सेना
5. अमित्रबल - शत्रु राज्य में भर्ती की गयी सेना
6. अटवीबल - अटवी प्रदेशों में रहने वाली जंगली जाति के लोगों की सेना

दण्ड अथवा सेना की विवेचना करते हुए कौटिल्य ने मौल अथवा राजा के पास राजधानी में स्थित सेना को सर्वश्रेष्ठ बताया है। सेना में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों के लोग भर्ती किये जा सकते थे; किन्तु कौटिल्य ने समर-कुशल क्षत्रियों की सेना को ही सबसे श्रेष्ठ बतलाया है। सेनापति, नायक, मुखिया तथा अध्यक्ष सेना के अधिकारी थे, जिनका वेतन क्रमशः 48000 पण, 12000 पण, 8000 पण तथा 4000 पण था।

कौटिल्य का कहना है कि युद्धों में राजा की विजय मुख्यतः हाथियों पर निर्भर करती है। (हस्तिप्रधानो हि विजयो राज्ञाम्)। हाथियों की सुरक्षा और पोषण पर बहुत ध्यान रखा जाता था और इसलिए हाथी के मारने वाले को मृत्युदण्ड तक दिया जा सकता था-हस्तिघातिनं हन्युः। हाथियों को इस प्रकार प्रधानता दिए जाने का कारण यह था कि शत्रु के दुर्गम सैन्य-व्यूह और स्कन्धावार का मर्दन करने में बलिष्ठ हाथी ही मुख्यतः उपयोगी सिद्ध होते थे—
परानीकयूहदुर्गस्कन्धावारप्रमर्दना ह्यातिप्रमाणः शरीराः प्राणहरकर्माणो हस्तिन इति। युद्ध के हाथियों को सात प्रकार की सैनिक शिक्षा दी जाती थी, जैसे उपस्थान (ड्रिल करना), संवर्तन (मुड़ना), संयान (आगे बढ़ना) तथा संग्राम (युद्ध करना)। हाथियों की तरह युद्ध के घोड़ों को भी नियमित रूप से सैनिक शिक्षा दी जाती थी। उन्हें बलगन (वृत्ताकार चलना); नीचैर्गत (आहिस्ता चलना), लंघन (लाँघना), धोरण (चौकड़ी भरना), नारोष्ट्र (संकेतों को समझना) आदि सैनिक कार्य सिखलाए जाते थे।

मौर्यकालीन युद्धास्त्रों का विशद् विवरण कौटिल्य रचित अर्थशास्त्र में मिलता ह। अर्थशास्त्र में

अनेक प्रकार के यंत्रों व अस्त्रशस्त्रों का उल्लेख है। इनको स्थिर यंत्र, चल यंत्र, हलमुखानि आयुध, धनुष, प्रत्यांचा-शर, आग्नेयास्त्र, रक्षात्मक अस्त्र अथवा आवरणानि तथा उपकरणानि की श्रेणी में रखा जा सकता है। प्रकाश युद्ध (खुली लड़ाई) से पहले मंत्रयुद्ध और कूटयुद्ध से काम लिया जाता था। मंत्रयुद्ध द्वारा विजेता राजा अन्य राजाओं से मिलकर युद्ध छेड़ने को प्रस्तुत शत्रु-राजा को युद्ध से विरत करने का प्रयत्न करता था। अतः मंत्रयुद्ध से अभिप्राय शत्रुराजा को बहकाना और 'विजेता' के हित में दब जाने की सलाह देना था। यदि वह बहकावे में नहीं आता तो कूटयुद्ध द्वारा काम लिया जाता था, अर्थात् गुप्तरूप से उसके यहाँ गूढ़पुरुष भेजे जाते थे, जो तरह-तरह से शत्रु के पक्ष को हानि पहुँचाकार उसका धन-बल क्षीण कर देते थे।

अभियान के पूर्व राशन और चारा आदि का प्रबन्ध पूरा कर लिया जाता था। मार्ग में पड़ने वाले गाँवों और जंगलों की सूची तैयार कर ली जाती थी। और यह अनुमान लगा लिया जाता था कि वहाँ कितना चारा और राशन आदि सामग्री उपलब्ध हो सकेगी। राशन-चारा आवश्यकता से दूना एकत्रित किया जाता था, ताकि संकटकाल में वह काम आ सके। सेना के लिए आवश्यक सामग्री पहुँचाने के लिए पृथक् प्रबन्ध था।

अभियान के बाद सेना स्कन्धावार में पड़ाव डालती थी। स्कन्धावार के निर्माण हेतु वास्तुविशारद उपयुक्त भूमि चुनता था और नायक, बर्धिक (शिल्पी) और मौहूर्तिक शिविर के योग्य आवश्यक भूमि नाप-जोख लेते थे। स्कन्धावार में कम से कम 4 द्वार, 6 मार्ग, 9 संस्थान (विभाजन) होने आवश्यक थे। शिविर की रक्षा के लिए चारों ओर खाई, प्राकार (दीवार), द्वार और अट्टालिकाएँ बना दी जाती थीं। राजा का स्थान शिविर या निवेश के मध्य में उत्तर की तरफ होता था। राजा के पश्चिम में अन्तःपुर और उसके अन्त में अन्तर्वेशिक सैन्य का निवास होता था। राजा के भवन के आगे देवस्थान, उसके दक्षिणी ओर अर्थ-कोष विभाग के अधिकरण (कार्यालय) और बायीं ओर राजा की सवारी के हाथी, घोड़ों की शाला होती थी।

प्रकाशयुद्ध (खुलायुद्ध) छेड़ने के पूर्व राजा सम्पूर्ण सेना को संग्राम का निर्दिष्ट स्थान और समय बताकर उनके समक्ष भाषण करता हुआ कहता था—'आप और मैं, दोनों वेतनभोगी हैं। इस राज्य का आपको और हमें साथ-साथ उपभोग करना है। अतः आपको मेरे बताए शत्रु का हनन करना है।' उद्बोधन का यह वक्तव्य उस बात को प्रकट करता है कि मौर्यराजा प्रजा को राज्य का सहस्वामी मानते थे व सह-अधिकारी मानते थे और स्वयं को प्रजा का प्रथम भृत्य। इस प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति निश्चय ही जनमत में एक देशीयता अथवा राष्ट्रीयता को उद्दीप्त करने वाली थी। राजा का मंत्री भी सैनिकों को उत्साहित करता हुआ उन्हें यह बतलाता था कि यज्ञ और दान से जो पुण्य होता है, वही पुण्य शूरों को रण में लड़ने और वीरगति प्राप्त करने से मिलता है। उसके साथ-साथ ज्योतिषी व भविष्यवक्ता तथा सेनापति भी अपने-अपने तरीके से सेना को उत्साहित करते थे।

सेना को स्कन्धावार से 500 धनुष की दूरी पर युद्ध के लिए स्थापित किया जाता था। सेना के मुख्य या प्रधान भाग को विभक्त कर शत्रु की दृष्टि से ओझल उपयुक्त स्थान में कर दिया जाता था और शेष सेना संग्राम के लिए सेनापति और नायक द्वारा व्यूहित कर दी जाती थी। मुख्य सेना के एक भाग को सुरक्षित रखने का अभिप्राय निःसंदेह यही था कि उसे ऐसे आवश्यक समय पर काम में लाया जाए, जब रणक्षेत्र में लड़ने वाली सेना थकने पर हो या जब भागते हुए शत्रुदल का पीछा करने की आवश्यकता पड़े।

विजय के पश्चात् विजिगीषु (विजेता राजा) अपने मित्र-राजाओं को शत्रु देश की लूट में पूरी तरह भाग देकर उन्हें परितुष्ट करता था एवं स्वयं लूट का न्यूनांश ग्रहण करता था, ताकि राजमंडल के मित्र राजा उसके पक्ष में बने रहें। विजेता राजा पराजित अथवा मृत शत्रु की भूमि, द्रव्य, स्त्री और बच्चों पर अधिकार नहीं करता था। पराजित राजाओं के राज्य को उन्मूलित किया जाता था या उनको पुनः राज्य देकर अपना अनुवर्ती सामन्त बना लिया जाता था।

मौर्य-युगीन सैनिक-व्यवस्था का उपर्युक्त विवरण उस युग के सैनिक शासन की विशिष्टता,

कुशलता एवं दक्षता का प्रत्यक्ष प्रमाण उपस्थित करता है, जिसके बहुत से सिद्धान्त और प्रयोग आज के लिए भी नूतन एवं व्यावहारिक प्रतीत होते हैं।

14.5.5 न्याय-व्यवस्था

प्रशासन की कोई विधि-प्रक्रिया तभी सफलीभूत हो सकती है जब न्याय-शासन के द्वारा व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों को विवेकपूर्ण बना कर सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखा जाए। अतः कौटिल्य ने न्याय-व्यवस्थापन का भी समयानुकूल सूक्ष्मतम विवेचन ही नहीं किया, अपितु उसके निर्माण-तत्वों की व्याख्या भी दी है। राजा प्रधान न्यायाधीश था। दण्ड राज्य का एक अनिवार्य तत्व माना गया है। दण्डधारी राजा धर्म संरक्षक था, अर्थात् वर्ण तथा आश्रम धर्मों का पालन करवाना राजधर्म के अन्तर्गत था। धर्म के साथ प्रजा की रक्षा करना राजा का धर्म कहा गया है। इस स्थापित धर्म का परिवहन राजा अपनी दण्ड-शक्ति अथवा न्याय-धर्मों के आदेश के द्वारा ही करवा सकता था। अतः कौटिल्य ने राज-शासन अथवा राज्य-विधि को धर्मशास्त्रीय निर्देशों से भिन्न सर्वथा लौकिक स्वरूप में सर्वोच्चता प्रदान की। उसका कथन है कि किसी विवाद के निर्णय के चार साधन हैं—धर्म, व्यवहार, चरित्र और राज-शासन। इनमें अंतिम राजशासन सर्वाधिक बलवान् हैं, क्योंकि दण्ड के द्वारा ही राजपुत्र भी दंडित किए जाते हैं। राज-शासन को भी कौटिल्य ने न्याय पर आश्रित कर दिया। न्याय-आश्रित विधि-धर्म की यह धारणा धर्मशास्त्रीय परम्परा के ही क्रम में है। भिन्नता यह है कि धर्मशास्त्रों में विधि के औचित्य या परिवर्तन में राज-शक्ति का उतना महत्व न था जितना प्रथा-परम्परा और रीतिरिवाजों का। कौटिल्य कहता है कि यदि न्याय धर्म के सम्मुख प्रचलित परम्परा या व्यावहारिक शास्त्र का विरोध हो तो धर्म ही प्रधान है, जहाँ पर धर्म के विषय में ग्रंथ का न्याय से विरोध हो, ऐसे स्थान पर न्याय ही प्रमाण है क्योंकि ग्रंथ के पाठ नष्ट हो सकते हैं। इस प्रकार राज्य-विधि सर्वोपरि थी। पर उसका आधार तर्काश्रित न्याय होना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि न्याय के आधार पर स्थापित धर्मों को स्वीकृति देते हुए विधि का निर्माण। कौटिल्य इसी आधार पर राजा को धर्म-प्रवर्तक कहता है।

स्थापित धर्मों तथा विधि की इसी अवधारणा पर न्याय-शासन अवलम्बित था। कौटिल्य ने दो तरह के न्यायालयों का उल्लेख किया है—धर्मस्थीय और कण्टकशोधन। धर्मस्थीय (व्यवहार) न्यायालय में छह न्यायाधीश होते थे—तीन धर्माध्यक्ष (स्थापित धर्म एवं विधि-कानून के विज्ञ) और तीन अमात्य।

इस न्यायालय को राज्य के सीमा-प्रान्त तथा विभिन्न प्रशासकीय केन्द्रों, संग्रहण (दस ग्राम), द्रोणमुख (चार सौ ग्राम), और स्थानीय (आठ-गाँव) के प्रधान-भूत स्थानों पर स्थापित करने की व्यवस्था थी। इस न्यायालय के अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत विवाह, प्रादानिक (दहेज), दायभाग, गृहवास्तुक (अचल सम्पत्ति), वास्तु-विक्रय, ऋण, उपनिधि (धरोहर) दास, कर्मकर, स्वामिसंबंध विक्रय, साहस (डाका) पारुष्य, द्यूत तथा लघु अपराध आदि विवाद के विषय आते हैं।

'विलंबित न्याय विवंचित न्याय' कौटिल्य के सिद्धान्त का मूल था। अतः उसने न्याय-शासन के विकेन्द्रीकरण पर विशेष बल दिया है। साधारण विवाद सामान्यतया स्थानीय संस्थाओं अथवा मध्यस्थों (पंच) के द्वारा तय कर लिए जाते थे। राजा के पास पुनरावेदन करने की मान्यता थी। राजा राज-सभा में नियमित रूप से उपस्थित रहता था, किन्तु उसकी अनुपस्थिति में न्यायकार्य प्राड्विवाक कर लेता था। जाति तथा धर्म संबंधी अपराध की परिषद् द्वारा अन्वीक्षा (विचार) कर ली जाती थी। कोटिल्य का कथन है कि दो गाँवों के बीच सीमाओं के विवाद का निर्णय पाँच या दस पड़ोसी (सामन्त) गाँवों के द्वारा और खेतों के विवाद का निर्णय पड़ोसी (सामन्त) ग्रामवृद्धों के द्वारा होना चाहिए और सब तरह के विवादों (मुकदमों) का निर्णय पड़ोसी (सामन्त) कर सकते हैं।

दण्ड-विधान का प्रशासन कष्टक-शोधक न्यायाधिकरण द्वारा होता था। इस न्यायालय का कार्य समाहर्ता और तीन प्रदेष्टा अथवा तीन अमात्य द्वारा सम्पादित किया जाता था। उनके कार्यों में

गूढ़पुरुष उनकी सहायता करते थे। इस न्यायालय पर सभी सामाजिक तथा आर्थिक अपराध, चोरी, वध, सन्धिच्छेदन (सेंध), हठात् प्रवेश, कर्मकारों का बहिष्कार आदि कार्य, मूल्य-नियंत्रण के निमित्त व्यावसायिक संघ, माप-तौल में प्रवंचना तथा आपराधिक उदासीनता संबंधी विवादों के निर्णय का दायित्व था। कौटिल्य ने इन अपराधों को कण्टक अथवा प्रजा को पीड़ित करने वाले तत्व कहा है। इन गंभीर अपराधों से जन-रक्षण निर्विकल्प रूप से किया जा सके, इसलिए उसने समाहर्ता को गुप्तचरों की नियुक्ति का आदेश दिया है।

कौटिल्य की न्याय-व्यवस्था में पूर्ण विकसित समाज का चिन्तन है। उसका प्रयास था कि समाज का कोई अवयव न्याय-विधि के अभाव के कारण पीड़ित न हो; सामाजिक भ्रष्टता तथा अनाचार के लिए यथा-सम्भव कम अवसर रहे। मेगस्थनीज ने लिखा है कि स्पष्ट व्यवहार के कारण भारतीयों में विवाद (Cases) बहुत कम होते थे।

14.5.6 जनकल्याण

मेगस्थनीज के वृतान्त और अर्थशास्त्र दोनों से मौर्यकालीन जनोपयोगी सेवाओं के बारे में जानकारी मिलती है। सिंचाई के साधनों की देखरेख के कार्य में राज्य काफी रुचि लेता था, क्योंकि यह आय का एक प्रमुख स्रोत था। अर्थशास्त्र में सिंचाई के भिन्न साधन, जैसे पोखर, बाँध, नहर आदि की चर्चा की गयी है। पानी के सही उपयोग के लिए नियम भी बनाए गए, जिनका पालन न करना अपराध था। राज्य किसानों को स्वयं बाँध बनाने के लिए प्रोत्साहित करता था और उस कार्य के लिए लगान में छूट भी मिलती थी। रुद्रदमन के शिलालेख में चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में दर्शन नामक तड़ाग या झील का हवाला मिलता है। इसे पानी की आपूर्ति के लिए बनाया गया था। अशोक के शिलालेखों के माध्यम से यह ज्ञात होता है कि जनसाधारण और मवेशी दोनों के इलाज के लिए सुविधाएं प्राप्त थीं। राज्य, अकाल और बाढ़ जैसी प्राकृतिक विपदाओं के समय भी नागरिकों की सहायता करता था। अर्थशास्त्र के अनुसार राजा को अनाथ तथा बेसहारा बूढ़ी औरतों की देखरेख करनी चाहिए। जन सुविधाओं का एक पहलू था सड़कों की मरम्मत और सराय बनाना। राज्य अपनी आमदनी का एक भाग जनसुविधाओं पर व्यय करता था। अशोक प्रजा के प्रति पैतृक रवैया रखते थे। इसलिए उनके समय में जनकल्याण खर्च में बढ़ोत्तरी अवश्य हुई होगी। कौटिल्य ने न्याय के साथ दण्ड को बड़ा स्थान दिया है, क्योंकि आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्ड, इन चारों विधाओं में दण्डनीति ही एक ऐसी बलवती विद्या है, जिसके द्वारा शेष तीनों विधाओं का सुविधापूर्वक संचालन किया जा सकता है। वस्तुतः कौटिल्य की दण्डव्यवस्था की योजना का सम्पूर्ण आधार लोककल्याण और लोकरक्षा के निमित्त जान पड़ता है।

14.5.7 अन्य विभाग : गुप्तचर, राजस्व इत्यादि

गुप्तचर विभाग प्रशासन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा था जिसकी चर्चा 2.8 में विस्तार से की गई है। जहां तक राजस्व प्रशासन की बात है, मौर्यकालीन राज्य की आमदनी के अनेक माध्यम थे। कौटिल्य ने उन विभिन्न स्रोतों का वर्णन किया है जिनसे राज्य की आय होती थी। इस विभाग की देखभाल सन्निधाता नामक अधिकारी करता था।

राजस्व के साधन

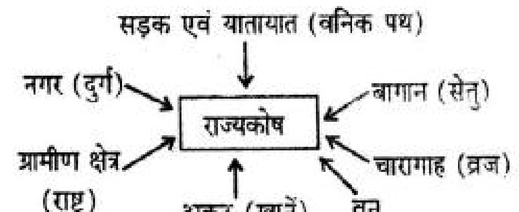

उपर्युक्त स्रोतो से अलग-अलग तरीके से राजस्व वसूल किये जाते थे।

(i) नगरों में आमदनी जुर्माना, बिक्रीकर (शुल्क) आदि से होती थी। इसके अतिरिक्त शराब की बिक्री पर भी कर लगाया जाता था, धनवान लोगों के लिए एक प्रकार का आयकर भी था। अर्थशास्त्र में ऐसे 21 प्रकार के करों का वर्णन है जो शहरों में लगाए जाते थे।

(ii) राज्यभूमि से आमदनी, किसानों से लगान, फलोद्यान का कर, नौका शुल्क आदि ग्रामीण क्षेत्रों में राजस्व के मुख्य स्रोत थे।

(iii) समस्त खानें राज्य के नियंत्रण में थी। यह स्थायी रूप से राज्य की आमदनी का जरिया था।

(iv) सड़क या जलमार्ग से यात्रा करने वाले व्यापारियों पर कर लगाया जाता था।

(v) आयात एवं निर्यात कर, आदि।

कुछ क्षेत्रों में राज्य संबंधित व्यक्तियों से सीधे वसूली करता था। जैसे जुआरियों को अपनी जीती हुई रकम का पांच प्रतिशत राज्य को देना होता था।

इसी प्रकार राज्य अधिकारियों द्वारा वस्तुओं के भार की जांच और उससे संबंधित प्रमाण पत्र हासिल करने के लिए व्यापारियों को शुल्क देना पड़ता था। शस्त्र उद्योग और नमक व्यापार को अपने नियंत्रण में लेने के कारण भी राज्य की आय में वृद्धि हुई। आदमनी को बढ़ाने के लिए राज्य को आपात् स्थिति में कर लगाने का अधिकार था। राजस्व को जमा करने और उसके विधिवत नियंत्रण के लिए कई विभाग भी थे। राजस्व का अधिकतर भाग राज्यकोष में जमा होता था तथा उसी से राजा, सेना, प्रशासन, अधिकारियों के वेतन का खर्च पूरा होता था। राजा को लगान में छूट देने का अधिकार था।

14.6 प्रान्तीय प्रशासन

कौटिल्य ने प्रशासकीय अंगों की भी विशद परिव्याख्या की है। मौर्य राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था अत्यधिक केन्द्रीकृत थी और सारे अधिकार राजा के पास थे। लेकिन किसी बड़े राज्य अथवा साम्राज्य का प्रशासन केन्द्र के द्वारा नहीं किया जा सकता है। प्रधानतः आर्थिक ध्येय से कौटिल्य ने राज्य को कई भागों में विभक्त करने का निर्देश किया है। प्रान्तीय प्रशासन का प्रधान कुमार (राजकुमार) होता था, जो कि प्रान्त का गवर्नर भी था, जिस प्रकार कि राजा बनने से पूर्व अशोक उज्जयिनी या तक्षशिला का राजकुमार था। प्रशासन चलाने में महामात्य (जिसे अशोक के समय में महामात्र कहते थे) और एक मंत्रिपरिषद् कुमार की सहायता करते थे। अशोक के शिलालेखों में हमें चार प्रान्तीय राजधानियों का उल्लेख मिलता है-पूर्व में तोशाली, पश्चिम में उज्जैन, दक्षिण में स्वर्णगिरि तथा उत्तर में तक्षशिला। प्रान्तों में ऐसे भी क्षेत्र थे, जिनका प्रशासन कुछ ऐसे गवर्नर चलाते थे, जिनका चयन स्थानीय आबादी से किया गया था। रुद्रदमन के जूनागढ़ के शिलालेख में तुशस्य का हवाला मिलता है जो अशोक के समय में जूनागढ़ का युवराज था। हालांकि इसी शिलालेख से हमें यह भी पता चलता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में उस इलाके का प्रतिनिधि (राष्ट्रीय) पुष्पगुप्त नामक एक वैश्य था।

मंत्रिपरिषद् का राजा से सीधा सम्पर्क था और वह कुमार की गतिविधियों पर नियंत्रण रखती थी। वरिष्ठ अधिकारी महामात्र कहलाते थे। अर्थशास्त्र में उन्हें मंत्री की भांति समझा गया है। धम्म महामात्र धर्म से संबंधित समस्याओं को देखते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी नियुक्ति राजा या राजकुमार (वायसराय) कोई भी कर सकता था। उच्च अधिकारियों की दूसरी श्रेणी अमात्य की थी। इस श्रेणी को विशेष अधिकार प्राप्त थे।

प्रान्त पुनः चार भागों में व्यवस्थित था। प्रत्येक भाग का चतुर्थांश स्थानिक के नियंत्रण में रखने का विधान था। विभिन्न विभागाध्यक्ष, संख्यायक, लेखक, रूप-दर्शक, नीवी-ग्राहक तथा उत्तराध्यक्ष

(सैनिक अधिकारी) आदि कर्मचारी स्थानिक के कार्यों में सहायता देते थे। स्थानिक तथा गोप को कर-संग्रह में प्रदेष्टा नामक अधिकारी सहायता करता था। स्थानिक आधुनिक भाषा में जिलाधीश था। प्रदेष्टा सम्भवतः भ्रमण-शील अधिकारी था, जो जिले के स्थानिक के अतिरिक्त अन्य अधिकारियों के कार्यों का निरीक्षण तथा न्यायसंबंधी कार्य करता था। कई ग्राम-समूहों को मिलाकर जिले का निर्माण होता था।

प्रान्तीय शासन के नीचे स्थानीय शासन का संगठन भी महत्वपूर्ण था। प्रान्त अनेक मंडलों में विभक्त थे और प्रत्येक मंडल में बहुत से जनपद होते थे। जनपदों के विभिन्न विभाग होते थे, जिन्हें 'अर्थशास्त्र' में द्रोणमुख, खार्वटिक, संग्रहण और ग्राम कहा गया है।

14.7 जनपद तथा ग्रामीण प्रशासन

इस प्रकार की इकाइयों का प्रशासन नागरिक स्तर पर होता था और उसके संगठन में कई गाँव शामिल होते थे, पर साथ ही साथ प्रत्येक गाँव की अपनी अलग प्रशासनिक इकाई होती थी। कौटिल्य के अनुसार :

जनपद के स्तर पर इस युग में जिन अधिकारियों की चर्चा की गई है इनमें प्रदेष्टा पर जनपद के पूरे कामकाज की जिम्मेदारी थी। अन्य अधिकारियों में 'राजुक' और युक्त आते थे। इन अधिकारियों के कार्य इस प्रकार थे–

(i) भूमि सर्वेक्षण एवं मूल्यांकन

(ii) दौरा एवं निरीक्षण

(iii) राजस्व जमा करना

(iv) कानून और व्यवस्था को बनाए रखना इत्यादि।

आवश्यकता पड़ने पर राजा इन अधिकारियों से सीधा सम्पर्क भी स्थापित करता था। उदाहरण के लिए चौथे स्तम्भ लेख में अशोक राजुक को यह स्वतंत्र अधिकार देता है कि वह जनकल्याण के संबंध में उसके निर्देशों को लागू करे। युक्त छोटे दर्जे का अधिकारी था, जिसका कार्य अन्य दोनों श्रेणियों की सहायता मात्र था।

प्रत्येक श्रेणी के अधिकारियों के प्रभाव पर नियंत्रण और संतुलन भी राजा रखता था। अशोक के शिलालेख ग्रामीण स्तरीय प्रशासन पर कोई प्रकाश नहीं डालते। पर उस प्रकार की इकाई की चर्चा अर्थशास्त्र में अवश्य मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस स्तर के अधिकारी स्थानीय लोग ही थे। उन्हें ग्रामिक कहा जाता था। इस तरह की इकाइयों का ढाँचा स्थानीय परिस्थितियों पर निर्भर करता होगा। पर हमें गोप और स्थानिक के नाम से अधिकारियों की दो श्रेणियाँ मिलती हैं जो जनपद और गाँव के स्तर की प्रशासनिक इकाइयों के बीच मध्यस्थता का काम करता था। उनके कार्य थे,

(i) गाँव की सीमा निर्धारित करना

(ii) जमीन के विभिन्न प्रकार के उपयोग का हिसाब करना

(iii) प्रत्येक की आय और व्यय को दर्ज करना

(iv) कर, राजस्व और जमीन का हिसाब रखना

शासन की दृष्टि से पाँच-पाँच तथा दस-दस ग्रामों के समूह थे। प्रत्येक ऐसे समूह का प्रधान शासनाधिकारी गोप था। अन्य ग्राम्याधिकारी गोप के प्रति उत्तरदायी थे। ग्राम की मालगुजारी तथा अन्य कर आदि राजकीय आय का संग्रह कर गोप स्थानिक को देता था। स्थानिक समाहर्ता के प्रति उत्तरदायी था। प्रत्येक ग्राम स्वायत्त रूप से शासन की निम्नतम इकाई था। ग्राम-शासन ग्राम-प्रधान या अध्यक्ष द्वारा सम्पादित किया जाता था। वह ग्राम-सभा का अध्यक्ष था। यद्यपि

ग्राम-सभा का प्रत्यक्ष उल्लेख अर्थशास्त्र में नहीं है, ग्राम-प्रमुख का निर्वाचन सम्भवतः गाँव के वयोवृद्ध जनों में से किया जाता था। ग्राम-प्रमुख के बहुत अधिकार थे। देश-सैन्य का नियंत्रण, न्याय-कार्य, राजस्व-संग्रह, ग्राम-लेख का बद्धीकरण तथा ग्रामीण जीवन के सभी कार्यों की देख-रेखा उसी की अध्यक्षता में ग्राम-सभा करती थी। ग्राम-सुरक्षा एवं उसकी आन्तरिक सुव्यवस्था को स्थिर रखना उसका प्रमुख दायित्व था।

गाँव की इस स्वायत्तता के बाद भी गाँव के विकास के निमित्त कौटिल्य के अनुसार राज्य अनेक कार्य करता था। आयकर-संबंधी कार्य, वृक्षारोपण, जल और थलमार्गी यातायात की सुविधा प्रदान करना तथा सेतु-निर्माण आदि कार्य राज्य करता था। ग्राम में प्रमुख राज्य-अधिकारी स्थानिक और गोप थे। इन अधिकारियों के अतिरिक्त ग्राम्य जनता अथवा नागरिकों को भी स्वच्छता रखने, दैवी-प्रकोप अथवा दुर्घटना आदि से आत्मरक्षा के लिए प्रस्तुत रहने का आदेश था। नवागन्तुक की सूचना संबंधित अधिकारियों को देना गृह-स्वामियों का कर्तव्य था। ग्रामवासियों और ग्राम्याध्यक्षों के कार्यों की देखरेख के लिए गुप्तचर नियुक्त किए जाते थे। इस प्रकार ग्राम छोटे-छोटे प्रजातंत्र थे।

14.8 गुप्तचर-व्यवस्था

अपनी सीमाओं और प्रतिबन्धों में भी राजा की सत्ता राज-व्यापी थी। उसके कार्य विपुल थे, जिनका सफल सम्पादन एक सुगठित शासन-तंत्र के आधार पर ही किया जा सकता था, अतः कौटिल्य ने प्रशासन की एक वृहद् एवं विशद् योजना दी, जो समाज की जटिल तथा बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। राजा अकेले किसी विशाल साम्राज्य का शासन-कार्य नहीं कर सकता। उसकी सहायता के लिए कौटिल्य ने एक विनियमित शासन-तंत्र की व्यवस्था दी। सुसंगठित गुप्तचर विभाग इसी शासन-तंत्र का महत्वपूर्ण अंग था।

मौर्य शासन-व्यवस्था में गुप्तचरों को गूढ़पुरुष भी कहा गया है। एरियन ने इन्हें ओवरशियर और स्ट्रेबो ने इंस्पेक्टर या EPHORI नाम से संबोधित किया है। जूनागढ़ शिलालेख के राष्ट्रीय और अर्थशास्त्र के 'प्रदेष्टा' या गूढ़पुरुष गुप्तचर के ही पर्याय हैं।

14.8.1 कार्य तथा प्रकार

राजपुरुषों-अधिकारियों, बाह्य तथा आन्तरिक शत्रुओं की गतिविधियों का पता लगाना, मंत्रियों पर नजर रखना, सरकारी कर्मचारियों की गतिविधियों की खबर रखना, आम जनता की भावनाओं को जानना, विदेशी शासकों की गुप्त गतिविधियों का पता लगाना तथा संबंधित प्राप्त सूचनाओं को राजा तक पहुँचाने का काम गूढ़पुरुषों का था। राजा शासन-कार्य मंत्रियों, अमात्यों एवं विभागाध्यक्षों की सहायता से सम्पादित करता था। किन्तु इन सब पर उसका नियंत्रण आवश्यक था। अधिकार तो उन्हें बहुत थे, पर वे अधिकारों का दुरुपयोग कर प्रजा के अधिकारों का अपहरण न कर सकें, इसके लिए कौटिल्य ने गुप्तचर व्यवस्था दी है। इस विभाग के कार्य-क्षेत्र का प्रसरण मंत्री, पुरोहित, युवराज, समस्त राज पदाधिकारी, अन्तःपुर तथा जन-सामान्य तक परिमित था। राजद्रोहियों को छद्म रूप से हनन कर देना उनका परम कर्तव्य था। अन्य पदाधिकारियों की भांति ये भी वेतन-भोगी थे। इनकी नियुक्ति अमात्य वर्ग की परीक्षा, तीर्थ नाम के उच्च अधिकारियों के बाह्य और आभ्यान्तर कार्यों और शत्रु, मित्र, मध्यम और उदासीन राज्य की गतिविधियों की जानकारी के लिए होती थी।

'एवं शत्रौ च मित्रे च मध्यमे चावपेच्चरात्।

उदासीने च तेषां च तीर्थेष्वष्टादशस्वपि॥

उनकी नियुक्ति विश्वनीय तथा शुद्ध अमात्यों के मंत्रणानुसार राजा स्वयं करता था। (उपधाभिः शुद्धामात्यवर्गो गूढ़पुरुषानुत्पादयेत्)

गुप्तचरों को निरीक्षक अथवा सर्वेक्षक के तौर पर काम करते हुए नहीं बताया गया है। उनका काम उन लोगों में घुलमिल जाना है जिन पर जासूसी करनी है और व्यवसाय के सदस्यों से इतना घनिष्ठ संबंध पैदा करना है ताकि वे मामले की तह तक पहुँच सकें। अतः यह सुझाव दिया गया है कि गुप्तचरों को कपटी शिष्य, साधु, गृहस्थ, व्यापारी, योगी, विद्यार्थी, भिक्षार्थी, स्त्री तथा वेश्या के वेश में काम करना चाहिए। गुप्तचरों का ऐसा समूह समाज के बहुत से भागों में काम कर सकता था। इस काम में गोपनीयता पर बल देना स्वाभाविक ही है। गुप्तचर जनता से ही नहीं एक दूसरे से भी अपरिचित हैं। यह स्पष्ट किया गया है कि गुप्तचर संस्था के अधिकारियों को सक्रिय गुप्तचरों की जानकारी नहीं होनी चाहिए और उन्हें लिखकर आदेश देना चाहिए। गुप्तचर व्यवस्था का प्रयोग अपराधों का पता लगाने में ही नहीं अपितु देश में लोकमत जानने के लिए भी किया जाता था। गुप्तचर विदेशों में भी भेजे जाते थे, जिस तरह विदेशी गुप्तचर स्वदेश में सक्रिय थे।

अर्थशास्त्र में विशाल और व्यापक पैमाने पर जासूसों तथा उकसानेवालों का निरंतर इस्तेमाल करने का सुझाव दिया गया है, जिसका एकमेव उद्देश्य था - राज्य की सुरक्षा और लाभ। समूचे ग्रंथ में नैतिकता-संबंधी गूढ़ सवालों को न कहीं उठाया गया है, न ही उन पर विचार किया गया है। राजा के गुप्तचर, आवश्यक़ता पड़ने पर हत्या, विष-प्रयोग, मिथ्यारोपण और अंदरुनी तोड़-फोड़ का बाकायदा और बेझिझक इस्तेमाल कर सकते थे। साथ ही, जनसाधारण के लिए कानून व व्यवस्था का जो आम तंत्र था, उसका अत्यन्त सतर्कता एवं कठोरता से पालन होता रहा। ऐसे राज्य का सुदृढ़ आधार केवल इसका प्रशासनिक ढांचा ही हो सकता था, और उस पर भी गुप्तचरों की कड़ी निगरानी जरुरी थी। घूसखोर राज्य-कर्मचारियों की जांच के तमाम उपाय बताने के बाद चाणक्य निराशापूर्वक स्वीकार करता है कि अधिकारी ने कितना राजस्व हजम किया, यह पता-लगाना उतना ही कठिन है जितना कि यह बताना कि तैरती मछली कितना पानी पी गई।

चूँकि समाज में अनेक वर्ग और उन वर्गों में भी अनेक उपवर्ग होते हैं। इसलिए, समाज के ओर-छोर तक के छिद्रों का पता लगाने वाले गुप्तचरों के तौर-तरीके में भी विविधता का होना स्वाभाविक-सा है। इस दृष्टि से कौटिल्य ने कार्य भेद से गुप्तचरों के नौ विभाग किए हैं, जिनके नाम हैं—

(i) कापटिक, (ii) उदास्थित, (iii) गृहपतिक, (iv) वैदेहक, (v) तापस

(vi) सत्री, (vii) तीक्ष्ण, (viii) रसद और (ix) भिक्षुकी

ये सभी दो भागों में विभक्त थे–

(i) संस्था एवं (ii) संचार

संस्था— इस प्रकार के गुप्तचर एक निश्चित स्थान में रह कर कार्य करते थे। इसके अन्तर्गत कापटिक, उदास्थित, गृहपतिक, वैदेहक और तापस (पञ्च संस्था प्रकार्तिताः) को रखा गया है।

संचार— जैसे इस शब्द से ही स्पष्ट है-इस प्रकार के गुप्तचर देश-विदेश में यत्र-तत्र घूमते रहते थे। इस श्रेणी में स्त्री गुप्तचर भी थीं। संचार श्रेणी में सत्री, तीक्ष्ण, परिव्राजिका (मुण्डा-वृषली) तथा रसद, रसदाः की गणना की गयी है।

14.8.2 गुप्तचरों की नियुक्ति (स्थायी गुप्तचर 'संस्था')–

कौटिल्य के अनुसार धर्मोपधा आदि उपायों के द्वारा अमात्य-वर्ग की परीक्षा कर लेने के अनन्तर राजा को गुप्तचरों की नियुक्ति करनी चाहिए। दूसरों के रहस्यों को जानने वाला, बड़ा प्रगल्भ (दबंग) और विद्यार्थी की वेष-भूषा में रहने वाला गुप्तचर 'कापटिक' कहलाता है। मंत्री को निर्देश दिया गया है कि ऐसे गुप्तचर को धन, मान तथा सत्कार देकर उसे संतुष्ट रखे और जानकारी ग्रहण करे। बुद्धिमान, सदाचारी, संन्यासी के वेश में रहने वाले गुप्तचर का नाम 'उदास्थित' है।

ऐसे गुप्तचर को निर्देश हैं कि वह अपने साथ रह रहे विद्यार्थियों से कार्य करवाए जहाँ कृषि, पशुपालन एवं व्यापार के लिए भूमि नियुक्त हो। बुद्धिमान, पवित्र हृदय और गरीब किसान के वेश में रहने वाले गुप्तचर को 'गृहपतिक' कहते हैं। उसे कृषिकार्य के लिए नियुक्त भूमि में जाकर 'उदास्थित' गुप्तचर की तरह कार्य करने का निर्देश हैं। बुद्धिमान, पवित्र हृदय, गरीब, व्यापारी के वेश में रहने वाले गुप्तचर को बैदेहक कहा गया है। उसे भी उदास्थित की भांति कार्य करने को कहा गया है। जीविका के लिए सिर मुँड़ाए या जटा धारण किए हुए, राजा का कार्य करने वाले गुप्तचर को तापस कहा गया है। ये लोग तपस्वी का ढोंग रचकर आम लोगों का विश्वास जीतकर उनसे जानकारी हासिल कर राजा को भेजते थे। अर्थशास्त्र में कहा गया है, जो लोग किसी कारणवश क्रुद्ध हो गए हों उन्हें धन एवं सम्मान देकर संतुष्ट किया जाना चाहिए। जो बिना कारण ही क्रुद्ध हों तथा राजा से द्वेष रखते हों, उनका चुपचाप वध करवाने का निर्देश है।

14.8.3 गुप्तचरों की नियुक्ति (भ्रमणशील गुप्तचर 'संचार')–

जो राजा के संबंधी न हों, किन्तु जिनका पालन-पोषण करना राजा के लिए आवश्यक हो; जो सामुद्रिक विद्या, ज्योतिष, व्याकरण आदि अंगों का शुभाशुभ फल बताने वाली विद्या, वशीकरण, इन्द्रजाल, धर्मशास्त्र, शकुनशास्त्र, पक्षिशास्त्र, कामशास्त्र तथा तत्संबंधी नाचने-गाने की कला में निपुण हों वे 'सत्री' कहलाते हैं। राजा को चाहिए कि वह इन सत्री को मंत्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, ड्योढ़ीदार, अन्तःपुररक्षक, छावानी-रक्षक, कलक्टर, कोषाध्यक्ष, कमिश्नर, हवलदार, नगर-मुखिया, खदान-निरीक्षक, मंत्रिपरिषद् का अध्यक्ष, सेना-रक्षक, दुर्गरक्षक, सीमारक्षक और अटवीपाल आदि अधिकारियों के समीप, वेश, बोली, कौशल, भाषा तथा कुलीनता के आधार पर उनकी भक्ति और उनके सामर्थ्य की परीक्षा करके, तब नियुक्त करे।

अपने देश में रहने वाले ऐसे व्यक्ति, जो द्रव्य के लिए अपने प्राणों की भी परवाह न करके हाथी, बाघ और साँप से भी भिड़ जाते हैं, उन्हें 'तीक्ष्ण' कहते हैं। इनका कर्त्तव्य है कि ये छत्र, चामर, व्यजंन, पादुका, आसन, शिविका (पालकी) और घोड़े आदि बाहरी उपकरणों की देख-रेख करते हुए अमात्य आदि की सेवा करें और उनके व्यवहारों को जानें।

अपने भाई-बंधुओं से भी स्नेह न रखने वाले, क्रूर प्रकृति और आलसी स्वभाव वाले व्यक्ति 'रसद' (जहर देने वाला) कहलाते हैं। सूद (रसोइया), आरालिक (मांस पकाने वाला), स्नापक (नहलाने वाला), संवाहक (हाथ-पैर दबाने वाला), आंस्तरक (बिस्तर बिछाने वाला), कल्पक (नाई), प्रसाधक (शृंगार करने वाला), और उदक-परिचारक (जल भरने वाला) आदि विभिन्न रूप-नामों में रह कर रसद नामक गुप्तचर, मंत्री आदि उच्च अधिकारियों के भेदों का पता लगाते थे।

आजीविका की इच्छुक, दरिद्र, प्रौढ़, विधवा, दबंग ब्राह्मणी, रनिवास में सम्मानित, प्रधान अमात्यों के घर में प्रवेश पानेवाली 'परिव्राजिका' (संन्यासिनी के वेश में खुफिया काम करने वाली) नाम की गुप्तचरी कहलाती है। इसी प्रकार कुबड़े, बौने, किरात, गूँगे, बहरे, मूर्ख, अन्धे के वेश में गुप्तचर और नट, नाचने-गाने बजाने वाले, कहानी कहने वाले, कूद-फांद कर खेल दिखाने वाले, आदि के वेश में स्त्री गुप्तचर सब रहस्यों का पता लगाने का कार्य करते थे।

सभी गुप्तचरों को अपनी विशिष्ट संकेत-लिपि द्वारा सूचना राजा तक पहुँचानी पड़ती थी। ऐसा करते समय उसे इस बात का ध्यान रखना होता था कि संस्था-गुप्तचरों को संचार-गुप्तचर और संचार-गुप्तचरों को संस्था-गुप्तचर बिल्कुल न जानने पाएं। परस्पर अपरिचित तीन गुप्तचरों द्वारा लाए गए समाचार यदि एक ही तरह के मिलें तो उन्हें ठीक समझना चाहिए। यदि वे परस्पर विरोधी खबरों को लाएँ तो उन्हें या तो नौकरी से अलग कर दिया जाए अथवा चुपचाप पिटवाया जाए।

अर्थशास्त्र में बताया गया है कि समाहर्ता को चाहिए कि वह गुप्त षड्यंत्र कार्यों को जानने के लिए सारे देश में सिद्ध, तपस्वी, संन्यासी, परिवाजक, भाट, जादूगर, स्वेच्छाचारी, यमपट को दिखाकर जीविका-चलाने वाले, शकुन बताने वाले, ज्योतिषी, वैद्य, उन्मत्त, गूँगे, बहरे, मूर्ख,

व्यापारी, कारीगर, नट, भांड, कलवार, हलवाई, पक्का मांस बेचने वाले, और रसोइया आदि के वेष में गुप्तचरों को नियुक्त करे। उन गुप्तचरों को चाहिए कि वे ग्रामीणों तथा ग्राम-प्रधानों की ईमानदारी और बेईमानी का पता लगाएँ। जिन्हें वे गूढ़ाजीवी समझें उन्हें सत्री नामक गुप्तचर के साथ न्यायाधीश (धर्मस्थ) के पास भेज दें। विश्वस्त धर्मस्थ से सत्री यों कहे 'यह मेरा भाई है इसने ऐसा अपराध किया है। इसके इस अपराध को माफ कर दीजिए और इसके बदले में इतना धन ले लीजिए। यदि न्यायाधीश उस धन को लेकर अपराधी को छोड़ दें तो उस पर घूसखोरी का जुर्म लगाकर उसे बर्खास्त किया जाना चाहिए। इसी प्रकार गुप्तचरों के माध्यम से हर प्रकार के दुष्ट लोगों का दमन करने का निर्देश है। इसी प्रकार यदि किसी व्यक्ति पर यह संदेह होता था कि वह जाली सिक्के बनाता है तो कोई जासूस उसके यहाँ नौकरी कर लेता था। यदि यह शंका सही साबित होती थी तो वह उसे पकड़वा देता था और कूट-रूप कारक तथा कूट-सुवर्ण-व्यवहारी होने के अपराध में उसे देश-निकाला दे दिया जाता था।

14.8.4 मंत्रयुद्ध और कूटयुद्ध में गुप्तचरों की भूमिका

प्रकाश युद्ध (खुली लड़ाई) से पहले मंत्रयुद्ध और कूटयुद्ध से काम लिया जाता था। मंत्रयुद्ध द्वारा विजेता राजा अन्य राजाओं से मिलकर युद्ध छोड़ने को प्रस्तुत शत्रु-राजा को युद्ध से विरत करने का प्रयत्न करता था। अतः मंत्रयुद्ध से अभिप्राय शत्रु राजा को बहकाना और 'विजेता' के हित में दब जाने की सलाह देना था। यदि वह बहकावे में नहीं आता तो कूटयुद्ध द्वारा काम लिया जाता था, अर्थात् गुप्तरूप से उसके यहाँ गूढ़पुरुष भेजे जाते थे, जो तरह-तरह से शत्रु के पक्ष को हानि पहुँचाकर उसका धन-बल क्षीण कर देते थे। उदाहरणार्थ विजेता के गुप्तचर शत्रु की प्रजा को शत्रुदेश के शून्यपाल और समाहर्तृ के विरुद्ध उकसाकर उन्हें मरवा डालते थे। शत्रु राजा के पौरवासियों में शत्रु के आक्रमण अथवा खतरे की अफवाहें फैलाकर गुप्तचर अन्तःपुर नगर के द्वार तथा द्रव्य-धान्य के भण्डारों पर नियुक्त वहाँ के रक्षकों को मारकर आग लगा देते थे।

मंत्रयुद्ध अथवा कूटयुद्ध द्वारा विजेता राजा साम और दाम से शत्रु की प्रजा को अपनी ओर आकृष्ट करता था। शत्रु के दुर्ग, राष्ट्र और स्कन्धावार में गुप्तचरों को घुसा कर शस्त्र, विष या अग्नि के प्रयोग से उन पर अधिकार कर लेता था। जंगली लोगों (अटवियों) के द्वारा शत्रु राज्य को घात अथवा हानि पहुँचायी जाती थी आदि।

इसी प्रकार संचार गुप्तचरों द्वारा विजेता राजा संघों में भेद डालकर उनकी शक्ति तोड़ता और उन्हें अपने अधीन कर लेता था। संघ नाम से अर्थशास्त्र में काम्बोज, सुराष्ट्र, क्षत्रिय-श्रेणी, लिच्छविक, व्रजिक, मल्लक, मुद्रक, कुकुर और पांचाल आदि का उल्लेख हैं। ये संघ चन्द्रगुप्त द्वारा विजित कर लिए गए थे। पश्चिम में सुराष्ट्र मौर्य प्रान्त था। पंचाल, पंजाब तथा बिहार मगध के जनपद थे। अतः इन सब जगहों के संघों का मौर्ययुग में लोप हो गया था। संघों में भेद डालने के लिए अनेक प्रकार के संचारगुप्तचर प्रयोग में लाए जाते थे। इस प्रकार मंत्रयुद्ध तथा कूटयुद्ध द्वारा शत्रु को क्षीण करके और आन्तरिक संकटों को दबाने के बाद ही शक्तिशाली विजेता राजा प्रकाशयुद्ध के लिए अभियान करता था।

14.9 सारांश

इस प्रकार हम सब देख सकते हैं कि कौटिल्य की अर्थनीति में गुप्तचरों का स्थान बहुत ऊँचा है। गुप्तचर (खुफिया विभाग) का जैसा एकमात्र उद्देश्य आज अपराधों का पता लगाना माना जाता है, प्राचीन भारत में इस उद्देश्य को नितांत ही गौण समझा जाता रहा है। वस्तुतः गुप्तचरों की आवश्यकता राजनीति के क्षेत्र में इसलिए आवश्यक प्रतीत हुई जिससे शासक को प्रजा के कष्टों, क्लेशों और पीड़ाओं का पता लग सके। प्रजा की सुख शांति में बाधा उत्पन्न करने वालों और राजकीय नियमों के पालन करने-कराने में रोक लगाने वालों का दमन कैसे हो, इसकी सूचना राजा तक पहुँचाना, गुप्तचरों का प्रमुख कार्य था। इन गुप्तचरों के कार्यों का अध्ययन

करने के बाद हमें पता लगता है कि प्राचीन भारत की शासन-व्यवस्था का यह गुप्तचर विभाग कितना उपयोगी और ठोस था। इस विभाग का काम इतनी जिम्मेदारी का होता था कि उसके लिए कर्मचारी राजसेवा के आजमाए हुए लोगों में से, अमात्यों में से भर्ती किए जाते थे। जिनकी निष्कलंकता तथा ईमानदारी हर प्रकार से परख ली जाती थी। उनका संगठन, उनके गुप्त रहस्य और उनकी संकेत-प्रणाली इतनी जटिल, किन्तु इतनी व्यवस्थित थी कि उस समय की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के किस हिस्से में क्या हो रहा है, इसका ज्ञान राजा को गुप्तचरों के द्वारा ही प्राप्त होता था।

14.10 उपयोगी पुस्तकें

1. प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा	डॉ0 लल्लनजी गोपाल
2. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् (हिन्दी व्याख्योपेतम्)	वाचस्पति गैरोला (व्याख्याकार)
3. प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति	प्रो0 अनंत सदाशिव अलतेकर
4. प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता	दामोदर धर्मानंद कोसम्बी
5. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास	ओम प्रकाश
6. चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल	राधाकुमुद मुखर्जी
7. मौर्य साम्राज्य का सांस्कृतिक इतिहास	प्रोफेसर भगवती प्रसाद पांथरी
8. अशोक और मौर्य साम्राज्य का पतन	रोमिला थापर

14.10 संबंधित प्रश्न

लघु उत्तरीय

1. कौटिल्य के अनुसार प्रान्तीय प्रशासन की चर्चा दस पंक्तियों में कीजिए।
2. 'राजुक' तथा 'युक्त' नामक अधिकारियों के कार्यो की विवेचना पाँच पंक्तियों में कीजिए।
3. दस पंक्तियों में राजा और मंत्रिपरिषद् के संबंधों की चर्चा कीजिए।
4. गुप्तचरों के नौ प्रकारों का नाम लिखें—

   (i)_____, (ii)_____, (iii)_____, (iv)_____, (v)_____

   (vi)_____,(vii)_____, (viii)_____, (ix)_____
5. 'संस्था' तथा 'संचार' गुप्तचरों में अन्तर 25 से 30 शब्दो में बताइए।
6. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें।

   (i) अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने .... और .... को बहुत महत्व दिया है।

   (ii) कौटिल्य .... को (पैदल सेना, अश्वरोही सेना, रथ और हाथी) सेना का मुख्य अंग मानते हैं।

   (iii) राजा की निजी पैतृक सेना को .... कहते थे।

   (iv) शत्रु राज्य में भर्ती की गयी सेना को .... कहते हैं।
7. कौटिल्य के अनुसार युद्ध में हाथियों की विशेषता को पाँच पंक्तियों में लिखें।
8. मंत्रयुद्ध और कूटयुद्ध में गुप्तचरों की भूमिका की विवेचना दस पंक्तियों में करें।

दीर्घ उत्तरीय

1. प्राचीन शासन-व्यवस्था में गूढ़पुरुष किसे कहा गया है? कौटिल्य के अनुसार उनके कार्य तथा प्रकार की व्यवस्था पंद्रह पंक्तियों में कीजिए।

2 . प्रशासन को सफल बनाने में न्याय-व्यवस्था की भूमिका पर 20 पंक्तियों में प्रकाश डालें।

वस्तुनिष्ठ

1. निम्न में से कौन सही है :

(i) कौटिल्य के अनुसार राज्य का उद्देश्य जन-हित होना चाहिए।

(ii) चन्द्रगुप्त को धर्मराज के रूप में देखा गया है।

(iii) शासन की सुव्यवस्था हेतु साम्राज्य को प्रान्तों, जनपदों तथा ग्राम में विभक्त करने का निर्देश है।

(iv) 400 गाँवों के संगठन को द्रोणमुख कहते हैं।

(v) राजा साम्राज्य का प्रमुख, न्यायाधीश, धर्म-प्रवर्त्तक तथा सेनापति होता था।

नीचे दिए कूटों में सही उत्तर का चयन कीजिए :

कूट

(a) (i) (ii) और (iv)

(b) (i), (iv), (v) और (ii)

(c) सिर्फ (i) और v

(d) सभी सही हैं।

2. निम्नलिखित में से कौन से कथन सही (✓) या गलत (x) है, निशान लगाइए।

(क) राजा को अपने प्रत्येक महत्वपूर्ण कार्य मंत्रिपरिषद् के परामर्श से करने चाहिए।

(ख) मंत्रियों का अत्यन्त बुद्धिमान होना आवश्यक है।

(ग) कानून लागू करने वाले कानून से ऊपर थे।

(घ) कौटिल्य के अनुसार सेना के प्रत्येक विभाग का पृथक् अध्यक्ष होता था।

(ङ) कौटिल्य ने राज-शासन को न्याय पर आश्रित नहीं बताया है।

(च) अर्थशास्त्र में सिंचाई के विभिन्न साधनों की चर्चा हुई।

(छ) मौर्यकाल में राजस्व विभाग की देखभाल सन्निधाता करता था।

14.12 प्रश्नोत्तर

लघु उत्तरीय

6. (i) कोश, दण्ड या बल (ii) चतुरंग बल (iii) मौल (iv) अमित्रबल

वस्तुनिष्ठ

1. (d) सभी सही हैं।

2. (क) ✓ (ख) ✓ (ग) × (घ) ✓
(ङ) × (च) ✓ (छ) ✓

इकाई -15 मंडल सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

15.0 उदेश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 मण्डल-सिद्धान्त

15.3 कौटिल्य और मंडल सिद्धान्त

15.4 षाड्गुण्य-मंत्र

15.5 उपाय

15.6 दूत

15.7 सारांश

15.8 उपयोगी पुस्तकें

15.9. संबंधित प्रश्न

15.10. प्रश्नोत्तर

15.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप मंडल सिद्धान्त से परिचित होगें एवं निम्न को समझ पाएंगे :

- अन्तर-राज्य संबंधों की परिव्याख्या
- मंडल सिद्धान्त के अनुसार राज्य के प्रकार
- मंडल सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में षाड्-गुण्य मंत्र के महत्व
- उपाय के महत्व, इत्यादि।

15.1 प्रस्तावना

प्राचीन भारत में छोटे-छोटे राज्य थे, कुछ बड़े और साम्राज्य भी स्थापित हुए। उनके बीच पारस्परिक संबंध भी थे शान्तिकाल तथा युद्धकाल दोनों में। लेकिन इन संबंधों को अन्तर्राज्य संबंध ही कहेंगे, अन्तर्राष्ट्रीय नहीं क्योंकि वे सभी एक ही देश व राष्ट्र की विभिन्न इकाइयाँ थे और वे एक दूसरे को विदेशी राज्य अथवा राष्ट्र नहीं मानते थे। इन राज्यों का विदेशी राज्यों से कोई विशेष संबंध न था। अतएव वैदेशिक नीति तथा संबंधों का प्राचीन भारत के राज्यों के संदर्भ में कोई प्रश्न नहीं उठता।

वैदिक कालीन राज्यों के पारस्परिक संबंधों के विषय में हमें बहुत कम जानकारी प्राप्त है, वे राज्य अधिकतर जन-गज्य थे, जिनकी सारी शक्ति अनार्य जातियों पर विजय प्राप्ति में लगी रही। इसलिए प्रायः मैत्रीपूर्ण संबंध ही थे। उत्तर वैदिक काल में कुछ बड़े राज्यों की स्थापना हुई; बौद्ध ग्रंथों में ईसा से लगभग छह शताब्दी पूर्व सोलह महाजनपदों का उल्लेख मिलता है, किन्तु वे भी आज की दृष्टि से आकार में बहुत ही छोटे थे। ये उदाहरण देने का तात्पर्य यह निश्चित करना था कि प्राचीन भारत के राज्यों के बीच संबंध थे, क्योंकि वे जानते थे कि कोई भी राज्य दूसरों से अलग रहकर अपना अस्तित्व स्थिर नहीं रख सकता था।

प्राचीन भारत में अन्तर्राज्य संबंधों को विकसित करने में विभिन्न प्रकार के यज्ञों का महत्वपूर्ण

योग है। प्राचीनकाल में राजाओं का राजा बनने के आकांक्षी शासक के लिए 'अश्वमेध', और 'सम्राट्' पद के अभिलाषी के लिए 'वाजपेय' यज्ञ का विधान था। धीरे-धीरे यह सिर्फ आर्यों के बीच ही नहीं रहा बल्कि आर्य एवं अनार्यों के बीच भी संबंध विकसित हुए, जिसका उदाहरण रामायण, महाभारत आदि में मिलता है।

अपने शासकों की शक्ति और साधन के अनुसार राज्यों का पद भी छोटा-बड़ा होता था। 'स्वराट्', 'एकराट्', 'सम्राट्' और 'अधिराट्' आदि पदवियाँ राजाओं के विभिन्न पदों की सूचक हैं, पर इनकी निश्चित मर्यादा स्थिर करना इस समय कठिन है। 'सम्राट' आदि पदवीधारी राजा निस्संदेह अन्य राजाओं से कुछ उच्च स्थान पर थे।

इस तरह से मंडल सिद्धान्त के अन्तर्गत राज्यों के दरजा, (Status) प्रकार (सम,हीन, बलवान) तथा मान्यताएँ (Recognition), एवं हस्तक्षेप (intervention), तथा युद्ध के कई सुविकसित नियमों की प्रस्थापना भी हुई, जिनकी तुलना वर्तमान के अन्तर्राष्ट्रीय नियमों एवं मान्यताओं से की जा सकती हैं।

15.2 मंडल सिद्धान्त

प्राचीन भारतीय आचार्य जानते थे कि युद्ध का एकदम त्याग कर देना सम्भव नहीं, अतः युद्ध की सम्भावना कम करने के लिए उन्होंने विविध राज्यों के 'मंडल' बनाकर उनमें शक्ति-संतुलन कायम रखने की व्यवस्था की थी। स्मृति और नीति ग्रन्थकारों की प्रख्यात 'मंडल' नीति शक्ति-संतुलन के सिद्धान्त पर आधारित थी। इन आचार्यों ने विभिन्न राज्यों में प्रायः जो संबंध रह सकते हैं उन्हें समझाया। उन्होंने दुर्बल राज्यों को अपने अधिक शक्तिशाली पड़ोसी राज्यों से सावधान रहने की सलाह दी और इनकी विस्तार-नीति से अपनी रक्षा के हेतु अन्य समान या न्यूनाधिक बलवाले राज्यों से मैत्री स्थापित कर ऐसा मंडल बनाने की सलाह दी है जिस पर आक्रमण करने का शत्रु को साहस ही न हो।

प्राचीनकाल में प्रायः एक विजीगीषु या साम्राज्य-संस्थापना चाहने वाला बलिष्ठ राजा रहता था व उसके पड़ोस में दूसरे छोटे-छोटे राजा रहते थे, जो स्वात्तंत्र्य कायम रखने का प्रयत्न करते थे। मंडल सिद्धान्त के अनुसार सामान्यतः एक राज्य अपने पड़ोसी का शत्रु व उसके पड़ोसी का मित्र होता है। यह सिद्धान्त सामान्यतः सत्य है। फ्रांस व जर्मनी, पोलैंड व रुस एवं चीन व जापान में शत्रुत्व क्यों रहता था; इंग्लैंड ने पौलेंड की स्वतंत्रता कायम रखने के लिए उसके साथ 1937 में क्यों संधि की, यह हम मंडल सिद्धान्त की अवधारणा के द्वारा समझ सकते हैं।

वर्तमान विश्व में भी गुटबंदी, ध्रुवीकरण, शत्रुता, परस्पर निर्भरता सिद्धान्त, युद्ध एवं शांति, परस्पर होड़, अन्तर्राष्ट्रीय विधियाँ, न्यायालय इत्यादि का अस्तित्व एवं संचालन है। इसे सुव्यवस्थित करने के लिए मंडल सिद्धान्त प्रेरणादायक एवं यथार्थपरक है।

15.3 कौटिल्य और मंडल सिद्धान्त

राज्य संबंधी तत्वों का कौटिल्य ने जितना वैज्ञानिक, सूक्ष्म एवं गहन चिन्तन किया उतनी ही तार्किक उसने अन्तर्राज्य संबंधों की भी परिव्याख्या की। वह अपने युग का ही नहीं, युग-युगान्तर का सर्वश्रेष्ठ राजनीतिज्ञ एवं कूटनीतिज्ञ था। मंडल सिद्धान्त, उपाय तथा षाड्गुण्य मंत्र के द्वारा राज्यों के पारस्परिक संबंधों के नियमन की योजना उसने दी है।

मंडल सिद्धान्त की चर्चा करते हुए कौटिल्य ने राजप्रकृतियों के गुण की चर्चा की है। उनके अनुसार ये सात हैं-स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड (सेना) और मित्र। अब एक-एक कर सभी प्रकृतियों के गुणों की चर्चा करना तर्कसंगत होगा।

स्वामी के गुण—

स्वामी को महाकुलीन, दैवबुद्धि, धैर्यसम्पन्न, दूरदर्शी, धार्मिक, सत्यवादी, सत्यप्रतिज्ञ, कृतज्ञ,

उच्चाभिलाषी, बड़ा उत्साही, शीघ्र कार्य करने वाला, सामन्तों को वश में करने वाला, दृढ़बुद्धि, गुण सम्पन्न परिवार वाला और शास्त्र बुद्धिवाला होना चाहिए। राजा के ये गुण अभिगामिक गुण कहलाते हैं। शास्त्रचर्चा, शास्त्रज्ञान, प्रत्येक बात को ग्रहण कर लेना, ग्रहण की हुई बात को याद रखना, ग्रहण की हुई बात का विशेष ज्ञान रखना, तर्क-वितर्क द्वारा किसी बात की तह को पकड़ना, बुरे पक्ष को त्यागना और गुणियों के पक्ष को ग्रहण करना आदि राजा के प्रज्ञागुण कहलाते हैं। शौर्य, अमर्ष, क्षिप्रकारिता और दक्षता, ये चार गुण उसके उत्साह गुण कहलाते हैं। वाग्मी, प्रगल्भ, स्मरणशील, बलवान्, उन्नतमन, संयमी, निपुण सवार, विपत्तिग्रस्त शत्रु पर आक्रमण करने वाला, विपत्ति के समय सेना की रक्षा करने वाला, किसी के उपकार या अपकार का यथोचित प्रतिकार करने वाला, लज्जावान्, दुर्भिक्ष-सुभिक्ष के समय अन्न आदि का उचित विनियोग करने वाला, दीर्घदर्शी-दूरदर्शी, अपनी सेना के युद्धोचित देश-काल-उत्साह एवं कार्य को स्वयं देखने वाला, संधि के प्रयोगों को समझने वाला, युद्ध में चतुर, सुपात्र को दान देने वाला, प्रजा को कष्ट दिए बिना ही कोष को बढ़ाने वाला, शत्रु के व्यसनों से लाभ उठाने वाला, अपने मंत्र को गुप्त रखने वाला, दूसरे की हंसी न उड़ाने वाला, टेढ़ी भौंहे करके न देखने वाला, काम-क्रोध-लोभ-मोह चपलता-उपताप एवं चुगलखोरी से सदा अलग रहने वाला, प्रिय-भाषी, हंसमुख, उदारभाषी और वृद्धजनों के उपदेशों एवं आचारों को मानने वाला, इन गुणों से युक्त राजा आत्मसम्पन्न कहा जाता है।

अमात्य के गुण—

अमात्य राजा का विश्वासपात्र आदमी होता है। अमात्य ऐसे लोगों को बनाना चाहिए जो कि गुप्तकार्यों में राजा का साथ देते रहे हों। ऐसे व्यक्ति राजा की प्राणघातक आपत्तियों में रक्षा करते हैं। अमात्यपद पर उन्हीं को नियुक्त करना चाहिए जो कि विशिष्ट राजकीय कार्यों पर नियुक्त होकर अपने कार्यों को विशेष योग्यता के साथ सम्पन्न करके दिखा दें क्योंकि इस ढंग पर उनकी बुद्धि-वैशिष्ट्य की परीक्षा हो जाती है। नीतिकुशल राजा नये व्यक्तियों को ही अमात्य नियुक्त करते थे। नये अमात्य, दण्डधारी राजा को यम का दूसरा अवतार समझकर उसकी कभी भी अवमाननना नहीं करते हैं। कुछ आचार्य कहते हैं कि जो लोग कुलीन, बुद्धिमान, विश्वासपात्र, वीर और राजभक्त हों, उन्हें ही अमात्य नियुक्त करना चाहिए। कौटिल्य ने राजा को निर्देश दिया है कि वह विद्या, बुद्धि, साहस, गुण, दोष, देश, काल और पात्र का विचार करके ही अमात्यों की नियुक्ति करे।

जनपद के गुण :

जनपद की स्थापना ऐसी होनी चाहिए जिसके बीच में तथा सीमान्तों में किले बने हों, जिसमें यथेष्ट अन्न पैदा होता हो, जिसमें विपत्ति के समय वनपर्वतों के द्वारा आत्मरक्षा की जा सके, जिसमें थोड़े श्रम से ही अधिक धान्य पैदा हो सके, जिसमें शत्रुराजा के विरोधियों की संख्या अधिक हो, जिसके पास-पड़ोस के राजा दुर्बल हों। कीचड़, कंकड़, पत्थर, ऊसर, चोर-जुआरी, छोटे-छोटे शत्रु, हिंसक जानवर एवं घने जंगलों से रहित हो। जो नदी तलाबों से सज्जित हो। जिसमें खेती, खान, लकड़ियों तथा हाथियों के जंगल हों, जो गायों के लिए हितकर हो, जिसकी जलवायु अच्छी हो। जो लुब्धकों से रहित हो, जिसमें गाय, भैंस, नदी, नहर, जल थल, आदि सभी उपयोगी वस्तुएं हों। जिसमें बहुमूल्य वस्तुओं का विक्रय हो, जो दण्ड तथा कर को सहन कर सके। जहाँ के किसान बड़े मेहनती हों। जहाँ के मालिक समझदार हों। जहाँ नीचवर्ण की आबादी अधिक हो और जहाँ प्रेमी एवं शुद्ध स्वभाव वाले लोग बसते हैं, इन गुणों से युक्त देश जनपद सम्पन्न कहा जाता है।

दुर्ग के गुण—

दुर्ग राज्य एक अनिवार्य अंग था। प्राचीन समय के युद्धों में सुरक्षा का आधार दुर्ग ही होता था। दुर्ग में पर्याप्त खाद्य-सामग्री, अस्त्र-शस्त्र, पानी, दवाइयों आदि का रहना आवश्यक था जो समय पर काम आ सके। राज्य की स्थिरता और सुरक्षा के लिए दुर्गों की भूमिका अहम् होती थी।

दुर्ग के विभिन्न प्रकार बताए गए हैं—(1) औदक, (2) पार्वत, (3) धान्वन (4) वन-दुर्ग, (5) मिहिदुर्ग एवं (6) मनुष्यदुर्ग। आपत्ति के समय इन दुर्गों में भागकर राजा भी अपनी रक्षा कर सकता है। किले में नहर तथा गुप्त मार्ग या सुरंग होने की बात भी कही गयी है।

कोष के गुण—

राजकोष ऐसा होना चाहिए जिसमें पूर्वजों की तथा अपनी धर्म की कमाई संचित हो। वह इस प्रकार धान्य, सुवर्ण, चाँदी, नाना प्रकार के बहुमूल्य रत्न तथा हिरण्य से भरा-पूरा हो, जो दुर्भिक्ष एवं आपत्ति के समय सारी प्रजा की रक्षा कर सके। इन गुणों से युक्त खजाना कोष सम्पन्न कहलाता है।

दण्ड (सेना) के गुण

सेना ऐसी होनी चाहिए जिसमें वंशानुगत, स्थायी एवं वश में रहने वाले सैनिक भर्ती हों। युद्ध के समय जिसको आवश्यक सामग्री से लैस किया जा सके, जो कहीं हार न खाती हो, दुःख को सहने वाली हो, युद्धकौशलों से परिचित हो, हर तरह के युद्ध में निपुण हो, राजा के लाभ तथा हानि में हिस्सेदार हो और जिसमें क्षत्रियों की अधिकता हो। इन गुणों से युक्त सेना दण्डसम्पन्न कही जाती है।

मित्र के गुण

मित्र ऐसे होने चाहिएँ, जो वंशपरम्परागत हों, स्थायी हों, अपने वश में रह सकें, जिनसे विरोध की सम्भावना न हो, प्रभु-मंत्र-उत्साह आदि शक्तियों से युक्त हों तथा जो समय आने पर सहायता कर सकें। मित्रों में इन गुणों का होना मित्र सम्पन्न कहा जाता है।

उपर्युक्त गुणों से युक्त राजा को आत्मसम्पन्न राजा कहा गया है। आत्मसम्पन्न राजा गुणहीन प्रकृतियों को भी गुणी बना लेता है, और आत्मसम्पन्नहीन राजा गुणसमृद्ध तथा अनुरक्त प्रकृतियों को भी नष्ट कर देता है। यही कारण है कि दुष्ट प्रकृति राजा चारों समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का अधिपति होता हुआ भी या तो अपनी प्रकृतियों द्वारा ही विनष्ट हो जाता है या शत्रु के कब्जे में चला जाता है। किन्तु आत्मसम्पन्न नीतिज्ञ राजा थोड़ी भूमि का स्वामी होता हुआ भी आत्मप्रकृति के द्वारा सारी पृथ्वी का आधिपत्य प्राप्त कर लेता है और कभी भी क्षीण नहीं होता है।

शांति और उद्योग की चर्चा करते हुए कौटिल्य ने क्षेम का कारण शांति और योग कारण व्यायाम बताया है। दुर्ग संबंधी तथा संधि आदि कार्यों में कुशल व्यक्तियों को नियुक्त करना ही व्यायाम कहलाता है। दुर्ग तथा संधि आदि कर्मफलों के उपयोग में विघ्नों के नाश का साधन ही शुभ (शांति) है। शम और व्यायाम के कारण हैं-संधि, विग्रह, यान, आसन, संक्षय और द्वैधीभाव आदि छह गुण। उन्नति (वृद्धि), अवनति (क्षय) और समानगति (स्थान) ये तीन, उक्त छह गुणों के फल हैं। इन तीन फलों के प्राप्त करने वाले दो प्रकार के कर्म हैं : मानुष और दैव। नय तथा अपनय मानुषकर्म हैं और अय तथा अनय दैवकर्म हैं। ये दैव और मानुष कर्म ही लोक जीवन को चलाने वाले दो पहिए हैं। अदृष्ट द्वारा कराया हुआ धर्म अथवा अधर्म रूप कर्म दैव कहलाता है। उससे इष्ट फल का संबंध जुड़ जाने की स्थिति को अय कहते हैं। यदि प्रतिकूल फल के साथ संबंध हुआ तो वही अनय की स्थिति है। प्रभुशक्ति, मंत्रशक्ति या उत्साह शक्ति आदि के कारण, संधि, विग्रह आदि गुणों के प्रयोग द्वारा जो कार्य कराया जाए वही मानुषकर्म कहलाता है। उसके होने पर यदि योग, क्षेत्र की सिद्धि हो जाए तो नय है, और विपत्ति आ जाए तो अपनय कहा जाता है। योग-क्षेम की सिद्धि और विपत्ति के प्रतिकार के साधनभूत मानुष कर्म के संबंध में ही यहाँ विचार किया जाएगा। अचिंत्य दैवकर्म के संबंध में कुछ कहना सर्वथा असम्भव है।

जो राजा आत्मसम्पन्न, अमात्य आदि द्रव्यप्रकृति सम्पन्न और नीति का आश्रय लेने वाला हो उसको **विजिगीषु** कहते हैं। **विजिगीषु** राजा के चारों ओर के राजा अरिप्रकृति कहलाते हैं। अरिप्रकृति राजाओं की सीमाओं से लगे हुए राजा मित्रप्रकृति कहलाते हैं। शत्रु के गुणों से युक्त

सामन्त शत्रु कहलाता है। व्यसनी शत्रु-राजा पर आक्रमण कर देना चाहिए। आश्रयहीन अथवा दुर्बल शत्रु-राजा पर भी आक्रमण कर देना चाहिए।

आश्रययुक्त और सबल शत्रु राजा किसी अपकारक द्वारा तंग किया जाना चाहिए अथवा अन्य उपायों से उसकी सेना और उसके धन की क्षति करनी चाहिए। शत्रु राजा के उपर्युक्त चार भेद हैं।

विजिगीषु राजा की विजय-यात्रा में आगे क्रमशः शत्रु (अरि), मित्र, अरिमित्र, मित्रमित्र, और अरिमित्र-मित्र ये पाँच राजा आते हैं। इसी प्रकार उसके पीछे क्रमशः पार्ष्णिग्राह, आक्रंद, पार्ष्णिग्राहासार और आक्रंदासार ये चार राजा होते हैं। विजिगीषु राजा के सहित आगे-पीछे के राजाओं को मिलाकर एक राज-मंडल कहलाता है।

विजिगीषु राजा की सीमा से लगा हुआ स्वभाविक शत्रु और विजिगीषु के वंश में उत्पन्न दायभागी, ये दोनों सहजशत्रु कहलाते हैं। स्वयं विरुद्ध होने वाला अथवा किसी दूसरे को विरोधी बना देने वाला कृत्रिम शत्रु कहलाता है। विजिगीषु के राज्य से एक राज्य को छोड़कर उसके बाद का स्वभावतः मित्र राजा और विजिगीषु का ममेरा या फुफेरा भाई, ये सहजमित्र हैं। धन या जीविका के लिए आश्रय लेने वाला कृत्रिममित्र कहलाता है।

अरि और विजिगीषु राजाओं की संधि में संधि का समर्थक और विग्रह में विग्रह का समर्थक राजा मध्यम कहलाता है। अरि, विजिगीषु और मध्यम की प्रकृतियों के अतिरिक्त, शक्तिशाली मध्यम राजा से भी बलवान्, अरि, विजीगीषु और मध्यम की संधि में संधि का समर्थक और उनके विग्रह में विग्रह का समर्थक राजा उदासीन कहलाता है। इस प्रकार बारह राज प्रकृतियों का निरुपण किया गया।

विजिगीषु, मित्र और मित्रमित्र ये तीन प्रकृति हैं। इन तीनों की अलग-अलग अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष और दण्ड, ये पांच प्रकृतियां, एक साथ मिलकर अठारह प्रकृतियों का एक मंडल होता है। अरि, मध्यम और उदासीन आदि के मंडलों का यही क्रम समझना चाहिए। इस प्रकार चार मंडलों का संक्षेप में निरुपण किया गया। बारह राज-प्रकृतियाँ और साठ अमात्य आदि द्रव्य प्रकृतियाँ मिलकर बहत्तर प्रकृतियाँ कही जाती हैं। इसी प्रकार शक्ति और सिद्धि के संबंध में भी समझना चाहिए। शक्ति को बल और सिद्धि को सुख कहा जाता है। शक्ति अर्थात् बल के तीन भेद हैं : ज्ञानबल, कोषबल और विक्रमबल। ज्ञानबल ही मंत्रशक्ति है, कोष-सेना बल ही प्रभुशक्ति है और विक्रमबल ही उत्साह-शक्ति है।

शक्ति की तरह सिद्धि के भी तीन भेद होते हैं—मंत्रसिद्धि, प्रभुसिद्धि और उत्साह-सिद्धि। मंत्रशक्ति से होने वाली सिद्धि मंत्रसिद्धि, प्रभुशक्ति से होने वाली सिद्धि प्रभु-सिद्धि और उत्साह शक्ति से होने वाली सिद्धि उत्साह सिद्धि कहलाती है। इन शक्तियों से सम्पन्न राजा श्रेष्ठ; उनसे रहित अधम और समान शक्ति वाला मध्यम कहा जाता है। इसलिए राजा को चाहिए कि वह अपनी शक्ति तथा सिद्धि को बढ़ाने के लिए निरंतर यत्नशील रहे। जो राजा स्वयं अपनी शक्ति-सिद्धि को बढ़ाने में असमर्थ हो वह इस कार्य को अपनी अमात्य आदि द्रव्य प्रकृतियों के द्वारा या अपनी सुविधा के अनुसार सम्पन्न करे; और दूष्टा तथा शत्रु की शक्ति-सिद्धि को नष्ट करने का यत्न करे। यदि वह राजा ऐसा देखे कि मेरा शक्तिशाली शत्रुराजा वाक्पारुष्य, दण्डपारूष्य और अर्थदोष से अपनी अमात्य आदि द्रव्यप्रकृतियों को रुष्ट कर देगा, अथवा वह मृगया, द्यूत और स्त्रियों में आसक्त होकर प्रमादी बन जाएगा, तब निश्चित ही वह प्रकृतियों से विरक्त और प्रमादी शत्रुराजा को 'मैं आसानी से जीत सकूँगा अथवा जब मैं अपनी सम्पूर्ण सैन्यशक्ति को लेकर उससे युद्ध करने जाऊँगा तो वह अपनी शक्ति पर गर्वित होकर किसी स्थान पर या दुर्ग में अकेला मेरे मुकाबले की प्रतीक्षा में रहेगा। ऐसी स्थिति में वह मेरी सेना से घिर जाएगा तथा उसको मित्र एवं दुर्ग से कोई सहायता न मिल पाएगी और तब उसे मैं आसानी से जीत सकूँगा, अथवा बलवान् शत्रु राजा अपने दूसरे शत्रु का उच्छेद करके ही रुक जायेगा, अथवा किसी दूसरे बलवान के साथ युद्ध करने पर मुझे क्षीणशक्ति देखकर, मुझे मध्यम राजा

बनाने की अभिलाषा से, वह मेरी सहायता करेगा; इस प्रकार की विशेष स्थितियों में वह शत्रु की शक्ति-सिद्धि की भी सम्भावना करें।

नेता विजिगीषु को चाहिए कि वह राजमंडल रूपी चक्र में अपने मित्र राजाओं को नेमि, पास के राजाओं को अरा और स्वयं को नाभिस्थान में समझे। जो बलवान् शत्रु विजिगीषु और मित्र के बीच में आ जाए वह जीत लिया जाता है या बहुत तंग किया जाता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचना में हम देखते हैं कि मंडल-सिद्धान्त का उद्देश्य राज्यों के बीच शक्ति-संतुलन की स्थापना करना था। इस सिद्धान्त का मूलाधार यह है कि दो पार्श्ववर्ती राज्य, जिनकी सीमाएँ परस्पर मिलती है, स्वभावतः एक दूसरे के शत्रु होते हैं, शत्रु राज्य के परे जो राज्य होता है वह मित्र राज्य है।

राज-मंडल का एक काल्पनिक प्रारूप

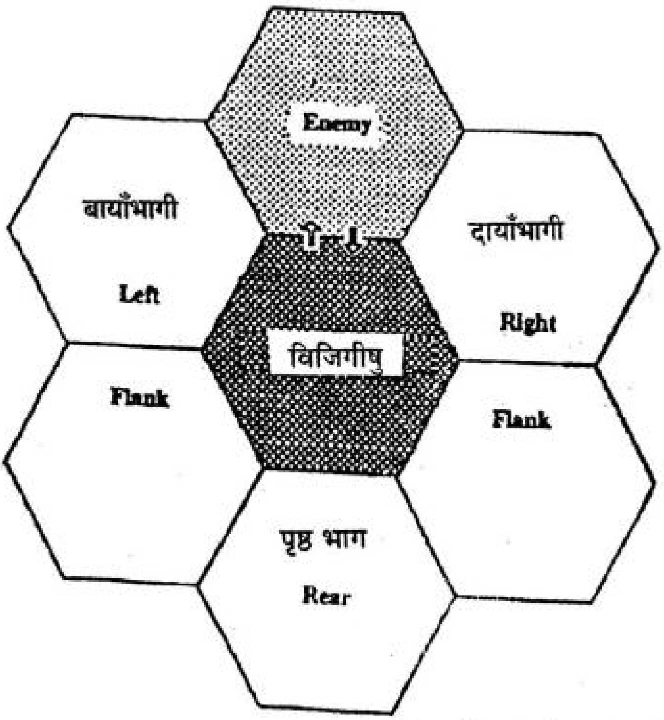

(Types of Enemies-in-the-Rear) पीठ-पीछे शत्रु के प्रकार

(The Intervening King) विजिगीषु राजा

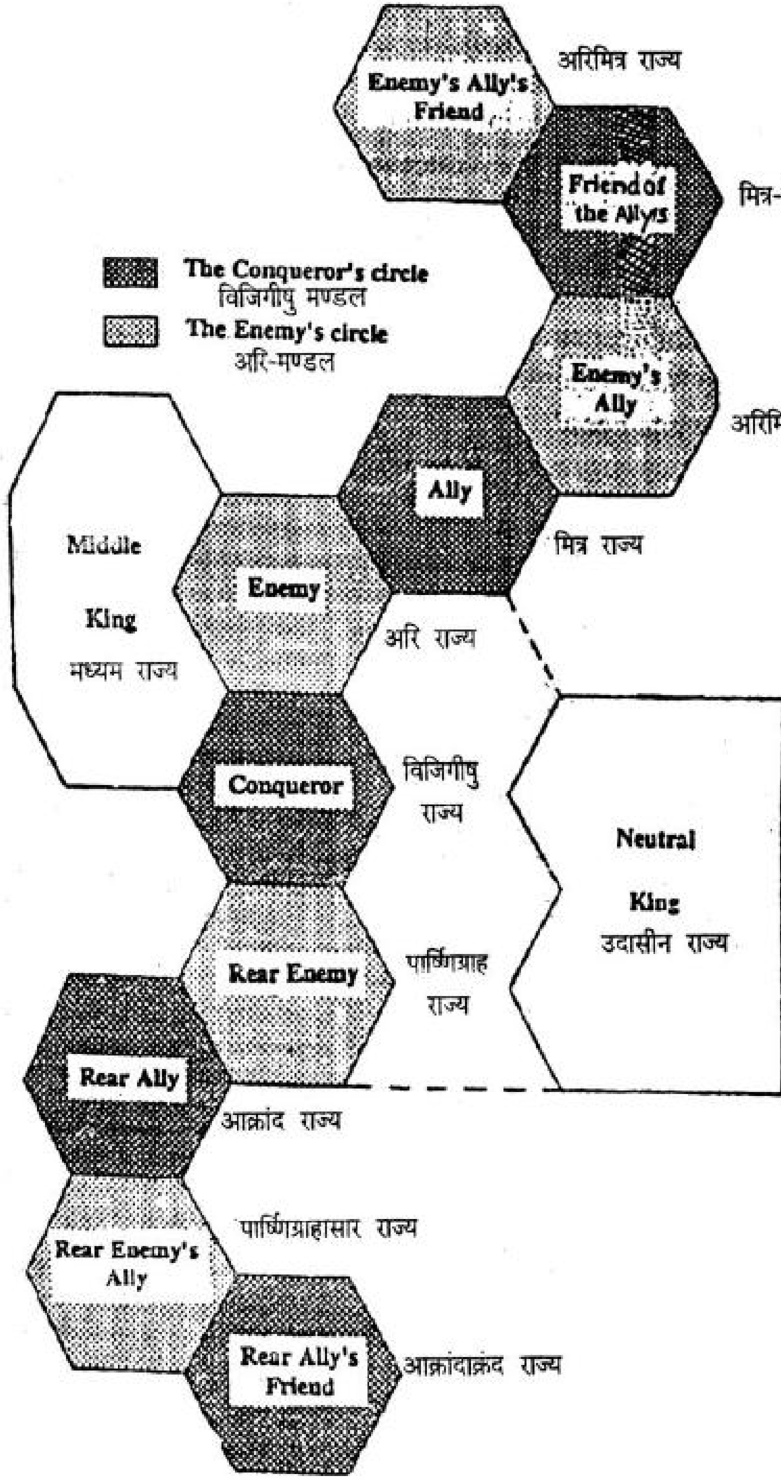

(The Circle of States) राज-मण्डल

मध्यम राज्य वह शक्तिशाली राज्य है जो विजयाभिलाषी राजा के राज्य और उसके अरिराज्य, दोनों राज्यों की सीमा पर स्थित है। वह इन दोनों राजाओं को एक साथ या अलग-अलग सहायता दे और उनके निग्रह करने में समर्थ होता है। शक्ति संतुलन ही इस योजना का उद्देश्य था। उदासीन वह राज्य था जो विजयाभिलाषी और मध्यम राजा से परे स्थित था। यह अपनी बलिष्ठ सात प्रकृतियों से सम्पन्न, परम शक्ति-संकुल राज्य कहा जाता है। यह तीनों प्रकार के राजाओं, विजिगीषु, मध्यम तथा शत्रु (अरि) को पृथक्-पृथक् अथवा एक साथ अनुकूल एवं निग्रह करने में समर्थ समझा जाता था।

कौटिल्य के उदासीन राज्य की परिभाषा आधुनिक युगीन तटस्थ राज्यों से भिन्न है। एक तटस्थ राज्य के लिए आज आवश्यक नहीं कि वह सर्वथा शक्ति सम्पन्न हो। दुर्बल राज्य भी तटस्थ रह सकते हैं, यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय नियम का यह सैद्धान्तिक आदर्श मात्र हैं। कोई सबल राज्य ही तटस्थ रह सकता है। किसी लघु और निर्बल राज्य को व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप से किसी शक्ति समुदाय में प्रविष्ट होना ही पड़ता है। अतः कौटिल्य का विधान अधिक पुष्ट एवं तार्किक है। कौटिल्य ने किसी राष्ट्र-संघ और उसकी विधियों की योजना नहीं दी, जो राज्यों के पारस्परिक आचरणों का नियमन करता। किन्तु मंडल संगठन का जो सिद्धान्त उन्होंने प्रतिपादित किया वह निःसन्देह राज्यों के पारस्परिक संबंधों को नियंत्रित करने में अधिक व्यावहारिक था।

15.4 षाड्गुण्य-मंत्र

शास्त्र-प्रणेताओं ने राज्यों के पारस्परिक संबंधों तथा बाह्य-नीति (विशेषतया युद्ध-संबंधी) के निर्धारण का एक अन्य सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया था। इसे षाड्गुण्य-मंत्र कहा गया है। ये हैं सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव तथा संश्रय। षाड्गुम्य-मंत्र राजमंडल-व्यवस्था का एक अनिवार्य एवं मूल-आधार है। उसके अनुसार इस मंत्र का उद्देश्य क्षय, स्थान और वृद्धि का निश्चय करना होता है। राजा को इन छहों गुणों का सर्वदा सेवन करना चाहिए। कौटिल्य राज्य की विस्तारवादी नीति का समर्थक था, जिसके लिए युद्ध अवश्यम्भावी था। इसके पालन में ही कदाचित् युद्ध के माध्यम से साम्राज्यवादी नीति सफल हो सकती थी।

कौटिल्य इन गुणों की परिव्याख्या करते हुए लिखते हैं कि पणों के आधार पर दो राजाओं में जो पारस्परिक बन्धन होता है उसे सन्धि कहते हैं। परस्पर एक दूसरे के अपकार में संलग्न हो जाना विग्रह है। किसी राजा पर आक्रमण करने का नाम यान है। समय या परिस्थिति की परीक्षा में मौन बैठे रहना आसन, और एक राजा से सन्धि एवं दूसरे से विग्रह करना द्वैधीभाव है। किसी राजा का अपने को शत्रु अथवा बलवान् राजा को समर्पित कर देना संश्रय है।

वस्तुतः षाड्गुण्य-मंत्र मंडल सिद्धान्त के क्रियान्वयन की व्यावहारिक स्थिति है। यह सम्भव है कि तत्कालीन राज्यों के पारस्परिक कूटनीतिक संबंध इन्हीं सिद्धान्तों पर आश्रित रहे हों। मौर्य साम्राज्य के निर्माण में अवश्य ही कुछ सीमा तक मंत्र-विधियाँ कार्यशील रही होंगी। नन्दों का उन्मूलन तथा मगध राज्य पर अधिकार कर उसको साम्राज्य में परिवर्तित करना कूटनीतिक विधियों के बिना सम्भव नहीं हो सकता था, यद्यपि हम इसे सप्रमाण नहीं कह सकते।

आचार्य वातव्याधि का कहना है कि गुण तो दो ही हैं : संधि और विग्रह, बाकी तो उन्हीं के अवांतर भेद हैं। किन्तु आचार्य कौटिल्य का अभिमत है कि गुण तो छह ही हैं, संधि और विग्रह से बाकी चार गुण सर्वथा भिन्न हैं, इसलिए इन दोनों में उनका अन्तर्भाव कैसे संभव है? उनमें दो राजाओं का कुछ शर्तों पर मेल हो जाना सन्धि, शत्रु का कोई अपकार करना विग्रह, उपेक्षा करना आसन, चढ़ाई करना यान, आत्मसमर्पण करना संश्रय और संधि-विग्रह दोनों से काम लेना द्वैधीभाव कहलाता है—यही छह गुण हैं।

शत्रु की तुलना में अपने को निर्बल समझने पर संधि कर लेनी चाहिए। यदि शत्रु की तुलना में स्वयं को बलवान् समझा जाए तो विग्रह कर देना चाहिए। यदि शत्रुबल और आत्मबल में कोई अन्तर न समझे तो आसन को अपना लेना चाहिए। यदि स्वयं को सर्वसम्पन्न एवं शक्तिसम्पन्न समझे तो चढ़ाई (यान) कर देनी चाहिए। अपने को निरा अशक्त समझने पर संश्रय से काम लेना चाहिए। यदि सहायता की अपेक्षा समझे तो द्वैधीभाव को अपनाना चाहिए। जिस गुण को अपनाने से अपने कार्यों का नाश और शत्रुकार्यों की कोई क्षति न हो, उसको कदापि न अपनाना चाहिए। इस प्रकार के गुण का अवलम्बन ही क्षय है। जिस गुण का आश्रय लेने पर अपनी वृद्धि और अपना क्षय कुछ भी न दिखे, ऐसी समान स्थिति को स्थान कहते हैं। प्रकृतिमंडल में स्थित राजा को चाहिए कि वह सन्धि, विग्रह आदि छह गुणों का आश्रय लेकर क्षयावस्था को पार करके स्थान की ओर और स्थानावस्था को पार

करके वृद्धि की आकांक्षा करे।

विजिगीषु राजा सन्धि और विग्रह में जब एक समान लाभ होता देखे तो अपनी उन्नति के लिए सन्धि का ही अवलम्बन करें; क्योंकि विग्रह करने पर प्रजा का नाश, धान्य आदि की क्षति, प्रवास और प्रत्यवाय आदि अनेक प्रकार के कष्ट झेलने पड़ते हैं। इसी प्रकार आसन और यान के द्वारा समान लाभ की स्थिति में आसन को ही अपनाना चाहिए। द्वैधीभाव और संश्रय के समान लाभ होने पर द्वैधीभाव को ही ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि ऐसा करने पर राजा अपने कार्यों को करता हुआ अपनी उन्नति करता है। इसके विपरीत संश्रय का सहारा लेने वाला राजा अपने आश्रयदाता का ही अधिक उपकार करता है, अपना नहीं। आश्रय उसका लिया जाना चाहिए, जो अपने शत्रु राजा (सामन्त) से बलवान् हो। यदि ऐसा बलवान् राजा कोई न मिले तो अपने शत्रु राजा का ही आश्रय लेना चाहिए; और दूर से ही वह धन, सेना, भूमि आदि को देकर उसका उपकार करे, उसके पास न आए। क्योंकि बलवान् राजा का साथ कभी-कभी महान् अनर्थकारी सिद्ध होता है। लेकिन उस बलवान् राजा ने यदि किसी शत्रु से दुश्मनी ठानी हो तो उसके साथ रहने में कोई हानि नहीं है।

विजिगीषु राजा को चाहिए कि वह अपनी सामर्थ्य के अनुसार सन्धि आदि छह गुणों में जिसको उचित समझे उसी को व्यवहार में लाए। उसके लिए उचित यही है कि बराबर तथा बड़ी शक्ति वाले राजा के साथ वह सन्धि कर ले; और शक्तिहीन के साथ विग्रह कर दे। क्योंकि अधिक शक्ति वाले के साथ विग्रह करने पर हीन शक्ति राजा की वही दुर्दशा होती है, जो कि गजारोही सैनिकों के साथ युद्ध में पैदल लड़ने वाली सेना की होती है। और समान बल-विक्रम वाले के साथ विग्रह करने पर वे दोनों ही उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जैसे दो कच्चे घड़े आपस में भिड़ जाने से दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। हीन शक्ति के साथ विग्रह करने का वही सुपरिणाम होता है जो पत्थर से घड़े पर चोट मारने से होता है।

हीन शक्ति वाले राजा के प्रति कुछ विशेष बातों का निर्देश दिया गया है। सेना आदि के द्वारा बलवान् राजा से दबाए हुए निर्बल राजा को चाहिए कि तत्काल वह धन, सेना और भूमि आदि के सहित आत्मसमर्पण करके बलवान् राजा के सामने झुक जाए। जब विजित राजा; विजयी राजा के कथनानुसार अपनी शक्ति भर सेना तथा धन देकर आत्मसमर्पण कर दे तो उस संधि को अभिषसंधि कहते हैं। सेनापति और राजकुमार को शत्रुराजा की सेवा में पेश करके जो संधि की जाती है उसे पुरुषांतर संधि कहते हैं। इसे आत्मरक्षण संधि भी कहते हैं, क्योंकि इसमें राजा शत्रु के दरबार में न जाने से आत्मरक्षा कर लेता है। शत्रु की कार्य सिद्धि के लिए जब 'मैं स्वयं अकेला ही जाऊँगा या मेरी सेना ही जायेगी' ऐसा कहकर संधि की जाती है तब उसे अदृष्टपुरुष संधि कहते हैं। इस संधि को दण्ड मुख्यात्मरक्षण संधि भी कहते हैं, क्योंकि इसमें मुख्य सैनिकों और राजा की रक्षा हो जाती है। उपर्युक्त तीनों सन्धियों को दण्डोपनतसंधि का नाम दिया गया है। जिस सन्धि में बलवान् शत्रु द्वारा युद्ध में गिरफ्तार किए गए अमात्य आदि प्रकृतिजनों को धन देकर छुड़ाया जाए उसे परिक्रयसंधि कहते हैं और यही संधि सुविधानुसार किस्तवार धन अदा करने की शर्त पर की जाए तो उपग्रह-संधि कहलाती है। अगर संधि में समय और स्थान निश्चित किया जाता है तो उसे प्रत्ययसंधि कहते हैं। सुविधानुसार नियत समय में नियमित धन राशि दे देने के कारण यह संधि कन्यादान संधि के नाम से जानी जाती है। यह संधि शत्रु और विजिगीषु को मिलाने का कार्य करती है, इसलिए इसका नाम सुवर्ण संधि भी है। जिस संधि में सम्पूर्ण धनराशि तत्काल ही अदा कर देने की शर्त होती है उसे कपालसन्धि कहते है। इन चारों सन्धियों का एक नाम कोशोपनलसन्धि भी कहा जाता है।

राष्ट्र और प्रकृति की रक्षा के लिए भूमि का कुछ भाग देकर जो सन्धि की जाती है, उसे आदिष्टसन्धि कहते हैं। राजधानी और दुर्गों को छोड़कर सारहीन भूमि शत्रु को देकर जो संधि की जाती है उसको उच्छिन्नसंधि कहते हैं। जिस संधि में भूमि की पैदावार को देकर भूमि को छुड़ा लिया जाए, उसका नाम अपक्रयसन्धि है, किन्तु जिस संधि में पैदावार के अलावा कुछ और भी देना पड़े उसको परदूषणसंधि कहते हैं। भूमि देने के कारण इन चारों सन्धियों को

भूम्युपनतसन्धि या देशोपनतसन्धि भी कहते हैं।

इस प्रकार निर्बल राजा के लिए उचित है कि वह उक्त दण्डोपनत, कोषोपनत और देशोपनत, इन तीन प्रकार की हीन सन्धियों को अपने कार्य, देश तथा समय के अनुसार उपयोग में लाए।

कुछ आचार्यों ने यान तथा आसन को सन्धि और विग्रह के अन्तर्गत ही माना है। स्थान, आसन और उपेक्षण; ये तीन शब्द आसन के पर्यायवाची हैं। आसन को ग्रहण करने पर भी यदि शत्रु के अपकार का बदला न चुकाया जा सके ऐसी अवस्था में आसन शब्द के लिए विशेष रूप से स्थान शब्द का प्रयोग किया जाता है। अपनी वृद्धि के लिए जब इस गुण का अवलम्बन किया जाए तो उसे आसन कहते हैं। लड़ते हुए, उपायों का प्रयोग न करना अथवा थोड़ा प्रयोग करना उपेक्षण कहलाता है। एक-दूसरे को हानि पहुँचाने में असमर्थ सन्धि की इच्छा रखने वाले विजिगीषु और शत्रु राजा को चाहिए कि वे विग्रह करके आसन का अवलम्बन करें।

यान संबंधी विचार पर चर्चा करते हुए कौटिल्य का मानना है कि विजिगीषु को पहले लघु व्यसन शत्रु पर ही चढ़ाई करनी चाहिए। क्योंकि उस पर यदि चढ़ाई न की जाएगी तो अपने छोटे से व्यसन का शीघ्र ही सरलता से प्रतीकार कर वह यातव्य की सहायता के लिए तैयार हो जाएगा; अथवा पार्ष्णिग्राह बन जाएगा। अधिक शक्तिशाली विजयी राजा से मित्र राजा को थोड़ा भी हिस्सा मिले या कुछ भी न मिले तो प्रसन्न होकर वह ले और बाद में उसकी किसी निर्बलता पर प्रहार करके दुगुना धन वसूल करे। विजयी विजिगीषु को चाहिए कि सफल हो जाने पर वह अपने सहायक मित्र राजाओं को सम्मानपूर्वक विदा करे, भले ही विजय का उसको थोड़ा ही हिस्सा उपलब्ध क्यों न हो। ऐसा व्यवहार करने से वह राज-मंडल का प्रियपात्र हो जाता है। विजिगीषु राजा को निर्देश है कि वह सामूहिक प्रमाण और देश, काल तथा कार्य के अनुसार संधियाँ करें। सन्धि के चार धर्म-आकृतचिकीर्षा, कृतश्लेषण, कृतविदूषण तथा अवशीर्णक्रिया बताया गया है। इसी प्रकार विग्रह के भी तीन धर्म हैं—प्रकाशयुद्ध, कूटयुद्ध और तूष्णीयुद्ध। विजिगीषु राजा को निर्देश दिया गया है कि वह अपने निश्चित लाभ या लाभांश के परिणाम को ठीक तरह से जानकर दूसरे राजाओं के साथ संधि करके अपनी कार्यसिद्धि के लिए तत्पर रहे। उन्हें दूसरे राजाओं से पृथ्वी प्राप्त करते हुए अपनी उन्नति करने को कहा गया है। अर्थशास्त्रज्ञ राजा को मित्र, धन, सम्पत्ति, आबाद और बंजर भूमि को प्राप्त करने को कहा गया है; ऐसा करने से दूसरे राजाओं की अपेक्षा उसे ज्यादा लाभ हो सकता है। विजिगीषु को चाहिए कि वह दुर्ग आदि के कार्यों में थोड़ा खर्च करके ही महान् फल प्राप्त करने की चेष्टा करे। महान् फल देने वाले कार्य को प्राप्त करके ही विजिगीषु अपने शत्रु से आगे बढ़ सकता है। यही कर्मसंधि है।

विजिगीषु को, मित्ररुप प्रकृति की पूर्वोक्त गुण समृद्धि से युक्त राजमंडल को अपनी सहायता के लिए आगे और पीछे ठीक तरह से स्थापित करना चाहिए। अपनी सहायता के लिए स्थापित किए हुए उस सम्पूर्ण राजमंडल में गुप्तचरों और दूतों का सदा उत्तम प्रबंध रखे और शत्रुओं के साथ ऊपर से मित्रता के भाव रखकर एक-एक करके उन्हें मार दे तथा ऊपर से उदासीन एवं निष्पक्ष बना रहे। जो राजा अपने गुप्त विचारों या गुप्त मंत्रणाओं को छिपा कर नहीं रख सकता है—वह उन्नतावस्था में पहुँचकर भी नीचे गिर जाता है। समुद्र में नाव के फट जाने से जो दशा सवार की होती है, ठीक वही दशा मंत्र के फूट जाने पर राजा की होती है।

दुर्बल विजिगीषु के लिए शक्ति-संचय के साधन की चर्चा करते हुए कौटिल्य उन्हें बंधु, मित्र, विद्यावृद्ध पुरुषों की संगति से तथा दुर्ग, सेतुबंध से उत्पन्न द्रव्य द्वारा और श्रेणी आदि बल से अपनी शक्ति को पूर्ण करते हुए सदैव शत्रु का प्रतीकार करते रहने की सलाह देते हैं।

यदि कोई बलवान् राजा किसी दुर्बल राजा पर आक्रमण करे तो उस दुर्बल राजा को चाहिए कि वह अपने आक्रमणकारी राजा से भी बलवान् किसी ऐसे राजा का आश्रय प्राप्त करे, जिसको वह आक्रमणकारी राजा भी मंत्रशक्ति आदि से फोड़ न सके। यदि अनेक समान सैन्यशक्ति और मंत्रशक्ति के राजा हों तो उनमें उसी का आश्रय प्राप्त किया जाय, जिसका प्रकृतिमंडल बुद्धिमान

हो। यदि इस तरह के भी बहुत से राजा हों तो उनमें भी उसी का आश्रय लेना चाहिए, 'जो अत्यन्त अनुभवी विद्वानों से युक्त हों।

पराजित राजा को चाहिए कि समय-समय पर वह अपने मालिक को उपहार देता रहे। देवाराधन और मांगलिक कृत्यों के अवसर पर अपने मालिक के लिए दुआएँ माँगे। सबके सामने स्वयं को स्वामी का समर्पण बताए तथा उसके गुणों का कीर्तन करे। इस प्रकार अपने विजेता राजा की सेवा करते हुए विजित राजा को चाहिए कि वह उसके शक्तिशाली अमात्य आदि के साथ सदा अनुकूल बर्ताव करे और जो विजेता के विरोधी हों या जिन पर उसका शक हो, उनके सदा वह विरुद्ध रहे।

विजिगीषु राजा के सदाचरण से न केवल दण्डोपनत राजा उसकी अधीनता स्वीकार कर लेते हैं; बल्कि उसके पुत्र और पौत्र आदि के भी अनुगामी बन जाते हैं। इसके विपरीत जो विजिगीषु राजा दण्डोपनत राजाओं को मारकर या उनको कैद में डालकर उनके द्रव्य, स्त्री, पुत्र भूमि आदि का अपहरण करता है—उससे कुपित हुआ सारा राज-मंडल उसका विध्वंस करने के लिए तैयार हो जाता है। ऐसे विजिगीषु के अमात्य आदि उच्चाधिकारी उससे कुपित होकर बदला लेने की भावना से राजमंडल में जा मिलते हैं, अथवा स्वयं ही उसके राज्य या प्राणों पर अधिकार कर लेते हैं। इसलिए जो राजा अपनी-अपनी भूमि में रहकर राज्य का उपभोग करते रहते हैं, और विजिगीषु साम उपाय के द्वारा ही उनकी रक्षा करता है तो वे उसके अनुकूल बने रहते हैं और उसके पुत्र-पौत्र आदि के भी अनुगामी बने रहते हैं।

'शम', 'संधि' और 'समाधि' से तीनों शब्द समानार्थक हैं। वह इसलिए कि इन तीनों के कारण ही राजाओं में परस्पर दृढ़ विश्वास की स्थापना होती है। पूर्वाचार्यों का मत है कि 'जो सन्धि सत्य की शपथ लेकर की जाती है वह स्थायी नहीं होती है और जो संधि जामिन (प्रतिभू) रखकर अथवा राजपुत्र को बंधक (प्रतिग्रह) रखकर की जाती है वह स्थायी होती है। परन्तु कौटिल्य इस मन्तव्य को नहीं मानता है। उसका कहना है कि 'जो संधि सत्यनिष्ठ होकर और शपथपूर्वक की जाती है वह परम विश्वसनीय तथा स्थायी होती है, क्योंकि ऐसी संधि तोड़ने वालों को यह भय बना रहता है कि परलोक में नरक तथा इस लोक में बदनामी होगी। इसके विपरीत जो संधि जामिन (प्रतिभू) और बंधक (प्रतिग्रह) रखकर की जाती है, उसको तोड़ने पर इसी लोक में थोड़ा बहुत अनर्थ होता है, परलोक का नहीं। इसलिए उसको तोड़ने का भय बना रहता है। इसके अतिरिक्त यह संधि तभी निभायी जा सकती है, जब प्रतिभू बलवान् तथा प्रतिग्रह अपने दाता का प्रेमपात्र हो।

मध्यम् स्वयं और तीसरी तथा पांचवी प्रकृति (अर्थात् स्वयं, मित्र और मित्र-मित्र) ये तीनों मध्यम की प्रकृति कहलाती है। इसी प्रकार शत्रु, शत्रु का मित्र (अरिमित्र) और अरिमित्रमित्र, ये तीनों मध्यम की विकृति कही जाती हैं। मध्यम को चाहिए कि वह इन दोनों प्रकार के राजाओं पर समान अनुग्रह बनाए रखे; और विजिगीषु को चाहिए कि वह सदा मध्यम राजा के अनुकूल बना रहे। यदि मध्यम राजा दोनों प्रकार की प्रकृतियों पर अनुग्रह न कर सके तो आत्मप्रकृति को वह अवश्य ही अपने अनुकूल बनाए रखे।

यदि विजिगीषु का शत्रु विजिगीषु के मित्र को आपद्ग्रस्त जानकर बिना अवरोध-आक्रमण के उन्नति कर जाए तो अपने मित्र की आपत्ति दूर हो जाने पर उस मित्र के द्वारा ही विजिगीषु शत्रु को वश में करने का यत्न करे। जो मित्र अपने शत्रु पर आपत्ति आ जाने से उन्नत होकर विजिगीषु के अनुकूल नहीं रहता, उसे उसके शत्रु की आपत्ति दूर हो जाने पर, उसी के द्वारा वश में किया जाए। अर्थशास्त्रज्ञ राजा को उचित है कि वह वृद्धि, क्षय, स्थान, कर्शन और उच्छेदन तथा साम, दाम आदि सभी उपायों का प्रयोग खूब सोच-विचार कर करें। जो राजा इन छह गुणों का विचारपूर्वक प्रयोग करता है, वह निश्चित ही अपनी बुद्धिरुपी शृंखला से बाँधे हुए अन्य राजाओं के साथ इच्छानुसार क्रीड़ा कर सकता है।

15.5 उपाय

अन्तर्राज्य-संबंधों के नियमन के तीन आधार-स्तम्भ में अन्तिम है, उपाय। इसमें प्रमुखतः विजय एवं वशीकरण के साधनों का विश्लेषण किया गया है। उपाय के चार अंग माने गये हैं- साम,दान, भेद तथा दण्ड। इन विभिन्न नीतियों का आश्रय परिस्थिति तथा पात्रों का विचार करके लेने का आदेश था। इसका आधार उदारवादी था। कौटिल्य कहता है कि दुर्बल राजाओं को साम और दान उपायों से वश में करना चाहिए, किन्तु जो शत्रु बलशाली हों, उनका वशीकरण भेद तथा दण्ड द्वारा ही होना चाहिए। इस प्रकार उपाय षाड्गुण्य-मंत्र नीति की प्रयुक्ति के साधन का सिद्धान्त था।

कौटिल्य के मतानुसार साम उपाय में केवल एक ही गुण होता है। दान दो गुणयुक्त होता है, उसमें साम-गुण भी सम्मिलित होता है। भेद तीन गुणयुक्त होता है। इसमें साम और दान गुण भी समाविष्ट होते हैं। दण्ड में चार गुण होते हैं। इसमें साम, दान और भेद तीनों सम्मिलित होते हैं।

इन्हीं चार उपायों को मनु ने सामादि लिखकर व्यक्त किया है। इन उपायों के उचित प्रयोग से राजा को सिद्धि मिलती है। इन उपायों के उचित प्रयोग के विषय में मनु ने इस प्रकार व्यवस्था दी है—''विजय के अभिलाषी राजा को अपने परिपन्थियों को साम आदि समस्त उपायों के द्वारा वश में करना चाहिए। यदि वह प्रथम तीन उपायों (साम, दान और भेद) के द्वारा वश में न हों, तो ऐसी परिस्थिति में चौथे उपाय् अर्थात् दण्ड के द्वारा उनका दमन करना चाहिए। मनु अपने पूर्व के कतिपय पण्डितों का मत देते हुए व्यवस्था देते हैं ''पंडिगतगण सामादि चार उपायों में राष्ट्र की वृद्धि के निमित्त साम और इन उपायों की प्रशंसा करते हैं। जिस प्रकार खेती निरानेवाला कृषक धान्यों की रक्षा करता है और ऐसा करने के लिए तृणों का उन्मूलन करता है, उसी प्रकार राजा को धर्म-विरुद्ध आचरण धारण करने वालों का दण्ड के द्वारा दमन करना चाहिए। मनु दण्ड-प्रयोग को विवशता का साधन मानते हैं। इस विषय में उन्होंने इस-प्रकार व्यवस्था दी है—''साम, दाम और भेद इनमें से एक-एक से, अथवा तीनों के एक साथ प्रयोग द्वारा शत्रु पर विजय-प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए, युद्ध से नहीं। इन तीन उपायों के द्वारा जब सिद्धि प्राप्त न हो तब दण्ड का आश्रय लेना उचित होगा।

15.6 दूत

राज्यों के पारस्परिक संबंधों की गतिशीलता एवं स्थायित्व के लिए भारतीय शास्त्रकारों ने दूत-व्यवस्था को आवश्यक कहा है। राजाओं के विचारों का पारस्परिक आदान-प्रदान दूतों के द्वारा ही सम्भव हो सकता था। अतः कौटिल्य ने दूत को राजा का मुख माना है। उन्होंने लिखा है कि दूत रूपी मुख से ही राज-गण बात करते हैं। वह अन्तर्राज्य संबंधों के परम्परागत विधि-नियमों के अनुसार अवध्य माना जाता था। कौटिल्य ने लिखा है कि चाण्डाल दूत भी यदि इस परिस्थिति में हो तो वह अवध्य है; फिर ब्राह्मण दूत के वध का प्रश्न ही नहीं। शास्त्र-प्रणेताओं का यह तर्क था कि दूत, चाहे साधु हो अथवा असाधु, दूसरे का भेजा हुआ तथा दूसरे की बात करने वाला होता है, अतः उसके वध का कोई तर्क नहीं हो सकता है। कौटिल्य ने लिखा है कि दूत का धर्म तो दूसरे की बात को सत्य-सत्य कहना ही है। दूत-संबंधी इस विवेचना में यह स्पष्ट नहीं है कि आधुनिक युग की भांति पर राज्यों में उनके आचरणों के नियंत्रण की क्या विधियाँ थी। सम्भवतः इसकी आवश्यकता ही न पड़ी होगी, क्योंकि प्रायः सभी राज्यों की धर्म-विधि का एक ही सिद्धान्त था। उसमें मानव-मात्र के आचरणों के नियंत्रण की व्यवस्था थी। इतना अवश्य ध्वनित होता है कि दूत-व्यवस्था स्थायी नहीं थी। दूतावास की कोई आवश्यकता नहीं थी। अतः आवश्यकता की पूर्ति तक दूत किसी राज्य में निवास कर सकते थे। अर्थशास्त्र में कहा गया है कि जब तक राजा विदा न करे 'दूत वहीं निवास करे।' स्पष्ट है कि कौटिल्य

की वैदेशिक नीति, राज्य-नीति पूर्ण परिपक्व तथा तर्काधार पर नियोजित थी। तत्कालीन राज्यों का जो स्वरूप, व्यवस्था एवं स्थिति थी, उसके लिए कौटिल्य के मंडल सिद्धान्त की अवधारणा किसी राज्य के उत्कर्ष का सफल साधन थी।

15.7 सारांश

स्पष्ट है कि मंडल-योजना का ध्येय शक्ति की दृष्टि से विभिन्न स्तरीय राज्यों के अन्तःसंबंधों के एक सुव्यवस्थित तथा शान्तिपूर्ण स्वरूप की स्थापना तथा उनके अस्तित्व की संरक्षा करना था। पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और प्रतिद्वन्दिता का यह सिद्धान्त एक संतुलन है। आधुनिक राजनीतिज्ञ एवं दार्शनिक यूरोप को अन्तर्राष्ट्रीय विधि का प्रभाव-स्थल समझते हैं। किन्तु यह मंडल सिद्धान्त स्वरूप और निर्माण में भिन्न होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के उद्देश्य की पूर्ति में अधिक सफल है। इसमें अन्तर्राज्य-संबंधों की एक स्थायी व्यवस्था है।

15.8 उपयोगी पुस्तकें

1. प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा	डॉ0 लल्लनजी गोपाल
2. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् (हिन्दी व्याख्योपेतम्)	वाचस्पति गैरोला (व्याख्याकार)
3. प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति	प्रो0 अनंत सदाशिव अलतेकर
4. प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता	दामोदर धर्मानंद कोसम्बी
5. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास	ओम प्रकाश
6. चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल	राधाकुमुद मुखर्जी
7. मौर्य साम्राज्य का सांस्कृतिक इतिहास	प्रोफेसर भगवती प्रसाद पांथरी
8. अशोक और मौर्य साम्राज्य का पतन	रोमिला थापर

15.9 संबंधित प्रश्न

लघुउत्तरीय

1. विजिगीषु राजा के बारे में पाँच पंक्तियों में लिखें।
2. मंडल-सिद्धान्त के उद्देश्य को पांच पंक्तियों में लिखें।
3. कौटिल्य के अनुसार तटस्थ या उदासीन राज्य को पाँच पंक्तियों में व्यक्त करें।
4. उपाय के चार अंग - - - -

(a)________ (b)________ (c)________ (d)________ माने गए हैं।

दीर्घउत्तरीय

1. "राज्य-संबंधी तत्वों का कौटिल्य ने जितना वैज्ञानिक, सूक्ष्म एवं गहन चिन्तन किया, उतनी ही तार्किक उसने अन्तर्राज्य संबंधों की भी परिव्याख्या की।" विवेचना करें।

(अपना उत्तर 20 पंक्तियों में लिखें।)

2. "षाड्गुण्य-मंत्र राजमंडल-व्यवस्था का एक अनिवार्य एवं मूल-आधार है।" व्याख्या कीजिए।

(अपना उत्तर 20 पंक्तियों में लिखें।)

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. मंडल-सिद्धान्त का मुख्य उद्देश्य क्या था?
   - (a) प्राचीन भारतीय राजाओं को आपस में लड़ाना
   - (b) विभिन्न राज्यों के बीच शक्ति-संतुलन कायम रखना
   - (c) राजा को राज्य विस्तार में मदद करना
   - (d) शत्रु को परास्त करना

2. सही और गलत कथनों के आगे क्रमशः (✓) और (x) का निशान लगाइए।
   - (i) वैदिककाल के राज्य अधिकतर जन राज्य थे।
   - (ii) मंडल-सिद्धान्त का उद्देश्य राज्यों के बीच शक्ति-असंतुलन रखना था।
   - (iii) कौटिल्य के अनुसार राज प्रकृतियों के सात प्रकार नहीं थे
   - (iv) अमात्य ऐसे लोगों को बनाना चाहिए जो गुप्तकार्यों में राजा का साथ देते रहे हों।
   - (v) षाड्गुण्य-मंत्र राजमंडल-व्यवस्था का एक अनिवार्य एवं मूल आधार है।
   - (vi) उपाय के पाँच अंग माने गये हैं।
   - (vii) कौटिल्य ने दूत को राजा का मुख माना है।

3. रिक्त स्थानों को पूरा करें :
   - (i) दो राजाओं में जो पारस्परिक बन्धन होता है, उसे .... कहते हैं।
   - (ii) परस्पर एक दूसरे के अपकार में संलग्न हो जाना .... है।
   - (iii) समय या परिस्थिति की प्रतीक्षा में मौन बैठे रहना .... और एक राजा से संधि तथा दूसरे से विग्रह करना .... है।
   - (iv) किसी राजा का अपने को शत्रु अथवा बलवान् राजा को समर्पित कर देना .... है।

15.10 प्रश्नोत्तर

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. b
2. (i) ✓
   - (ii) x
   - (iii) x
   - (iv) ✓
   - (v) ✓
   - (vi) x
   - (vii) ✓
3. (i) सन्धि (ii) विग्रह (iii) आसन, द्वैधीभाव (iv) संश्रय

इकाई 16 : कौटिल्य एवं मैकियावेली का एक तुलनात्मक अध्ययन

इकाई की रुपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 कौटिल्य कालीन भारत एवं मैकियावेली कालीन इटली की राजनीतिक परिस्थितियाँ

16.3 कौटिल्य एवं मैकियावेली के बीच समानताएँ

16.4 कौटिल्य एवं मैकियावेली के बीच असमानताएँ

16.5 निष्कर्ष/सारांश

16.6 उपयोगी पुस्तकें

16.7 संबंधित प्रश्न

16.8 प्रश्नोत्तर

16.0 उद्देश्य

इस इकाई में कौटिल्य एवं मैकियावेली के चिन्तन पर एक तुलनात्मक विचार प्रस्तुत किया गया है। इसे पढ़ने के बाद आप निम्न विषय वस्तु को ग्रहण कर सकेंगे :

- राजनीति विचारकों या विचारों की तुलना करते समय किन सावधानियों को ध्यान में रखना चाहिए;
- कौटिल्य कालीन भारत की राजनीति एवं सामाजिक दशा;
- मैकियावेली कालीन इटली की राजनीति परिस्थितियाँ;
- कौटिल्य एवं मैकियावेली के विचारों में समानताएँ; एवं
- कौटिल्य एवं मैकियावेली के विचारों में भेद।

16.1 प्रस्तावना

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में विचारकों व विचारों की तुलना एक मान्य सिद्धान्त है। राजनीतिक जीवन के सत्य देशकाल परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट एवं व्यक्त होते हैं। फिर विचारकों की अपनी बौद्धिक एवं नैतिक मान्यताएँ भी उनकी दृष्टि को प्रभावित एवं निर्धारित करती हैं। लेकिन राजनीतिक चिन्तन के स्वरूप को निर्धारित करने वाला सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्त्व किसी सभ्यता या राष्ट्र विशेष की विचार परम्परा होती है। इस दृष्टि से पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का अपना विशिष्ट संदर्भ है और भारतीय राजनीतिक चिन्तन का अपना। बात यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती। प्राचीन या मध्यकालीन पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन की आधारशिला वे मान्याताएँ रही हैं जो आधुनिक चिन्तन को स्वीकार्य नहीं है। इसी प्रकार आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन के केन्द्रीय सिद्धान्त वे नहीं है जो प्राचीन चिन्तम के रहे। अतः अब हम राजनीतिक विचारकों या विचारों की तुलना करते हैं, तो इन सावधानियों को बरतना चाहिए -

- राजनीतिक विचारक का देशकाल

- सभ्यता या राष्ट्र विशेष की चिन्तन परम्परा
- विचारक की अपनी प्राथमिकताएँ

16.2 कौटिल्य कालीन भारत एवं मैकियावेली कालीन इटली की राजनीतिक परिस्थितियाँ

आधुनिक काल में कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' की पुनर्प्राप्ति के उपरान्त पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों का ध्यान कौटिल्य के राजदर्शन की ओर आकृष्ट हुआ। कौटिल्य का अर्थशास्त्र ई0पूर्व चौथी सदी में लिखा गया जब भारत में परम्परागत जीवन प्रणाली काफी दृढ़ता के साथ स्थापित थी लेकिन भारतीय राज्य को आन्तरिक एवं बाह्य शक्तियों से बड़ी चुनौतियाँ मिल रहीं थी। भारत की प्राचीन सभ्यता को न केवल यूनानी आक्रान्ता पददलित कर रहे थे, वरन् आन्तरिक दृष्टि से भारत में राजनीतिक विश्रृंखलन विद्यमान था। यदि पुर्नजागरण कालीन इटली पर हम दृष्टिपात करें तो कुछ इसी प्रकार की स्थिति वहाँ दृष्टिगोचर होती है। इटली में भी राजनीतिक विशृंखलन विद्यमान था और उसकी राष्ट्रीयता एवं संस्कृति को पड़ोसी देशों के षड्यंत्रों व विस्तारवादी इरादों से निरन्तर खतरा बना रहा था। इस प्रकार कौटिल्य कालीन भारत और मैकियावेली कालीन इटली की राजनीतिक परिस्थितियाँ लगभग एक जैसी थीं। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वानों Winternitz एवं Bottazi ने विचार प्रकट किया है कि दोनों ने इन परिस्थितियों का सामना करने के लिए एक जैसे राजनीतिक सिद्धान्तों एवं रणनीति का प्रतिपादन किया। अतः दोनों में काफी समानता है।

16.3 कौटिल्य एवं मैकियावेली के बीच समानताएँ

कौटिल्य को 'भारतीय मैकियावेली' कहने वाले दोनों में निम्न समानताएँ देखते हैं–

दोनों ही राजनीतिक विचारक विघटनकारी एवं अराजक प्रवृत्तियों से निपटने के लिए राजनीतिक शक्ति को बहुत महत्वपूर्ण स्थान देते हैं, इसलिए दोनों के चिन्तन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय शक्ति की प्राप्ति, उसका रक्षण एवं संवर्धन है। दोनों राज्य को सुदृढ़ एवं शक्तिशाली देखना चाहते हैं, और इसके लिए क्रूर और कठोर साधनों के प्रयोग की अनुमति प्रदान करते हैं। मैकियावेली कहता है कि राजा को शेर की तरह बहादुर व लोमड़ी की तरह चालाक होना चाहिए और अपनी शक्ति का विस्तार करने के लिए वह नैतिक-अनैतिक कोई उपाय अपनाने के लिए स्वतंत्र है। "It is necessary for a prince to know how to use both the beast and the man." Machiavelli. उसने 'Discourse' में कहा कि 'युद्ध में छलकपट बहुत लाभकारी हैं।' कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति एवं सुरक्षा के लिए षड्यंत्र, हत्या, विष आदि के प्रयोग को उचित माना गया है। संकट के समय पाखण्ड, प्रजा की सम्पत्ति का हरण, हिंसा एवं झूठ-फरेब को वह उचित मानता है। इसी प्रकार मैकियावेली कहता है—"जब राज्य की सुरक्षा दाँव पर लगी हो, तो न्याय-अन्याय, क्रूरता-दयालुता, लज्जा-निर्लज्जता का कोई विचार नही करना चाहिए एवं केवल वह मार्ग चुनना चाहिए जिससे राज्य की रक्षा हो सके।"

- कौटिल्य व मैकियावेली की 'शक्ति-राजनीति के पीछे मानव स्वभाव का निराशावादी सिद्धान्त विद्यमान है। दोनों ही मनुष्य को दुष्ट एवं अविश्वनीय मानते हैं, और इसलिए शासक को कोर एवं क्रूर होना पड़ेगा। मैकियावेली के अनुसार 'मनुष्य सामान्यतः कृतघ्न, चंचल, धोखेबाज, कायर, ललाची और दुर्भाग्यापूर्ण होता है .... जब तक परिस्थितियाँ ही उसे सत्यनिष्ठ होने के लिए बाध्य न कर दें, वह हमेशा असत्य पर ही चलेगाा।" मानव की इन्ही विकृतियों को कौटिल्य ने भी अपनी राजनीतिक मान्यताओं के मूल में रखा है। वह कहता है 'कर्कट की भांति राजा के पुत्र राजा को खा जाते है।" कौटिल्य ने राजा

की सुरक्षा पर बहुत बल दिया है क्योंकि मानव षड्यंत्रकारी होता है। राजा के परिवारजन भी विश्वसनीय नहीं होते। अतः राजा को उनसे निरन्तर सावधान रहना चाहिए।

- मैकियावेली एवं कौटिल्य दोनों शासक को लौहपुरुष के रूप में देखते हैं और दोनों का आदर्श एक ऐसा राजनेता है जो विरोधियों एवं शत्रुओं को पददलित कर एक सुदृढ़ राष्ट्र की स्थापना कर सके। कौटिल्य ने चन्द्रगुप्त मौर्य के रूप में एक शक्तिशाली राजा को हमारे समक्ष, प्रस्तुत किया, तो मैकियावेली सीजर बोर्जिया जैसा शक्तिशाली एवं वीर शासक इटली के लिए चाहता था। दोनों ही मानते हैं कि राज्य का स्वरूप, इसकी शक्ति एवं सुरक्षा राजा पर निर्भर करती है

- मैकियावेली एवं कौटिल्य दोनों ने परिस्थितियों के अनुसार राजतंत्र एवं गणतंत्र को श्रेष्ठ शासन प्रणाली माना है, एवं दोनों का वर्णन अपनी रचनाओं में किया है। मैकियावेली के अनुसार एक नव-संस्थापित राज्य के लिए, एक भ्रष्ट राज्य के लिए राजतंत्र सर्वोत्तम शासन है, पर सामान्यतः वह गणतंत्र का ही पक्षधर है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी गणतांत्रिक राज्यों यथा कम्बोज, मद्रक, पांचाल, लिच्छवी आदि का काफी वर्णन मिलता है, साथ ही वह राजतंत्र की भी विस्तारपूर्वक विवेचना करता है।

- मैकियावेली एवं कौटिल्य दोनों ही राजनीति में भाग्य की भूमिका को महत्व प्रदान करते हैं। कौटिल्य मानता है कि राजनीतिक जीवन एवं घटनाओं को दैव कारण भी प्रभावित करते रहते हैं। मैकियावेली भी भाग्य या संयोग को महत्व प्रदान करता है। उसकी पुस्तक 'प्रिंस' का 25 वाँ अध्याय इसी बात की व्याख्या करता है कि मानवीय जीवन में भाग्य क्या कर सकता है और उसका किस प्रकार सामना किया जाए। उसके शब्दों में "जहाँ मनुष्य में बुद्धिमानी एवं हिम्मत की कमी होती है, भाग्य की भूमिका निर्णायक होती हैं भाग्य परिवर्तनशील है, अतः उसके प्रभाव से राज्यों में भी उतार-चढ़ाव आते रहते हैं।"

16.4 कौटिल्य एवं मैकियावेली के बीच असमानताएँ

यद्यपि मैकियावेली एवं कौटिल्य के चिन्तन में उक्त समानताएँ विद्यमान हैं, फिर भी वी0आर0 दीक्षितार एवं कालीदास नाग जैसे विद्वान् इस विचार से कतई सहमत नहीं हैं। वे मानते हैं कि दोनों विचारकों की मूल प्रतिस्थापनाओं, उनके लक्ष्यों व आदर्शों में आधारभूत अन्तर है। कौटिल्य एवं मैकियावेली में निम्न आधारों पर महत्वपूर्ण अन्तर देखा जा सकता है—

- कौटिल्य भारतीय राजशास्त्र की लम्बी परम्परा की महत्वपूर्ण कड़ी है, जबकि मैकियावेली पुर्नजागरण काल की बौद्धिक एवं राजनीतिक प्रवृतियों का प्रतिनिधि मात्र है, और उद्देश्य एवं लक्ष्य की दृष्टि से उसका राजदर्शन न तो यूनानी और न ही मध्ययुगीन राजदर्शन का उत्तराधिकारी कहा जा सकता है। कौटिल्य भारतीय परम्परा में प्रतिपादित चार पुरुषार्थों के संदर्भ में ही राजनीति पर विचार करता है, इसी दृष्टि से वह राजधर्म का प्रतिपादन करता है। समकालीन राजनीतिक परिस्थितियों से वह भली भाँति परिचित है, वह राजनीतिक विश्रृंखलन से चिन्तित भी है, पर तत्कालीन समस्याओं का समाधान वह भारतीय राजनीतिक चिन्तन की सुदीर्घ परम्परा में प्रतिपादित राजधर्म की अवधारणा में देखता है। कौटिल्य इस सनातन सत्य को मानता है कि राजधर्म का लोप हो जाने से अराजकता एवं विघटन उत्पन्न होता है। इस प्रकार समकालीन विकृतियों व विद्रूपताओं का हल वह राजधर्म की शाश्वत मान्यताओं में ढूंढ़ता है। मैकियावेली इस प्रकार के किन्हीं शाश्वत सिद्धान्तों में विश्वास नहीं करता, उसकी दृष्टि केवल पुर्नजागरण काल के इटली पर है और उस इटली के एकीकरण की राजनीतिक तकनीक के प्रतिपादन तक उसकी भूमिका सीमित है। मैकियावेली की दृष्टि इतिहासपरक है, कौटिल्य की परम्परागत। मैकियावेली यदि इतिहासवादी (Historicist) है तो कौटिल्य परम्परा (Tradition) का प्रबल संरक्षक है।

कौटिल्य के अनुसार धर्म एवं नीति में वही संबंध है जो शरीर एवं उसके अंग में। धर्म एक सम्पूर्णतत्व है एवं नीति उसका अंग है, धर्म साध्य है और नीति साधन है। इसलिए कौटिल्य का यह स्पष्ट विचार है कि किसी राज्य का मूल दायित्व यह है कि वह अपनी जनता को चारों पुरुषार्थों धर्म, काम, अर्थ एवं मोक्ष में प्रवृत्त करने का प्रयास करे। दण्डशक्ति का प्रयोग उसे इस प्रकार करना चाहिए कि दुष्टों का दमन हो और शिष्टों को स्वधर्म पालन का समुचित अवसर प्राप्त होता रहे। विशेष एवं असाधारण परिस्थितियों में राजा को धर्म व राज्य की रक्षा के लिए ऐसे कार्यों को करने का अधिकार है जो सामान्य नैतिकता की दृष्टि से उचित नहीं माने जाते। परन्तु कौटिल्य निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी राजा का कतई समर्थक नहीं है। भारतीय राजशास्त्र में प्रतिपादित राजधर्म की मर्यादा में रहते हुए शासक को कार्य करना है। अर्थशास्त्र में राजा के नैतिक बौद्धिक गुणों पर बहुत बल दिया गया है। आत्मसंयम व आत्मानुशासन राजा के मित्र एवं इन्द्रियसुख की तृष्णा उसके शत्रु माने गए हैं। 'अर्थशास्त्र' में युधिष्ठिर, नल, अम्बरीश आदि धर्मनिष्ठ एवं सदाचारी सम्राटों की बहुत प्रशंसा की जाती है, जबकि रावण, जनमेजय, ऐल आदि स्वेच्छाचारी शासकों के पतन का कारण उनकी पाप-वृत्तियाँ मानी गयी हैं।

मैकियावेली का दृष्टिकोण इससे नितान्त भिन्न है। वह भौतिक समृद्धि को ही साध्य के रूप में देखता है और मनुष्य या राज्य के कोई लोकोत्तर लक्ष्य नहीं मानता। धर्म एवं नीति के प्रति उसका दृष्टिकोण शुद्ध उपयोगितावादी है। वह कहता है कि धर्म के प्रति निष्ठा लोगों में कानून पालन की प्रवृत्तियों को दृढ़ करती है एवं राज्य की एकता में सहायक है। वह ईसाई नीतिशास्त्र की इस आधार पर आलोचना करता है कि यह मनुष्य में नकारात्मक तत्वों की वृद्धि करता है। विनम्रता, उदारता एवं त्याग जैसे गुणों को यदि अधिक महत्व दिया जाएगा तो राज्य दुर्बल हो जाएंगे। वह वीरोचित गुणों का पक्षधर है और मानता है कि यदि राजा नैतिक बौद्धिक गुणों की खोज में लग गया तो राजशक्ति हाथ से निकल जाएगी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मैकियावेली के लिए राज्य एवं राजशक्ति ही साध्य है जिसे येन केन प्रकारेण हासिल करना राजा का एकमात्र कर्तव्य है।

- कौटिल्य वैदिक धर्म, एवं परम्परा का अनुयायी है, उसके सामाजिक राजनीतिक सिद्धान्त वैदिक जीवन दर्शन को परिलक्षित करते हैं। उसके चिन्तन में गम्भीरता व गहनता विद्यमान है। वह हिन्दू शास्त्रों व दार्शनिक ग्रंथों का विद्वान् है। मैकियावेली पुनर्जागरण काल का प्रतिनिधि है। धर्मनिरपेक्षतावाद, भौतिकवाद आदि मान्यताएं उसके दृष्टिकोण को निर्धारित करती है। उसका ज्ञान सीमित है एवं उसके प्रतिपादन में वह गहनता व गंभीरता भी प्राप्त नहीं होती, जो कौटिल्य के राजदर्शन में है।

16.5 सारांश

कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में राजनीति, प्रशासन, सैन्यकला, अर्थ-प्रबन्ध, आदि विविध पक्षों का विवेचन है। वस्तुतः कौटिल्य का अर्थशास्त्र एक सम्पूर्ण जीवन दृष्टि का प्रतिपादन करता है, जबकि मैकियावेली राजनीतिक जीवन के कुछ पक्षों व प्रवृतियों का ही स्पर्श करता है। दोनों नितान्त भिन्न सभ्यताओं व जीवन दृष्टियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। दोनों के आदर्श भिन्न हैं, साध्य भिन्न हैं और इसलिए उनकी राजनीतिक मान्यताएँ भी भिन्न प्रकार की हैं। वस्तुतः दोनों में समानता उतनी अधिक नहीं है, जितनी भिन्नता। कुछ कृत्रिम एवं परिस्थितिगत समानताओं के आधार पर दोनों को एक दृष्टिकोण का प्रतिपादक मान बैठना उचित नहीं होगा। कौटिल्य भारतीय मैकियावेली नहीं है एवं मैकियावेली आधुनिक कौटिल्य नहीं है।

16.6 उपयोगी पुस्तकें

1. प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा — डॉ0 लल्लनजी गोपाल

2. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् (हिन्दी व्याख्योपेतम्) — वाचस्पति गैरोला (व्याख्याकार)
3. प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति — प्रो0 अनंत सदाशिव अलतेकर
4. प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता — दामोदर धर्मानंद कोसम्बी
5. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास — ओम प्रकाश
6. चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल — राधाकुमुद मुखर्जी
7. मौर्य साम्राज्य का सांस्कृतिक इतिहास — प्रोफेसर भगवती प्रसाद पांथरी
8. अशोक और मौर्य साम्राज्य का पतन — रोमिला थापर

16.7 संबंधित प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

2. राजनीतिक विचारकों या विचारों की तुलना करते वक्त किन सावधानियों को बरतना चाहिए।

3. कौटिल्य एवं मैकियावेली कालीन राजनीतिक परिस्थितियों की चर्चा करें।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

4. कौटिल्य एवं मैकियावेली में क्या समानताएँ हैं।

5. कौटिल्य एवं मैकियावेली में क्या असमानताएँ हैं।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्न कथनों में से कौन से सही (✓) है और कौन गलत (×) निशान लगाइए।

   (क) राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में विचारकों एवं विचारों की तुलना एक मान्य सिद्धान्त है। ( )

   (ख) कौटिल्य को 'भारतीय मैकियावेली' माना जाना उचित है। ( )

   (ग) मैकियावेली की दृष्टि परम्परागत एवं कौटिल्य की दृष्टि इतिहासपरक है। ( )

   (घ) कौटिल्य के सामाजिक राजनीतिक सिद्धान्त वैदिक जीवन को परिलक्षित करते हैं। ( )

   (ङ) कौटिल्य एवं मैकियावेली में समानताएँ कम और भिन्नताएं अधिक है। ( )

16.8 प्रश्नोत्तर

1. (क) ✓

   (ख) (×)

   (ग) (×)

   (घ) ✓

   (ङ) ✓

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय

MAPS – 02
प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन

खण्ड

5

शुक्रनीति एवं कामंदक नीति सार

इकाई 17

शुक्र के राजत्व तथा मंत्रिपरिषद् संबंधी विचार 5

इकाई 18

कोष तथा सेना पर शुक्र के विचार 18

इकाई 19

कामन्दक के राजत्व संबंधी विचार 32

इकाई 20

कामन्दक के अन्तर्राज्य संबंधी विचार 44

विशेषज्ञ समिति

प्रो. देवेन्द्र प्रताप सिंह — अध्यक्ष
कुलपति
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

डॉ. आर.के. मणि त्रिपाठी — विषय विशेषज्ञ
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर

डॉ. एल.डी. ठाकुर — विषय विशेषज्ञ
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
राजनीतिशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रो. एस.एम. सईद — विषय विशेषज्ञ
राजनीतिशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

डॉ. मंजूलिका श्रीवास्तव — दूरस्थ शिक्षा विशेषज्ञ
रीडर, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

डॉ. आर.के. बसलस — सचिव
कुलसचिव
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

कार्यक्रम संयोजक : डॉ. हरीश चन्द्र जायसवाल, परामर्शदाता, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सम्पादन : प्रो. एस. के. द्विवेदी, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

PGPS-02 :– *प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन*

लेखक मण्डल

खण्ड एकः डॉ. मुकुल अस्थाना, रीडर,राजनीतिशास्त्र विभाग, सेन्ट एन्ड्रूज पी.जी. कालेज, गोरखपुर — 2 इकाई
खण्ड एकः डॉ. कार्तिकेय, राजनीतिशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद — 2 इकाइ
खण्ड दोः प्रो. राकेश कुमार मिश्र, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ — 4 इकाई
खण्ड तीनः डॉ. बी.के. राय, राजनीतिशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद — 4 इकाई
खण्ड चारः डॉ. कमल कुमार रीडर, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ — 4 इकाई
खण्ड पाँचः डॉ. के.सी. पाण्डेय, राजनीतिशास्त्र विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी — 4 इकाई

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य का कोई भी अंश उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुति अनुमन्य नहीं है।

दूरस्थ शिक्षा परिषद, नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित।

खण्ड 5 का परिचय : शुकनीति एवं कामन्दक नीति सार

सेमेस्टर प्रथम पाठ्यक्रम द्वितीय का खण्ड पाँच शुक्रनीति और कामन्दक के नीतिसार से संबंधित है। यह खण्ड चार इकाइयों में विभक्त है। इकाई प्रथम में शुक्र के राजत्व तथा मंत्रिपरिषद् संबंधी विचार, इकाई द्वितीय में काष तथा सेना पर शुक्र के विचार, इकाई तृतीय में कामन्दक के राजत्व संबंधी विचार एवं इकाई चतुर्थ में कामन्दक के अन्तरराज्य संबंधी विचार प्रस्तुत हैं।

इकाई प्रथम 'शुक्र के राजत्व तथा मंत्रिपरिषद् संबंधी विचार' 8 उपशीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत है

(1) राज्य संबंधी विचार,

(2) राजा संबंधी विचार,

(3) कर्मचारी संबंधी विचार,

(4) न्यायव्यवस्था संबंधी विचार,

(5) ग्राम के सुप्रबन्ध हेतु विचार,

(6) नगर के सुप्रबन्ध हेतु विचार,

(7) मंत्र संबंधी विचार और

(8) मंत्रिपरिषद् संबंधी विचार।

इकाई द्वितीय, 'कोश तथा सेना पर शुक्र के विचार' 6 उपशीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत है–

(1) कोष की वृद्धि संबंधी विचार,

(2) नीतिनिपुणता संबंधी विचार,

(3) बल संबंधी विचार,

(4) सेना के प्रकार संबंधी विचार,

(5) अस्त्र-शस्त्र संबंधी विचार और

(6) युद्ध संबंधी विचार।

इकाई तृतीय 'कामन्दक के राजत्व संबंधी विचार' 7 उपशीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत है–

(1) राज्य संबंधी विचार,

(2) राजा संबंधी विचार,

(3) आर्थिक व्यवस्था संबंधी विचार,

(4) मंत्र संबंधी विचार,

(5) कर्मचारी संबंधी विचार,

(6) कोष संबंधी विचार और

(7) सैन्यबल संबंधी विचार।

इकाई चतुर्थ 'कामन्दक के अन्तरराज्यसंबंधी विचार' 4 उपशीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत है–

(1) मण्डल सिद्धान्त,

(2) मंत्र संबंधी विचार,

(3) उपाय संबंधी विचार और

(4) युद्ध संबंधी विचार।

शुक्र और कामन्दक संबंधी विषय परिचय इकाई प्रारंभ होते समय एवं विषयवस्तु का सार इकाई के अंत में प्रस्तुत है।

इकाई 17 : शुक्र के राजत्व तथा मंत्रिपरिषद् संबंधी विचार

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 विषय परिचय

17.3 राज्य संबंधी विचार

17.4 राजा संबंधी विचार

17.5 कर्मचारी संबंधी विचार

17.6 न्याय व्यवस्था संबंधी विचार

17.7 ग्राम के सुप्रबन्ध हेतु विचार

17.8 नगर के सुप्रबन्ध हेतु विचार

17.9 मंत्री संबंधी विचार

17.10 मंत्रीपरिषद संबंधी विचार

17.11 उपयोगी पुस्तकें

17.12 सम्बन्धित प्रश्न

17.13 प्रश्नोत्तर

17.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जानेगें-

- शुक्र के राजत्व एवं मंत्रीपरिषद संबंधी विचार।
- नगरीय एवं ग्रामीण प्रबंधन के बारे में।
- लोकहितार्थ के आवश्यक तत्वों के बारे में।

17.1 प्रस्तावना

शुक्र एक ऋषि थे। ये दैत्यों के गुरु और महर्षि भृगु के पुत्र थे। इनकी कन्या का नाम देवयानी और पुत्रों का षंड तथा अमर्क था। देवगुरु बृहस्पति के पुत्र कच ने इनसे संजीवनी विद्या सीखी थी। पौराणिक उपाख्यान के शर्मिष्ठा-देवयानी-संवाद में तथा वलिराज के यज्ञ में इनकी क्रूरता और चक्षुहीनता का परिचय मिलता है।

शुक्राचार्य-आश्रम के द्वारा ज्ञान-प्रसार का जो कार्य हुआ उस सब का श्रेय इस आश्रम के प्रवर्तक शुक्र को ही दिया जाता है। इस आश्रम के द्वारा किए गए ज्ञान-प्रसार-संबंधी साहित्य में केवल एक ग्रंथ उपलब्ध है– वह शुक्रनीति है। इसलिए शुक्रनीति में राजशास्त्र संबंधी जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, वे शुक्राचार्य आश्रम की ही देन समझे जाएंगी।

17.2 विषय परिचय

जगत् की उत्पत्ति, पालन तथा नाश के कारण जगत् के आधार स्वरूप परमात्मा को प्रणाम तथा

पूजन कर भृगुपुत्र शुक्राचार्य ने असुरों के द्वारा पूजा, स्तुति तथा वन्दना करने के बाद पूछे जाने पर उनसे न्यायानुसार नीतियों में श्रेष्ठ जिस एक करोड़ श्लोकों वाला नीतिशास्त्र का वर्णन किया वही शुक्रनीति कहलाया।

17.3 राज्य संबंधी विचार

शुक्र राज्य के अवयवी स्वरूप में आस्था रखते हैं। उनके मतानुसार राज्य एक अवयवी है, जिसका निर्माण सात अवयवों के संयोग से होता है जिन्हें वह राज्य के सात अंग मानते हैं। शुक्रनीति अध्याय 1 के श्लोक 61 के अनुसार ये सात अंग हैं–

(1) स्वामी,

(2) अमात्य,

(3) सुहृद्,

(4) कोष,

(5) राष्ट्र,

(6) दुर्ग और

(7) बल।

शुक्र ने राज्य के इन सात अंगों के आपेक्षिक महत्त्व का भी उल्लेख किया है। शुक्रनीति अध्याय 1 के श्लोक 61 और श्लोक 62 के अनुसार स्वामी का स्थान सर्वोच्च है। वह राज्य का मस्तक एवं मूल है। अमात्य नेत्र है। सुहृद् कान है। कोष मुख है। दुर्ग हाथ है। राष्ट्र पाद है। बल मन है। इस प्रकार शुक्र ने राज्य के अवयवी स्वरूप की स्पष्ट स्थापना उससे पुरुष की समता देकर की है। इसी प्रसंग में दूसरे स्थल पर वह राज्य की उपमा वृक्ष से तथा उसके अंगों की तुलना वृक्ष के अवयवों से करते हैं। शुक्रनीति अध्याय 4 के श्लोक 12, श्लोक 57 और श्लोक 58 के अनुसार राज्य एक वृक्ष है। जिसका मूल राजा है, उसका स्कन्ध मन्त्री, उसकी शाखा सेनापति, उसके पल्लव और कुसुम सेना, फल प्रजा और बीज भूभाग है।

17.4 राजा संबंधी विचार

राजा की उत्पत्ति के विषय में शुक्र के मतानुसार राजा का निर्माण आठ प्रधान देवों के विशिष्ट अंशों के संयोग से हुआ। ये वे देवांश हैं जिनकी आवश्यकता राज्य-संचालन हेतु अनिवार्य है। शुक्रनीति अध्याय 1 श्लोक 71 के अनुसार जिन आठ प्रधान देवों के विशिष्ट देवांशों को संग्रहीत कर राजा का निर्माण किया गया, वे हैं–

(1) इन्द्र,

(2) वायु,

(3) यम,

(4) सूर्य,

(5) अग्नि,

(6) वरुण,

(7) चन्द्र और

(8) कुबेर।

परन्तु शुक्र सभी राजाओं को दैवी राजा का पद देने के पक्ष में नहीं हैं। शुक्रनीति अध्याय 1 के श्लोक 35 के अनुसार प्रकृति के तीन गुणों– तम, रज और सत के आधार पर राजाओं को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है–

(1) जिन राजाओं में तमोगुण का प्राधान्य है

(2) जिन राजाओं में रजोगुण का प्राधान्य है और

(3) जिन राजाओं में सतोगुण का प्राधान्य है।

तमोगुण प्राधान्यवाला राजा राक्षसांशधारी राजा की श्रेणी में, रजोगुण प्राधान्यवाला राजा मानवांशधारी राजा की श्रेणी में और सतोगुण प्राधान्यवाला राजा दैवी राजा की श्रेणी में आता है। इस दृष्टि से शुक्र ने जिस दैवी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, वह राजशास्त्र के इतिहास में अपना पृथक स्थान रखता है और उसकी समता तत्सम्बन्धी अन्य सिद्धान्तों से नहीं की जा सकती।

शुक्र ने राजा की नियुक्ति के कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, वे इस प्रकार हैं–

(1) पैतृक अधिकार का सिद्धान्त,

(2) ज्येष्ठता का सिद्धान्त,

(3) शारीरिक परिपूर्णता का सिद्धान्त,

(4) चारित्रिक योग्यता का सिद्धान्त,

(5) प्रजा की अनुमति का सिद्धान्त और

(6) राज्याभिषेक का सिद्धान्त।

पैतृक अधिकार सिद्धान्त से शुक्र का तात्पर्य यह है कि राजा के द्वारा राजपद के रिक्त किए जाने पर उसके पुत्र को वह रिक्त राजपद प्राप्त होना चाहिए। इस सिद्धान्त का मूल आधार जनता के इस विश्वास पर निर्भर है कि मनुष्य के आचरण के निर्माण पर पिता के आचरण का गहन प्रभाव पड़ता है। रक्त का प्रभाव वातावरण के प्रभाव की अपेक्षा बलिष्ठ एवं अधिक प्रभावशाली होता है। राजघराने में पालन-पोषण होने और उसके जीवन में निरन्तर सम्पर्क में रहने के कारण, राजकुमार को रजोचित गुणों की प्राप्ति स्वभावत: हो जाती है। अत: राजा के पुत्र को अपने पिता द्वारा रिक्त किए गए पद को ग्रहण करने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। ऐसा इसलिए भी क्योंकि राजा की मृत्यु के उपरान्त राजपद की प्राप्ति हेतु कलह होना अनिवार्य है। यह कलह अराजकता एवं विप्लव का रूप धारण कर सकती है। ऐसी परिस्थिति में इस कलह को सीमित करने के लिए यह उचित है कि राज्याधिकार की सीमा राजवंश तक ही सीमित कर दी जाय, जिससे सर्वसाधारण जनता इस कलह से मुक्त रहे और शान्तिपूर्वक अपने कर्त्तव्यों का पूर्ववत् पालन करती रहे। इन्हीं कारणों के होते हुए शुक्र ने राज्याधिकार के पैतृक सिद्धान्त की स्थापना की। किन्तु शुक्रनीति अध्याय 1 के श्लोक 123 और श्लोक 124 ने यह व्यवस्था दी है कि प्रजा के गुण, नीति और बल का द्वेषी राजा कुलक्रमागत होने पर भी अधार्मिक समझा जाएगा। इस प्रकार के राष्ट्र-विनाशक राजा की भक्ति का परित्याग कर देना चाहिए। ऐसी परिस्थिति में पुरोहित को चाहिए कि इस राजा के स्थान में राजकुल से उत्पन्न किसी दूसरे व्यक्ति को प्रजा की अनुमति प्राप्त कर स्थापित कर दे।

ज्येष्ठता के सिद्धान्त से शुक्र का तात्पर्य यह है कि राज्य का अधिकारी राजा का ज्येष्ठ पुत्र होता है। शुक्रनीति अध्याय 2 के श्लोक 264 से श्लोक 266 तक यह विचार प्रस्तुत करते हैं कि पिता ही पुत्र-रूप में पुन: उत्पन्न होता है। ज्येष्ठ पुत्र में पिता की आत्मा का प्रतिबिम्ब पूर्णरूप से माना जाता है। चूँकि राजा के ज्येष्ठ पुत्र में अपने अन्य भ्राताओं की अपेक्षा राजपद के लिए वांछनीय गुण अधिक मात्रा में होने की संभावना की जाती है इसलिए राजा के ज्येष्ठ पुत्र को अपने पिता के राज्य का अधिकारी माना जाना चाहिए। शुक्रनीति अध्याय 1 का श्लोक 341 यह व्यवस्था प्रदान करता है कि यदि राजकुल में अनेक राजकुमार हों तो ऐसी परिस्थिति में ज्येष्ठ को ही राजपद दिया

जाता है। अन्य भ्राता अपने ज्येष्ठ भ्राता के ही कार्य के साधक होते हैं। यदि इस नियम का उल्लंघन किया जाएगा तो राज्य अनेक भागों में विभक्त हो जाएगा और यह राज्य के लिए नितान्त अनिष्टकर सिद्ध होगा। शुक्रनीति अध्याय 1 के श्लोक 345 के अनुसार राज्य के अनेक भागों में विभक्त हो जाने से राजा का अकल्याण होता है क्योंकि जब राज्य अनेक भागों में विभक्त हो जाता है तो इसके इन छोटे-छोटे भागों का अपहरण करने के लिए शत्रु सचेष्ट हो जाते हैं।

शारीरिक परिपूर्णता के सिद्धान्त के अनुसार राजपद के लिए शारीरिक परिपूर्णता का प्रतिबन्ध अनिवार्य है। अंगहीनता शारीरिक अपूर्णता है और वह व्यक्तित्व के विकास में बाधक होती है। इसलिए शुक्र ने अंगहीन व्यक्ति को राजपद के अधिकार से वंचित करने का आदेश दिया है। शुक्रनीति अध्याय 1 का श्लोक 342 यह व्यवस्था प्रदान करता है कि यदि ज्येष्ठ भ्राता बधिर, गूँगा, अन्धा अथवा नपुसंक हो तो वह राज्याधिकारी नहीं होता। उसके स्थान पर उसका भ्राता अथवा उसका पुत्र राजपद का अधिकारी होगा। इसलिए राजपद पर राजा के ज्येष्ठ पुत्र को अधिकार तो है परन्तु यह अधिकार तभी तक प्राप्त होता है, जब तक कि वह शरीर दोष से मुक्त रहता है। अंगहीनता उसके लिए एक ऐसी अयोग्यता है, जो उसको अन्य प्रकार से योग्य होने पर भी राज्याधिकार से वंचित कर देती है।

चारित्रिक योग्यता का सिद्धान्त राजा की चारित्रिक योग्यता को महत्त्व प्रदान करता है। शुक्रनीति अध्याय 1 का श्लोक 97 यह कहता है कि विषय एक विशाल वन है, जिसमें इन्द्रियरूप मदोन्मत्त हाथी घूम रहे हैं। राजा को ज्ञानरूपी अंकुश से इन इन्द्रिय रूपी मदोन्मत्त हाथियों को सदैव वश में रखना चाहिए। यह मन व्याघ बनकर विषयरूपी मांस के लोभ से इन्द्रियरूप श्येन को निरन्तर छोड़ता रहता है। राजा इस मन को प्रयत्नपूर्वक दमन करता रहे। शुक्रनीति अध्याय 1 के श्लोक 98 के अनुसार यदि उसने इस मन का दमन कर लिया तो उसके जितेन्द्रिय होने में संशय नहीं रहता। श्लोक 99 के अनुसार जिस राजा का मन विषयों में फँस जाता है, वह हाथी के समान बन्धन को प्राप्त होता है। श्लोक 100 के अनुसार जो राजा अकेले मन को वश में करने में भी असमर्थ है, वह कायर राजा समुद्र पर्यन्त इस सम्पूर्ण पृथ्वी को विजय करने में क्योंकर समर्थ हो सकेगा, अर्थात् जिस राजा का मन और उसकी इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं, वह राज्याधिकारी नहीं है। श्लोक 118 के अनुसार जुआ, स्त्री सम्भोग और सुरापान ये तीनों अमुक्ति से सेवन करने पर महान अनर्थ के कारण माने गए हैं। नल, धर्मराज युधिष्ठिर आदि द्यूत से ही नष्ट हुए। परस्त्री की कामना करने वाले बहुत से राजा नष्ट हो गए। इनमें इन्द्र, दण्डक्य, नहुष, रावण आदि के उदाहरण जगत् प्रसिद्ध हैं। श्लोक 118 के अनुसार राजा को परस्त्री सम्भोग में काम, परधन हरण में लोभ तथा प्रजा को दण्ड देने में क्रोध का आश्रय नहीं लेना चहिए। उसे धर्मशास्त्र का अध्ययन कर अपने मन और अपनी इन्द्रियों को यथोचित रोकते रहना चाहिए। श्लोक 122 के अनुसार राजा को अपना आचरण इस प्रकार बनाना चाहिए जिससे उसे इस लोक में यश और परलोक में आनन्द की प्राप्ति हो सके।

श्लोक 138 के अनुसार यौवन, जीवन, धन, कान्ति, लक्ष्मी, स्वामित्व ये छह चंचल हैं, ऐसा समझकर उसे नित्य धर्मपरायण होना चाहिए। श्लोक 142 के अनुसार राजा को काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान और मद इन छह दुर्गुणों का त्याग कर देना चाहिए। ऐसा करने पर ही राजा सुखी होगा। राजा को सदैव विभिन्न विधाओं के ज्ञान का अर्जन करते रहना चाहिए। इन विधाओं के ज्ञान से ही धर्म की स्थिति रह सकती है। श्लोक 151 के अनुसार उसे बलवान्, बुद्धिमान्, शूरवीर और समय पर उचित पराक्रम दिखाने वाला होना चाहिए। श्लोक 174 के अनुसार इसी प्रकार का राजा सम्पत्ति के सम्पन्न इस वसुधा को भोगने में समर्थ होता है और वही सच्चा राजा होता है। श्लोक 175 के अनुसार बल, बुद्धि और शौर्य– ये राजा के उत्तम गुण हैं। शुक्रनीति अध्याय 1 के श्लोक 71 और श्लोक 77 के अनुसार राजा में इन्द्र, वायु, यम, कुबेर, सूर्य, अग्नि और चन्द्र के गुण होने चाहिए। उसको इन्द्र के समान पराक्रमी, वायु के समान परोपकारी, यम के समान दुष्टों का दमन करने वाला, कुबेर के सामान दानी, सूर्य के समान प्रकाश (ज्ञान-प्रसार) करने वाला, अग्नि के समान प्रबल और चन्द्रवत् आह्लादकारी होना चाहिए। राजा में वे सभी गुण होने चाहिए, जिनसे

उसकी प्रजा उसको अपना माता-पिता अथवा गुरु, भ्राता और बन्धु समझने लगे। राजा को इन सात गुणों (इन्द्र, वायु, यम, कुबेर, सूर्य, अग्नि और चन्द्र के गुणों) का परित्याग कभी नहीं करना चाहिए। श्लोक 92 के अनुसार राजा को सर्वप्रथम विनय गुण की प्राप्ति करनी चाहिए। इसके उपरान्त पुत्र, अमात्य, भृत्य और प्रजा का संग्रह लाभप्रद हो सकेगा। शुक्रनीति अध्याय 1 का श्लोक 93 यह व्यवस्था प्रदान करता है कि जो राजा गुणहीन है और जिसके द्वारा प्रजा का अकल्याण होता है उसका तुरन्त परित्याग कर देना चाहिए। राजा दूसरों को उत्तम आचरण धारण करने का उपदेश देता रहे परन्तु स्वयं आचरण न करे, ऐसा नहीं होना चाहिए। इस दुर्गुण से ग्रस्त गुणवान् राजा भी राज्याधिकार से वंचित हो जाता है।

प्रजा की अनुमति के सिद्धान्त का यह मानना है कि नूतन राजा की नियुक्ति के अवसर पर प्रजा की अनुमति का होना भी आवश्यक होता है। यह अनुमति चाहे प्रत्यक्ष हो अथवा अप्रत्यक्ष परन्तु उसके अभाव में राजपद पर नूतन राजा की नियुक्ति अवैध मानी गयी है। शुक्रनीति अध्याय 2 के श्लोक 266 के अनुसार प्रजाद्वेषी राजा को राजपद से हटा देना चाहिए और उसके स्थान में नूतन राजा की नियुक्ति कर देनी चाहिए। यदि राजा प्रजा के गुण, नीति और बल का द्वेषी है तो कुलक्रमागत राजा होने पर भी वह राजा अधार्मिक समझा जाएगा। इस राजा के स्थान में राजकुल में उत्पन्न किसी दूसरे गुणवान अधिकारी व्यक्ति को प्रजा की अनुमति लेकर राज्य की रक्षा हेतु पुरोहित राज्य के सिहासन पर स्थापित कर दे। ऐसा शुक्र का मत है।

राज्याभिषेक-सिद्धान्त के संबंध में शुक्रनीति अध्याय 2 का श्लोक 265 यह व्यवस्था प्रदान करता है कि पुरोहित द्वारा नूतन राजा का राज्याभिषेक हो जाने के उपरान्त ही वह राजपद पर आरूढ़ होता है। इस कृत्य के सम्पन्न हुए बिना कोई भी व्यक्ति, राजपद के लिए वह चाहे जितना योग्य क्यों न हो, राजपद पर आरूढ़ होने पर भी विधिविहित राजा नहीं माना जाएगा।

शुक्र का राजा प्रजापालक एवं प्रजारंजक है। वह प्रजा में शांति एवं सुव्यवस्था की स्थापना हेतु दण्ड धारणा करता है। किन्तु वह दण्ड के सम्यक्-प्रयोगमात्र का ही अधिकारी है। शुक्रनीति अध्याय 1 के श्लोक 60 के अनुसार वह दण्ड के भय का प्रयोग इसलिए करता है ताकि सभी स्वधर्म में प्रवृत्त रहें। श्लोक 23 के अनुसार वह अपने तीक्ष्ण स्वभाव और उद्यत दण्ड से प्रजा को स्वधर्म में नियोजित करता है। श्लोक 22 के अनुसार राजा काल का कारण है। जिस प्रकार वायु सुगन्ध को लेकर उड़ती है, उसी प्रकार राजा प्रजा के कर्म का प्रेरक होता है। श्लोक 73 के अनुसार राजा धर्म का प्रवर्तक और अधर्म का नाशक, इस प्रकार होता है, जिस प्रकार सूर्य प्रकाश का प्रवर्तक और अन्धकार का नाशक होता है।

राजा ही जगत् की उत्पत्ति का हेतु है। शुक्रनीति अध्याय 9 के श्लोक 64 के अनुसार जिस प्रकार समुद्र के आनन्द और वृद्धि का हेतु चन्द्र है, उसी प्रकार प्रजा के नेत्रों का आनन्ददाता राजा होता है। राजा दण्ड तो धारण करता है परन्तु उसका प्रयोग जनकल्याण के निमित्त ही होना चाहिए। शुक्र ने राजा का स्वरूप प्रजापालक माना है। इसके अतिरिक्त राजा को प्रजा के आचार का प्रेरक बतलाया गया है। वह प्रजा के समक्ष आदर्श चरित्र की साक्षात् मूर्ति है। शुक्रनीति अध्याय 1 के श्लोक 14 के अनुसार राजा का परम धर्म प्रजापरिपालन और दुष्टनिग्रह है। श्लोक 20 के अनुसार राजा को प्रजारंजनकार्य में नित्य तत्पर रहना चाहिए। राजा के मुख्य कर्त्तव्य हैं–

(1) दुष्टनिग्रह,

(2) प्रजापरिपालन,

(3) राजसूय आदि यज्ञों का यजन,

(4) न्यायानुसार कोष-अर्जन,

(5) शत्रुपरिमर्दन,

(6) भूमिसंग्रह करना,

(7) दान देना और

(8) राजाओं से कर वसूल करना।

17.5 कर्मचारी संबंधी विचार

राज्य संचालन महान् कार्य होता है। राज्य का विधिवत संचालन एक दो व्यक्तियों मात्र के सहयोग से नहीं हो सकता। उसके लिए अनेक छोटे-बड़े कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। शुक्र के अनुसार राज्य के इन कर्मचारियों की नियुक्ति एवं वियुक्ति कतिपय निर्धारित सिद्धान्तों के आधार पर होनी चाहिए। इन सिद्धान्तों में सर्वप्रथम सिद्धान्त परीक्षा के आधार पर अभ्यर्थी की नियुक्ति करना बतलाया है। राज्य के कर्मचारियों की नियुक्ति में परीक्षा-प्रणाली के अवलम्बन करने की पुष्टि में शुक्रनीति अध्याय 1 का श्लोक 367 कहता है कि किसी व्यक्ति के विद्याध्ययनकाल के समाप्त हो जाने के उपरान्त उस व्यक्ति की योग्यता और सामर्थ्य के अनुरूप उसे कार्य में नियुक्त कर देना चाहिए। कर्मचारियों की नियुक्ति में जाति और कुल का क्या स्थान होना चाहिए इस विषय में शुक्रनीति अध्याय 2 का श्लोक 54 और श्लोक 55 यह कहता है कि केवल जाति अथवा कुलमात्र की उच्चता के आधार पर कोई व्यक्ति श्रेष्ठ नहीं हो जाता। अत: कर्मचारियों की जाति अथवा उनके कुलमात्र को ही महत्व नहीं दिया जाना चाहिए। मनुष्य के कर्म, शील और गुण पूजे जाते हैं। जाति और कुल की उच्चता राज्य के कर्मचारियों की नियुक्ति के लिए नहीं, विवाह और भोजन के लिए है।

नियुक्ति के संबंध में शुक्र ने एक विशेष सिद्धान्त का अनुसरण करने के लिए कहा है जिसे अनुक्रम-सिद्धान्त करते हैं। शुक्रनीति अध्याय 2 के श्लोक 115 के अनुसार राज्य में जैसा पद हो उस पर उसी के अनुसार अधिकारी की नियुक्ति करनी चाहिए और उसकी नियुक्ति यथासंभव अनुक्रम सिद्धान्त के अनुसार होनी चाहिए। अर्थात् सहायक कर्मचारी को रिक्त पद मिलना चाहिए, क्योंकि वह उस कार्य का सम्पादन यथापूर्वक कर सकेगा। शुक्रनीति अध्याय 2 के श्लोक 117 के अनुसार राज्य के उच्च अधिकारियों के अतिरिक्त राज्य के जो अन्य छोटे-बड़े अधिकारियों के पद रिक्त हों, उनकी पूर्ति में भी उस नियम का पालन किया जाना चाहिए। इस प्रकार कर्मचारी की प्रोन्नति करने की प्रणाली की स्थापना भी शुक्र के द्वारा की गयी है।

शुक्र ने कर्मचारियों की नियुक्ति-संबंधी सिद्धान्तों में एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह भी बतलाया है कि पिता के द्वारा रिक्त किए गए पद पर उसके योग्य पुत्र की नियुक्ति की जानी चाहिए। इस सिद्धान्त की स्थापना करते हुए शुक्रनीति अध्याय 2 का श्लोक 114 यह व्यवस्था प्रदान करता है कि यदि किसी राजकर्मचारी का पुत्र अपने पिता के कार्य-भार के वहन योग्य है तो ऐसी परिस्थिति में उस कर्मचारी के उक्त पुत्र को पिता द्वारा रिक्त किए गए पद पर नियुक्त कर देना चाहिए। इस सिद्धान्त में यह विचार निहित है कि यदि किसी राजकर्मचारी ने श्रद्धा-भक्ति-सहित राज्य की सेवा की है तो उसके योग्य पुत्र को भी राज्य की सेवा करने का अवसर मिलना चाहिए। इसके अतिरिक्त शुक्रनीति अध्याय 2 का श्लोक 109 यह कहता है कि राज्य के महत्वपूर्ण पदों पर तीन अधिकारियों की नियुक्ति होनी चाहिए। इनमें एक प्रधान और दो उसके सहायक कर्मचारी होने चाहिए।

राज्यकर्मचारियों की पदच्युति के विषय में शुक्र का यह कहना है कि अयोग्य एवं कार्य करने में असमर्थ होने पर राजकर्मचारी को पदच्युत कर दिया जाना चाहिए। शुक्रनीति अध्याय 2 श्लोक 111 के अनुसार ऐसे-वैसे व्यक्ति को अधिककाल तक अधिकारी नहीं रखना चाहिए। इस विषय की जानकारी के लिए कि अमुक कर्मचारी कार्य करने में अयोग्य एवं असमर्थ है, उसके द्वारा किये जाने वाले कार्य की जाँच होनी चाहिए। इस जाँच के आधार पर जो कर्मचारी आयेग्य एवं असमर्थ सिद्ध हो जाय, उसे पदच्युत अथवा पदावनत कर दिया जाना चाहिए। अन्यथा कर्मचारी राजा के प्रसाद-काल-पर्यन्त कार्य करने का अधिकारी माना गया है। पदच्युत सम्बन्धी दूसरा सिद्धान्त यह बतलाया गया है कि राज्यकर्मचारी अपने पद पर उसी काल तक कार्य करने का अधिकारी है जब तक कि वह जनप्रिय रहता है। जनता की अप्रियता उसकी पदच्युति का कारण हो जाती है।

शुक्रनीति अध्याय 2 का श्लोक 375 यह व्यवस्था प्रदान करता है कि यदि प्रजा के सौ मनुष्य मिलकर राज्य के किसी अधिकारी के विरुद्ध राजा के समीप आकर निवेदन करें तो राजा अपने उस कर्मचारी को तुरन्त पदच्युत कर दे; यहाँ तक कि वह राजा का मंत्री ही क्यों न हो। इस विषय में तीसरा सिद्धान्त आचरण-भ्रष्टता का है। शुक्रनीति अध्याय 2 का श्लोक 205 यह कहता है कि जिन कर्मचारियों में सत्याचरण, परोपकार और आज्ञापालन नहीं है तथा जिनमें दुष्टता, कायरता, लालच, समक्ष प्रियभाषण, परोक्ष अप्रिय भाषण, उन्मत्तता, व्यसनों में राग, आतुरता, उत्कोच-भोग करना, जुआ, नास्तिकता आदि है उसे तुरन्त पदच्युत कर देना चाहिए।

राज्य कर्मचारियों में कार्यकुशलता, दक्षता एवं सुचारुता लाने के लिए शुक्र ने कतिपय साधनों को अपनाने की व्यवस्था दी है। इन साधनों में कर्मचारियों के स्थानान्तरण करने की प्रणाली भी एक प्रमुख साधन माना गया है। इस प्रणाली के अपनाने से कर्मचारी स्थानीय कुप्रभावों से मुक्त रहता है। उसमें नवीन स्फूर्ति का संचार होता रहता है और इस प्रकार उस पर प्रमाद, उदासीनता, दीर्घसूत्रता आदि अपना कुप्रभाव नहीं डाल पाते। इसीलिए शुक्रनीति अध्याय 2 का श्लोक 107 यह कहता है कि राजा अपने अमात्यादि राजकर्मचारियों को अदल-बदल कर पृथक-पृथक कार्यों में नियुक्त करता रहे। जिस कर्मचारी में जितना कौशल हो, उसको उसी के अनुसार स्थानान्तरित करते रहना चाहिए। इस विषय में दूसरा साधन कर्मचारियों के कार्यों का निरीक्षण कर तदनुसार उनको प्रोन्नत अथवा पदावनत करना है। शुक्रनीति अध्याय 2 श्लोक 110 के अनुसार प्रत्येक कर्मचारी के कार्य का निरीक्षण अवश्य होना चाहिए। उनकी कार्यकुशलता एवं दक्षता तथा सुचारुता का मूल्यांकन कर, जो कर्मचारी जिस पद के योग्य समझा जाय उसको उस पद पर पदोन्नत अथवा पदावनता करते रहना चाहिए। इस संबंध में तीसरा साधन कार्य करने की गति, उसकी मात्रा एवं कार्य की गुरुता तथा लघुता के आधार पर कर्मचारियों के वेतनों का निर्धारण करना बतलाया गया है। शुक्रनीति अध्याय 2 के श्लोक 396 के अनुसार कार्य करने की गति के अनुसार मन्द, मध्य और तीव्र इन तीन श्रेणियों में कर्मचारियों को स्थान मिलना चाहिए और भृति भी इस प्रकार सम, मध्य और श्रेष्ठ इन तीन प्रकार की होनी चाहिए। जिन-जिन गुणों से युक्त जो सेवक हो, उसको उतनी भृति अवश्य देनी चाहिए। इसी में स्वामी और सेवक का कल्याण होता है। सेवक की भृति रोकने अथवा उसके देने में विलम्ब करने या न्यून वेतन देने का निषेध किया गया है। शुक्रनीति अध्याय 2 के श्लोक 391 के अनुसार सेवक की भृति रोकना नहीं चाहिए और न भृति के देने में विलम्ब ही करना चाहिए। सेवक को उचित मात्रा में भृति देनी चाहिए। सेवक की भृति से ही उसके आश्रितों का पालन-पोषण होता है। इसलिए सेवक जितनी भृति के योग्य हो, उसके लिए उतनी भृति अवश्य प्रदान करनी चाहिए। श्लोक 389 तथा श्लोक 393 के अनुसार, जिन सेवकों को न्यून भृति दी जाती है, वे सेवक अपने शत्रु के साधक बन जाते हैं, समय पड़ने पर अपने स्वामी के छिद्र प्रकाशित करते हैं और कोष का अपहरण करने वाले बन जाते हैं, जिससे प्रजा को कष्ट होता है। सेवकों को उनके कर्तव्यपालन हेतु प्रोत्साहित करने के लिए पुरस्कार देने की प्रथा अपनाने का भी विधान शुक्र ने किया है। इतना ही नहीं शुक्रनीति अध्याय 2 का श्लोक 5 यह व्यवस्था प्रदान करता है कि सेवक के सेवाकाल के उपरान्त उनके निर्वाह हेतु विशेष पुरस्कार, गुजारा आदि का प्रबंध हो। किन्तु जहाँ शुक्र ने सेवकों को इतनी सुविधाएँ दी है, वहीं शुक्रनीति अध्याय 2 का श्लोक 402 और 404 यह भी कहता है कि यदि सेवक अपने कर्तव्यपालन में प्रमाद करता है तो उसे समुचित दण्ड भी दिया जाना चाहिए। ये दण्ड, अर्थदण्ड, वाक्दण्ड एवं कायदण्ड के रूप में होने चाहिए।

17.6 न्याय व्यवस्था संबंधी विचार

शुक्र के द्वारा वर्णित न्यायव्यवस्था के संबंध में हम यह कह सकते हैं कि राजा के जो आठ कर्त्तव्य हैं उनमें दुष्टनिग्रह वाले कर्तव्य की पूर्ति हेतु न्यायव्यवस्था की स्थापना की परम आवश्यकता प्रतीत हुई। इसी कार्य के सम्पादन हेतु शुक्र ने न्यायालयों की स्थापना करने की व्यवस्था दी। शुक्रनीति अध्याय 4 का श्लोक 527 यह कहता है कि जिस कार्य के करने से सत् और असत् का विचार

कर राजा अपनी प्रजा को धर्म में संलग्न रखता है, वही व्यवहार है। अत: शुक्र के मतानुसार न्याय विभाग का एकमात्र कर्तव्य अभियोगों का सुनना, उस पर चिन्तन करना एवं निर्णय देना है।

शुक्र ने जिन न्यायालयों का उल्लेख किया है उन्हें दो मुख्य शाखाओं में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम शाखा के अन्तर्गत वे न्यायालय आते हैं, जिनका निर्माण स्थानीय संस्थाओं के रूप में हुआ माना जाता है। दूसरी शाखा के अन्तर्गत उन न्यायालयों को स्थान दिया जाता है, जिन पर राज्य की सरकार का प्रत्यक्ष नियंत्रण रहता है और इन न्यायालयों में काम करने वाले न्यायाधीश, सदस्य तथा अन्य कर्मचारी राजा की ओर से नियुक्त होते हैं।

न्यायालय क्षेत्र में स्थानीय न्यायालयों का बहुत बड़ा महत्त्व है। पारस्परिक सहयोग एवं सद्भावना से विवादग्रस्त विषय में जो निर्णय दिया जाता है, वह स्थायी एवं सन्तोषप्रद होता है। इस प्रकार दिए गए निर्णय से वादी और प्रतिवादी दोनों सन्तुष्ट हो जाते हैं और उनके मध्य भविष्य में शांति रहने की अधिक सम्भावना होती है, क्योंकि पारस्परिक प्रतिशोध अथवा दोष की ज्वाला प्रज्जवलित नहीं होती। इस प्रणाली की दूसरी उपयोगिता वास्तविकता तक पहुँचने की है। स्थानीय लोग विवाद के मूल कारण से परिचित रहते हैं। इसलिए उनके द्वारा दिये गये निर्णय में वास्तविकता रहने की अपेक्षाकृत शुक्र ने सरकार के प्रत्यक्ष नियंत्रण में साहसाधिपति का न्यायालय, सभ्य न्यायालय, अध्यक्ष न्यायालय और राजा के अधीन न्यायसभा नाम के न्यायालयों को स्थान दिया है। अधिकार की दृष्टि से इन न्यायालयों में सबसे छोटा न्यायालय साहसाधिपति न्यायालय और सबसे उच्च राजा के अधीन न्यायसभा है। शुक्रनीति अध्याय 2 का श्लोक 120 यह कहता है कि राज्य के प्रत्येक ग्राम तथा पुर में शासन-प्रबन्ध के लिए छह कर्मचारी नियुक्ति करने चाहिए। इनमें एक कर्मचारी साहसाधिपति भी बतलाया गया है। ग्राम एवं पुर के साहस संबंधी साधारण अभियोगों के सुनने एवं उन पर निर्णय देने का अधिकार इसी राजकर्मचारी को दिया गया है। इसके उपरान्त सभ्य-न्यायालय का स्थान निर्धारित किया गया है। श्लोक 548 यह कहता है कि जो सभ्य व्यवहार की धुरी के धारण करने में बलवान् बैल की भाँति समर्थ हों, वे लोक और वेद की नीति और धर्म के जानने वाले तीन, पाँच अथवा सात की संख्या में न्यायकार्य हेतु नियुक्त किये जाने चाहिए। सभ्य नाम के न्यायाधीशों के लिए शुक्र ने ऊँची योग्यताएँ निर्धारित की हैं। शुक्रनीति अध्याय 4 के श्लोक 539 तथा श्लोक 540 के अनुसार सभ्यों को व्यवहार के नियमों का ज्ञाता, विद्वान्, सदाचारी, शीलवान्, गुणयुक्त, शत्रु-मित्र में उदासीन, धर्म का ज्ञाता, तत्वदर्शी, आलस्यत्यागी, काम, क्रोध और लोभ का विजेता और प्रियभाषी होना चाहिए। शुक्र ने सभ्य पद के लिए जाति विशेष का प्रतिबन्ध नहीं रखा है। शुक्रनीति अध्याय 4 श्लोक 540 के अनुसार किसी भी जाति का व्यक्ति यदि योग्य है तो उसे सभ्य नियुक्त किया जाना चाहिए। सभ्य न्यायालय के उपरान्त अध्यक्ष न्यायालय के संबंध में श्लोक 540 ही यह बताता है कि अध्यक्ष न्यायालय का स्थान सभ्य न्यायालय से ऊँचा है। इस न्यायालय में मुख्य न्यायाधीश अध्यक्ष नाम से सम्बोधित किया गया है। इस न्यायालय का स्थान राजा के अधीन न्यायसभा के अतिरिक्त राज्य के अन्य न्यायालयों से ऊँचा है। शुक्रनीति अध्याय 4 के श्लोक 554 के अनुसार राजा के अधीन न्यायालय का स्थान राज्य के अन्य सभी न्यायालयों से ऊँचा है। इस न्यायालय के समक्ष राज्य के अत्यन्त महत्वपूर्ण विवादग्रस्त विषय निर्णय हेतु प्रस्तुत होने चाहिए। इस न्यायालय के समक्ष मौलिक एवं पुनश्चिन्तन सम्बन्धी दोनों प्रकार के, अभियोग प्रस्तुत किए जाने चाहिए। इस न्यायालय का निर्णय अन्तिम है। शुक्रनीति अध्याय 4 के श्लोक 528 तथा 529 के अनुसार राजा को अकेले बैठकर किसी विवादग्रस्त विषय पर निर्णय देने का निषेध है। इस विषय में शुक्र यह व्यवस्था देते हैं कि प्राड्विवाक्, अमात्य, ब्राह्मण और पुरोहित के साथ राजा को अपनी बुद्धि को स्थिर कर और क्रोध तथा लोभ से रहित होकर धर्मशास्त्र के अनुसार वादी और प्रतिवादी के समक्ष क्रम से व्यवहारों का अवलोकन करना चाहिए। राजा को व्यवहार कार्य में अकेले कभी निर्णय नहीं देना चाहिए।

शुक्रनीति अध्याय 4 का श्लोक 742 तथा श्लोक 743 न्याय-प्रणाली के संबंध में प्रकाश डालते हुए यह कहता है कि विवादग्रस्त विषयों में सत्यता पर पहुँचने के लिए प्रमाणों का आश्रय लेना आवश्यक है। ये प्रमाण साक्ष्य लिखित एवं भोग हैं। इन तीन प्रमाणों के अभाव में तीन अन्य साधन

गुप्त अन्वषण, युक्त प्रयोग और शपथ अपनाए जाएंगे। ये तीन साधन तीन विधि हैं। इन तीन विधियों का प्रयोग क्रम से होना चाहिए अर्थात् पहले गुप्त अन्वेषण, फिर युक्ति प्रयोग और अन्त में शपथ का आश्रय लेना चाहिए।

1.7.7 ग्राम के सुप्रबन्ध हेतु विचार

राज्य की ओर से ग्राम के सुप्रबन्ध हेतु शुक्रनीति अध्याय 2 का श्लोक 120 छह अधिकारियों की नियुक्ति की व्यवस्था प्रदान करता है। ये छह अधिकारी हैं–

(1) साहसाधिपति,

(2) ग्रामनेता,

(3) भागहार,

(4) लेखक,

(5) शुल्कग्राहक और

(6) प्रतिहार

साहसाधिपति दण्ड विधायक है। ग्रामवासियों की पारस्परिक कलह का निवारण करना और दुष्टों को दण्ड देने की व्यवस्था करना साहसाधिपति का कर्तव्य है। इसीलिए साहसाधिपति दण्डविधायक भी है। साहसाधिपति की योग्यता के विषय में शुक्रनीति अध्याय 2 का श्लोक 169 और श्लोक 170 यह कहता है कि जिस प्रकार प्रजा नष्ट न होने पाए उसी प्रकार का दण्ड विधायक होना चाहिए। उसे न अधिक क्रूर और न अधिक कोमल हृदय का ही होना चाहिए।

शुक्रनीति अध्याय 2 का श्लोक 170 और 171 जिस ग्रामप की चर्चा करता है वही ग्राम-नेता भी कहलाता है। ग्राम-नेता लुटेरे, चोर और राज्य के कर्मचारियों से माता-पिता की भाँति प्रजा की रक्षा करता है। इसीलिए ग्राम से जो राजांश राजा को प्राप्त होता है, उसका छठा भाग ग्राम-नेता को उसकी सेवाओं के लिए दिया जाता है।

शुक्रनीति अध्याय 2 का श्लोक 171 और श्लोक 172 भागहार की चर्चा करता है। यह ग्रामवासियों से भूमिकर संचित करता है तथा संचित धन-धान्य को राजकोष में पहुँचाता है। वही वृक्षों का पोषण करता है।

शुक्रनीति अध्याय 2 का श्लोक 174 और 175 शुल्कग्राहक का कार्य शुल्कसंचयकरना बतलाता है। उसका कार्य व्यापारियों से शुल्क ग्रहण करना है। वह व्यापारियों से शुल्कसंचय इस प्रकार करता है जिससे व्यापारियों के मूलधन का नाश न होने पाए।

शुक्रनीति अध्याय 2 के श्लोक 172 और 173 के अनुसार लेखक शासन सम्बन्धी निर्णीत विषयों का लेखन तथा ग्राम सम्बन्धी समस्त आय-व्यय का अंकन करता है। उसे गणना में चतुर, देश-भाषाओं का जानने वाला और स्वच्छ एवं स्पष्ट लिखने में समर्थ होना चाहिए।

प्रतिहार के विषय में शुक्रनीति अध्याय 2 का श्लोक 173 और 174 यह कहता है कि जो व्यक्ति शस्त्र और अस्त्र के प्रयोगों में कुशल, दृढ़अंगवाला, आलस्यरहित और नम्रभाव से लोगों को बुला लाने की योग्यता रखता हो, ऐसे व्यक्ति को प्रतिहार नियुक्त करना चाहिए। प्रतिहार पद आधुनिक चपरासियों के समान माना गया है।

शुक्रनीति अध्याय 1 का श्लोक 268 यात्रियों की रक्षा एवं सुविधा हेतु पान्थशालाओं के निर्माण की बात कहता है। शुक्र के मतानुसार दो ग्रामों के मध्य एक पान्थशाला होनी चाहिए। इस पान्थशाला को सुव्यवस्थित रखने का कर्त्तव्य ग्रामप नाम के अधिकारी का है। इस अधिकारी का कर्त्तव्य पान्थशाला में आन्तरिक शासन करना है। इस अधिकारी को पान्थशालाधिप की उपाधि दी गयी है। इसे पान्थशाला में आए हुए यात्रियों के विषय में पूर्ण विवरण अंकित रखना चाहिए। उनके

कुल, जाति, स्थान, गन्तव्य स्थान आदि सभी का ब्यौरा रखना चाहिए। शुक्रनीति अध्याय 1 का श्लोक 313 और श्लोक 314 यह कहता है कि राजा अपने राज्य के मार्गों को सुरक्षित एवं सुसंस्कृत रखे जिससे पान्थ सुखी और निर्भय होकर यात्रा कर सकें। इसीलिए श्लोक 240 मार्ग रक्षा और मार्ग के सुसंस्कृत रखने के लिये यात्रियों पर मार्ग-कर लगाने की बात कहता है।

17.8 नगर के सुप्रबन्ध हेतु विचार

नगर के सुप्रबन्ध के लिए भी शुक्र ने उन्हीं छह अधिकारियों की नियुक्ति की व्यवस्था दी है, जो कि ग्राम-प्रबन्ध के लिए नियुक्त होने चाहिए। नगर का सबसे अधिक महत्वपूर्ण भाग बाजार होता है। शुक्रनीति अध्याय 1 का श्लोक 257 यह कहता है कि बाजार के निर्माण में इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि एक-सी सामग्री अथवा वस्तुओं की दुकानें एक ओर ही होनी चाहिए; जैसे अन्न का बाजार एक ओर, वस्त्र का बाजार दूसरी ओर, शाक-भाजी का बाजार तीसरी ओर इत्यादि। शुक्रनीति अध्याय 1 के श्लोक 258 के अनुसार नगरों में धनिकों के भवन राजमार्ग के दोनों ओर पंक्तिबद्ध होने चाहिए। इन बाजारों को विधिवत् संगठित करने, उनके विधिवत् संचालन करने एवं व्यापारियों को नियंत्रण में रखने के लिए राज्य की ओर से विशेष अधिकारी नियत होने चाहिए। इन अधिकारियों को शुक्र ने अध्यक्ष अथवा अधिपति नाम से सम्बोधित किया है।

17.9 मंत्र संबंधी विचार

शुक्र ने यह आदेश दिया है कि राजा को मंत्रवित् होना चाहिए। मंत्र ही राजा का मूल माना गया है। मंत्र षाड्गुणी है। षाड्गुणी मंत्र के छह गुण हैं–

(1) सन्धि,

(2) विग्रह,

(3) यान,

(4) आसन,

(5) आश्रय और

(6) द्वैधीभाव।

शुक्रनीति अध्याय 4 के श्लोक 1126 से श्लोक 1128 तक राजाओं की सफलता हेतु चार उपायों का विधान किया गया है। ये चार उपाय हैं–

(1) साम,

(2) दाम,

(3) भेद और

(4) दण्ड।

इन उपायों के बारे में शुक्र का यह कहना है कि लोहा अति कठोर होता परन्तु वह भी उपाय से पिघल जाता है। लोक में प्रसिद्ध है कि पानी अग्नि को बुझा देता है। मदोन्मत्त हाथियों के सर पर भी उपाय द्वारा पैर रखा जाता है। अतः ये चार उपाय राजाओं के लिए अत्यन्त सहायक हैं।

17.10 मंत्रिपरिषद् संबंधी विचार

राजा द्वारा मंत्र का अकेले निर्णय करने का निषेध शुक्र द्वारा किया गया है। यदि राजा मंत्र का अकेले निर्णय करता है तो वह स्वेच्छाचारी हो जाता है। राजा के स्वेच्छाचारी हो जाने से उस पर विपत्ति

आ जाती है। ऐसा राजा संकट का स्वयं कारण होता है। ऐसे राजा की प्रजा और उसके अमात्यदि में भेद उत्पन्न हो जाता है। शुक्रनीति अध्याय 2 के श्लोक 5 और श्लोक 7 के अनुसार चूँकि भिन्न-भिन्न मनुष्य में भिन्न-भिन्न प्रकार का बुद्धि-वैभव देखा गया है इसलिए अकेला मनुष्य सब कुछ जान लेने में समर्थ नहीं हो सकता। अत: प्रजापालन के महान् कार्य में विद्वान् और बुद्धिमान पुरुषों की सहायता अवश्य लेनी चाहिए। इसीलिए राज्यसंचालन में सहायता एवं सहयोग, वास्तविक मंत्रणा की प्राप्ति एवं राजा के स्वेच्छाचार की रोकथाम के लिए मंत्रिपरिषद् की परम आवश्यकता होती है।

शुक्रनीति अध्याय 2 के श्लोक 69 और श्लोक 70 के अनुसार मंत्रिपरिषद् में दस सदस्य होने चाहिए। इनके पद इस प्रकार हैं–

(1) पुरोधा,

(2) प्रतिनिधि,

(3) प्रधान,

(4) सचिव,

(5) मंत्री,

(6) प्राड्विवाक,

(7) पण्डित,

(8) सुमंत्र,

(9) अमात्य और

(10) दूत

इन सदस्यों को शुक्र दस प्रकृतियों की उपाधि देते हैं।

शुक्रनीति अध्याय 2 के श्लोक 8 से 10 के अनुसार चूंकि मंत्रिपरिषद् राज्य का परम आवश्यक अंग है, मंत्रिपरिषद् के बिना राजा अपने कर्तव्य-पालन में असफल रहता है, इसलिए युवराज तथा अमात्यवर्ग राजा के दाहिने और बायें बाहु, कर्ण एवं नेत्र के समान है। इसके बिना राजा बाहु, कर्ण एवं नेत्रहीन हो जाता है। इसलिए राजा को बड़े योग्य व्यक्ति को अपना युवराज और अमात्य बनाना चाहिए। मंत्रिपरिषद् की सदस्यता हेतु सामान्य योग्यताएँ इस प्रकार होनी चाहिए–

(1) कुलीन वंश में उत्पन्न हों,

(2) आयुवान् (वृद्ध) हों,

(3) राजभक्ति धारण किए हुए हों और

(4) उच्च चरित्र धारण किए हुए हों।

मंत्रिपरिषद् की कार्यप्रणाली विभाग-पद्धति का अनुसरण करती है। मंत्रिपरिषद् का प्रत्येक सदस्य अपने अधीन विभाग के धारण करने का अधिकारी है। शुक्रनीति अध्याय 2 के श्लोक 364 के अनुसार मंत्रिपरिषद् का प्रत्येक सदस्य अपनी मुद्रा रखता है जिसका प्रयोग सम्बन्धित लेखों पर होता है। इस प्रकार मंत्रिपरिषद् के प्रत्येक सदस्य का कार्यक्षेत्र निश्चित एवं निर्धारित है और उसका उत्तरदायित्व सम्बन्धित सदस्य पर निर्भर है। मंत्रिपरिषद् की कार्यप्रणाली में दूसरी विशेष बात यह है कि प्रत्येक समस्या सम्बन्धित विभाग में ही सर्वप्रथम प्रस्तुत की जाती है। शुक्रनीति अध्याय2 श्लोक 95 के अनुसार उक्त विभाग का अधिकारी अपने मत के साथ उक्त समस्या राजा के सम्मुख प्रस्तुत करता है। मंत्रिपरिषद् का सम्बन्धित सदस्य उसके सम्बन्ध में राजा के साथ विचार करता है। तत्पश्चात् उसे मंत्रिपरिषद् के समस्त सदस्यों की बैठक में विचार हेतु प्रस्तुत किया जाता है। प्रत्येक सदस्य का मत लेखबद्ध किया जाता है। तत्पश्चात् राजा स्वयं अपना विचार प्रकट करता

है। शुक्रनीति अध्याय 2 श्लोक 364 के अनुसार राजा को अपने मंत्रियों के मत को साधक-बाधक प्रमाणसहित पृथक-पृथक लेखबद्ध करना चाहिए। इसके उपरान्त अपनी बुद्धि से उस पर विचार करना चाहिए। जिस पक्ष में बहुमत हो, उसी को व्यवहार में लाना चाहिए।

शुक्र का उक्त वर्णन प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के इतिहास में विशेष महत्व रखता है। ऐसा इसलिए क्योंकि कथित वर्णन अत्यन्त कुशलता के साथ किया गया है।

17.11 उपयोगी पुस्तकें

शुक्रनीति – व्याख्याकार डॉक्टर जगदीशचन्द्र मिश्र, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी

17.12 संबंधित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(1) शुक्र के अनुसार राजा की उत्पत्ति का वर्णन कीजिए।

(2) शुक्र के अनुसार राजा की नियुक्ति के सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए।

(3) शुक्र के अनुसार राजा के कर्त्तव्यों की समीक्षा कीजिए।

(4) शुक्र की न्याय-व्यवस्था पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

(5) शुक्रनीति में वर्णित मंत्रिपरिषद् के सदस्यों पर प्रकाश डालिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) शुक्र के अनुसार राज्य में अंग कौन हैं ?

(2) शुक्र के अनुसार चारित्रिक योग्यता का सिद्धान्त क्या है ?

(3) शुक्र के अनुसार राजा के मुख्य कर्तव्य क्या हैं ?

(4) शुक्र के अनुसार स्थानीय न्यायालय कौन हैं ?

(5) शुक्र के अनुसार षाड्गुणी मंत्र के छह गुण क्या हैं ?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) शुक्र के अनुसार राज्य के अंग हैं :

(a) चार (b) पाँच (c) छः (d) सात

(2) शुक्र के अनुसार राजा की नियुक्ति का सिद्धान्त है :

(a) पैतृक अधिकार का सिद्धान्त

(b) ज्येष्ठता का सिद्धान्त

(c) शारीरिक परिपूर्णता का सिद्धान्त

(d) उपर्युक्त सभी

(3) शुक्र के अनुसार राजा का परम कर्त्तव्य है :

(a) दुष्टनिग्रह

(b) युद्ध

(c) संधि

(d) अहिंसा

(4) शुक्र के अनुसार स्थानीय न्यायालय है :

(a) एक (b) दो (c) तीन (d) चार

(5) शुक्र के अनुसार भागहार :

(a) सेवक है

(b) अधिकारी है

(c) सैनिक है

(d) पुरोहित है

17.13 प्रश्नोत्तर

1. (d), 2. (d), 3. (a), 4. (c), 5. (b)

इकाई 18 : कोष तथा सेना पर शुक्र के विचार

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 विषय परिचय

18.3 कोष की वृद्धि संबंधी विचार

18.4 नीतिनिपुणता संबंधी विचार

18.5 बल संबंधी विचार

18.6 सेना के प्रकार

18.7 अस्त्र शस्त्र संबंधी विचार

18.8 अस्त्र शस्त्र संबंधी विचार

18.9 सारांश

18.10 उपयोगी पुस्तकें

18.11 सम्बन्धित प्रश्न

18.12 प्रश्नोत्तर

18.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन द्वारा आप जानेगें

शुक्र के राजत्व एवं मंत्रीपरिषद पर विचार।

युद्ध एवं उससे संबंधित बिंदुओं पर शुक्र के विचार ।

18.1 प्रस्तावना

शुक्र नीते अध्याय 4 के श्लोक 116 के अनुसार जिन-जिन वस्तुओं का संग्रह एक स्थान पर होता है, वह उनका कोष कहलाता है। कोष का संग्रह तीन कार्यो हेतु होता है -

(1) सेना रखना,

(2) प्रजारक्षण और

(3) यज्ञ

18.2 विषय परिचय

जगत् की उत्पत्ति, पालन तथा नाश के कारण जगत के आधार स्वरूप परमात्मा को प्रणाम तथा पूजन कर भृगुपुत्र शुक्राचार्य ने असुरों के द्वारा पूजा, स्तुति तथा वन्दना करने के बाद पूछे जाने पर उनसे न्यायानुसार नीतियों में श्रेष्ठ जिस एक करोड़ श्लोकों वाला नीतिशास्त्र का वर्णन किया वही शुक्रनीति कहलाया ।

18.3 कोष की वृद्धि संबंधी विचार

राजा को उक्त तीन कार्यों की सिद्धि के लिए कोष की वृद्धि करनी होती है। इसी उद्देश्य से संग्रहीत कोष राजा के लिए लोक और परलोक दोनों में सुखदायी होता है। शुक्रनीति अध्याय 4 के श्लोक 118 के अनुसार भोग-विलास मात्र के लिए संग्रहीत कोष केवल दुःख का कारण होता है। श्लोक 119 के अनुसार जो कोष स्त्री-पुरूष के निमित मात्र संग्रह किया जाता है,वह केवल उपभोग का हेतु होता है। इस प्रकार का कोष राजा को नरक मे ले जाता है। और उसको परलोक में सुख नहीं प्राप्त होता। इसीलिए राजकोश के निमित्त धनसंग्रह हेतु कर लगाने के संबंध में तीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इन सिद्धान्तों में सर्वप्रथम सिद्धान्त लाभ पर कर लगाने से सम्बन्धित बतलाया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार मूलधन पर कर लगाने का निषेध किया गया है शुक्रनीति अध्याय 4 के श्लोक 220 के अनुसार राजा को शुल्कग्रहण करने में मूलधन को छोड़कर लाभ का बीसवाँ अथवा सोलहवाँ अंश व्यापारियों से शुल्क के रूप में प्राप्त करना चाहिए। जिस व्यापारी को मूलधन मात्र प्राप्त हुआ हो अथवा मूलधन से न्यूनतम प्राप्त हुआ हो, उससे शुल्कग्रहण नहीं करना चाहिए। श्लोक 221 के अनुसार लाभ देकर विक्रेता से शुल्क निर्धारित कर उसे प्राप्त करना चाहिए। इस सिद्धान्त के अपनाने से व्यापार में वृद्धि होती है तथा व्यापारीगण समृद्ध एवं सम्पन्न होते हैं और इस प्रकार राजकोष की वृद्धि होती है। इस विषय में दूसरा सिद्धान्त यह बतलाता है कि राजा को उतनी मात्रा में कर लगाना चाहिए, जिसका भुगतान करने में प्रजा का लेशमात्र भी क्लेश न होने पाए। राजा को माली की भाँति अपने भाग (कर) को ग्रहण करना चाहिए,कोयला बनाने वाले की भाँति व्यवहार नहीं करना चाहिए। अर्थात् वृक्ष के खिले फूलों तथा पके फलों को जो कि भूमि पर गिरकर नष्ट हो जाने वाले ही हैं, एकत्र कर माली उनका उपभोग करता है, परन्तु कोयला बनोन वाले वृक्ष को मूल से नष्ट कर देते हैं। माली वृक्षों को यत्नपूर्वक परिपुष्ट करके जिस प्रकार उनके फूलों और फलों को समझ-बूझकर चुनता है, इसी प्रकार कर ग्राहक (भाग-हार) को होना चाहिए। इस संबंध में तीसरा सिद्धान्त शुक्रनीति अध्याय 1 श्लोक 72 यह बताता है कि राजा प्रजा के रक्षण के अधिकार से कर-ग्रहण करने का अधिकारी होता है। शुक्रनीति अध्याय 2 के श्लोक 226 के अनुसार भूख के कारण चाहे काष्ठवत् सूख जाय परन्तु उसको किसी कार्य का बहाना बनाकर प्रजा से धन-याचना कभी नहीं करनी चाहिए। ऐसा राजा निन्दा का पात्र है जो नीति का परित्याग कर प्रजापीड़न कर धन संग्रह करता है। शुक्रनीति अध्याय 4 श्लोक 123 के अनुसार इस प्रकार के राजा का एक-न-एक दिन शत्रु के वश अवश्य हो जाता है।

शुक्रनीति अध्याय 1 श्लोक 74 के अनुसार राजा प्रजारक्षण के कारण ही करों का भोक्ता है। इसीलिए शुक्र ने कतिपय सिद्धान्त निर्धारित कर राजा के मनमाने कर लगाने की प्रवृत्ति की रोकथाम की है।

शुक्र ने राज्य की आय के अनेक साधन बतलाए हैं जिन्हें उन्होंने विविध कर, दण्ड, उपायन, विजय और अपहरण के अन्तर्गत परिगणित किया है। इन करों को शुक्र ने भाग, आकर-कर, शुल्क, भाटक और आपातकालीन कर के नाम से सम्बोधित किया है। भूमिकर को वह भाग की संज्ञा देते हैं। भाग राजकोष का प्रधान अंश है। भागकर के प्राप्त करने की सुविधा हेतु शुक्र ने कृषिभूमि को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है। शुक्रनीति अध्याय 2 श्लोक 407 के अनुसार ये तीन श्रेणियाँ इस प्रकार हैं -

(1) बहु,

(2) अल्प और

(3) मध्य।

शुक्रनीति अध्याय 4 श्लोक 221 के अनुसार वह भूमिकर बहु, मध्य और अल्प उपज के अनुसार लगाना चाहिए।

श्लोक 122 से 124 के अनुसार राजा को चाहिए कि वह हर एक किसान को मालगुजारी की

रसीद लिखकर अपनी मुहर भी लगाकर दे दे। अथवा ग्राम की सभी भूमियों का कर नियत कर किसी एक धनिक से सभी कर ले ले और उस धनिक को किसानों का जमींदार मान ले, जो कि राजकर को प्रतिमास या प्रतिऋतु सबसे अलग-अलग लेकर राजा को दिया करे। और योग्यतानुसार सोलहवां, बारहवां, दशवां या आठवां अंश जो राजा को मिलने वाला कर हो उसका छठां भाग वेतन रूप में देकर राजा ग्रामपाल (मुखिया) या अधिकारी की नियुक्ति करे। श्लोक 125 के अनुसार राजा कुटुम्ब पालनार्थ रखी हुई गो आदि के दुग्ध के ऊपर कर न ले, और अपने उपभोग के लिए धान्य तथा वस्त्र खरीदने वाले से भी कर न ग्रहण करे।

श्लोक 119 तथा श्लोक 120 के अनुसार राजा कारु (बढ़ई आदि) तथा शिल्पी (चित्रकार आदि) आदि के वर्गों से हर एक पक्ष (15 दिन) में एक दिन कर रूप में मुफ्त में काम करा ले। जो राज्य की उन्नति के लिए तालाब, बावड़ी, या कृत्रिम नदी (नहर) या इसी के समान और किसी दूसरे कार्य का निर्माण करते हैं उन लोगों से तथा जो नवीन भूमि को जोत कर खेती के योग्य बनाते हैं, उन लोगों से जब तक व्यय काटकर दूना लाभ न होने लगे तब तक कर न ग्रहण करे।

आकरकर खानों से प्राप्त द्रव्यों पर लगाना चाहिए। शुक्रनीति अध्याय 4 के श्लोक 221 और श्लोक 222 के अनुसार रत्नों की उपज और लवण आदि की उत्पत्ति में, व्यय निकाल कर, लाभ का आधा प्राप्त करना चाहिए। यदि खान के स्वामी को विशेष लाभ हो तो तदनुसार कर ग्रहण कर लेना चाहिए। उनसे लाभ का तृतीयांश, पंचमांश, सप्तमांश अथवा दशमांश, जितना उचित समझा जाय, प्राप्त किया जाय। तृण, काष्ठ आदि लाने वालों अथवा उत्पन्न करने वालों से उनके मूल्य का तीसवाँ भाग कर-रूप में लिया जा सकता है। श्लोक 229 और 230 के अनुसार जिस कृषक को सौ कर्ष रजत प्राप्त हो उसका बीसवाँ भाग राजा के लिए देना चाहिए। यही क्रम स्वर्ण और चाँदी में भी होगा। श्लोक 227 के अनुसार ताम्र की उत्पत्ति में तृतीयांश, लोहा, वंश और शीशे की उपज चतुर्थांश अथवा षष्ठांश आकर-कर के रूप में राजकोष के लिए प्राप्त करना चाहिए।

शुक्रनीति अध्याय 4 के श्लोक 228 के अनुसार क्रम एवं विक्रयकर्ताओं को जो धन राजा के लिए कर के रूप में देना पड़ता है वही शुल्क कहलाता है। श्लोक 217 के अनुसार शुल्क संचय करने के स्थान हाटों के मार्ग, कर सीमा (चुंगी घर) आदि हैं। शुक्रनीति अध्याय 4 के श्लोक 217 के अनुसार क्रय-विक्रय की वस्तुओं तथा सामग्री पर शुल्क-कर लगाने का एक नियम यह है कि वस्तु अथवा सामग्री पर एक बार ही कर लगाया जाना चाहिए, अनेक बार नहीं। श्लोक 218 छल-कपट का आश्रय लेकर किसी वस्तु या सामग्री पर बार-बार शुल्क-कर लगाने का निषेध करता है। शुक्र ने कतिपय वस्तुओं एवं सामग्री पर शुल्क की दर भी निर्धारित कर दी है। परन्तु ऐसा करने में उन्होंने इस बात का विशेष ध्यान रखा है कि लागत एवं व्यय निकाल कर शुद्ध लाभ पर ही शुल्क-कर लगाना उचित होगा।

भाटक नाम का कर भी राजकोष की वृद्धि का साधन है। भाटककर आवागमन के साधनों की व्यवस्था पर लगाया गया कर है। इस कर के लगाने का उद्देश्य आवागमन के साधनों की व्यवस्था पर राज्य का नियंत्रण रखना है।

राजकोष में शामिल होने वाले धन में आर्थिक दण्डों से एकत्रित धन भी है। अर्थदण्ड राज्य के नियमों को भंग करने वाले व्यक्तियों के लिए नियत किए गए अनेक प्रकार के दण्डों में से एक है। शुक्र के अनुसार यह अर्थदण्ड ही कोषसंग्रह का एक साधन है।

राजकोष की वृद्धि का एक अन्य साधन उपायन भी है। राजा की वर्षगांठ, पुत्रोत्पत्ति, यज्ञ, उत्सव, समाज आदि के अवसरों पर प्रजा अथवा वरदाता राजा के भेंट के रूप में जो धन राजा को समर्पित करते हैं, वह उपायन के नाम से सम्बोधित है।

शुक्रनीति अध्याय 4 का श्लोक 122 यह व्यवस्था प्रदान करता है कि यदि किसी कोई राजा अधर्मयुक्त है तो ऐसे राजा पर धार्मिक राजा को आक्रमण कर देना चाहिए और अधर्म से संचित उसके कोष को छीन लेना चाहिए। छल-बल प्रयोग कर किसी भी भाँति शत्रु के राष्ट्र का हरण कर लेना चाहिए। इस प्रकार धार्मिक राजा को चाहिए कि दुष्टप्रकृति के राजा को पराजित कर उसका

धन राजकोष की वृद्धि हेतु प्राप्त कर ले। अतः इस रीति से भी राजकोष की वृद्धि होती है।

शुक्रनीति अध्याय 4 श्लोक 121 के अनुसार जो व्यक्ति सन्मार्ग से धनोपार्जन कर सन्मार्ग में ही उसे व्यय करता है वह पात्र है। इसके विपरीत जो व्यक्ति अधर्म से धनोपार्जन कर उस धन को आनन्द-प्रमोद मांत्र में व्यय करता है, वह अपात्र है। अपात्र का धन राजा को छीन लेना चाहिए। यदि राजा अपात्र का सारा धन छीन लेता है तो भी वह पाप का भागी नहीं होता। इस प्रकार अपात्र से अपहरण किया गया धन भी राजकोष की वृद्धि का एक साधन है।

परन्तु शुक्रनीति अध्याय 4 का श्लोक 127 राज्य में निर्धारित मात्रा से अधिक कर वृद्धि करने का निषेध करता है। किन्तु आपत्काल में राजा को कर वृद्धि कर राजकोष की वृद्धि की अनुमति देता है। जिस समय राजा शत्रु का विनाश करने के लिए सेना की रक्षा करने में तत्पर हो उस समय विशेष प्रकार का अधिक जुर्माना या चुंगी लगाकर प्रजा से धन का हरण करना चाहिए। और अपने ऊपर आपत्ति आ पड़ने पर 'मैं सूद दूंगा' ऐसी प्रतिज्ञा कर धनिकों से उनके धन को जबरदस्ती राजा को ले लेना चाहिए। तथा जब वह आई हुई अपनी आपत्ति को पार कर जाय तब उस लिए हुए धन को सूद सहित उस धनिक को लौटा देना चाहिए।

शुक्र ने कर-भुगतान में विलम्ब करने का निषेध किया है। उनका मत है कि कर-भुगतान में विलम्ब करने से राजा और प्रजा दोनों का अकल्याण होता है। इस विषय में शुक्रनीति अध्याय 4 का श्लोक 234 यह व्यवस्था प्रदान करता है कि पृथिवी का विभाजन करने, वेतन प्रदान करने, शुल्क, भेंट, ब्याज तथा करों के ग्रहण करने में विलम्ब नहीं करना चाहिए। उनका ग्रहण तुरन्त करना चाहिए।

18.4 नीतिनिपुणता संबंधी विचार

शुक्रनीति अध्याय 4 का श्लोक 17 नीति-निपुणता से कोषवृद्धि का यत्न करने का निर्देश देता है क्योंकि क्षमाशील राजा की नीति संबंधी निपुणता से ही राष्ट्रवृद्धि होती है। अतः जितना बुद्धिबल हो उतना लगाकर वृद्धि के लिए प्रयत्न करना चाहिए। श्लोक 18 से 19 के अनुसार जो माली की भाँति व्यवहार रखकर अर्थात् अपने बाग के वृक्षों को सींचकर जैसे माली उसकी रक्षा करता है उसी भाँति प्रजा की रक्षा करने के साथ-साथ शत्रु को कर (मालगुजारी) देने वाला बनाकर उसके धनों से कोष को बढ़ाता है वह नृप श्रेष्ठ कहलाता है; जो वैश्य वृत्ति व्यवसाय आदि से कोश को बढ़ाता है वह मध्यम एवं सेवा से तथा जुर्माना, तीर्थस्थान तथा देवमन्दिरों पर कर लगाकर जो कोष बढ़ाता है वह अधम राजा कहलाता है।

शुक्रनीति अध्याय 4 के श्लोक 21 और श्लोक 22 के अनुसार जो धन 12 वर्ष तक परिवार की रक्षा करने लायक होता है वह 'नीच' संज्ञक जो 16 वर्ष तक रक्षा करने योग्य होता है वह 'मध्यम' एवं जो 30 वर्ष तक एक परिवार की रक्षा करने योग्य होता है वह 'उत्तम' संज्ञक धन कहलाता है। श्लोक 20 के अनुसार हीन धन तथा मध्यम धन वाली प्रजा की रक्षा वेतन देकर राजा को स्वामी की भांति करनी चाहिए तथा अधिक धनवाली उत्तम प्रजा की रक्षा जमींदार होकर करनी चाहिए। क्योंकि उत्तम धनवाली धनिक प्रजा राजा से न हीन और न अधिक अर्थात् राजतुल्य होती है।

शुक्रनीति अध्याय 4 का श्लोक 23 यह व्यवस्था प्रदान करता है कि चूँकि व्यापारी लोग मूल्यभूत मूल धन से व्यापार करते हैं अर्थात् वस्तुओं का खरीदना-बेचना रूप व्यापार करते हैं केवल सूद पर अपना सारा मूलधन नहीं लगाते हैं और वे मंहगी होने पर खरीदी वस्तु को बेचते हैं तथा सस्ती होने पर वस्तु खरीद कर संचय करते हैं इसलिए क्रय-विक्रय के लिए रखी हुई वस्तुओं को मूल्य बिना दिये वैश्यों से सदा राजा को जर्बदस्ती नहीं लेना चाहिए। यदि राजा बिना मूल्य दिये ले लेता है तो उससे उत्पन्न हुई प्रजा की सन्तानरूपी अग्नि वंश के सहित उस राजा को जला देती है।

शुक्रनीति अध्याय 4 के श्लोक 25 तथा 26 धान्यसंग्रह करने के लिए निर्देश देते हुए यह कहते हैं कि राजा को अपने कल्याण के लिए और राज्य की रक्षा के लिए समय-समय पर तीन वर्ष

तक खाने के लिए पर्याप्त धान्यों का संग्रह कर लेना चाहिए और ऐश्वर्यशाली लोगों के लिए उससे भी अधिक काल तक कार्य चलने लायक अधिक धान्य का संग्रह करना चाहिए। जहाँ तक संग्रह योग्य धान्य आदि की परीक्षा की बात है श्लोक 27 के अनुसार अच्छी तरह से पका हुआ, उज्जवल, अच्छी जाति का, सूखा हुआ, नवीन, सुगन्ध, वर्ण तथा रस (स्वाद) से युक्त, सुन्दर एवं बहुत काल तक ठहरने वाला ऐसे धान्य को अच्छी तरह से देखकर यदि अधिक मूल्य का भी हो तो लेकर रखना उचित है। यदि इससे अन्यथा हो तो उस धान्य का संग्रह नहीं करना चाहिए। श्लोक 28 के अनुसार जो विष, अग्नि तथा पाला से खराब हो गया हो एवं जिसमें कीड़ा पड़ा हो ऐसे धान्यों का संग्रह नहीं करना चाहिए और जब तक नि:सार नहीं हो तभी तक धान्यों का व्यय करना चाहिए अर्थात् नि:सार होने पर उसे फेंक देना चाहिए।

शुक्रनीति अध्याय 4 का श्लोक 29 यह व्यवस्था प्रदान करता है कि राजा प्रतिवर्ष जो धान्य व्यय करने से चुक जाय उनके स्थान पर उसी जाति के दूसरे नये धान्य यत्नपूर्वक लाकर रख दे। श्लोक 30 तथा 31 के अनुसार राजा को यह चाहिए कि वह ओषधि, धातु,.तृणकाष्ठ आदि, यन्त्र, अस्त्र, शस्त्र, बारूद, बर्तन, वस्त्र इन सबों के मध्य में जिन-जिन कार्यों के लिए जो-जो द्रव्य उपयोगी हों उनका संग्रह करे क्योंकि उनसे समय पर कार्य की सिद्धि होती है। इसके साथ ही श्लोक 32 के अनुसार संग्रह किए हुए धान्यादि की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए क्योंकि इनके संग्रह करने में बहुत दु:ख उठाना पड़ता है और उससे चौगुना दु:ख उनकी रक्षा करने में उठाना पड़ता है। श्लोक 33 के अनुसार क्षणभर भी रक्षा करने में जिसकी उपेक्षा की जाती है वह शीघ्र नष्ट हो जाता है और श्लोक 34 के के अनुसार संग्रहीत वस्तु के नष्ट हो जाने पर संग्रह करने वाले को ही दु:ख होता है। स्त्री-पुत्रादि को वैसा नहीं होता है फिर अन्य लोगों को क्यों दु:ख होगा ? श्लोक 35 तथा 36 के अनुसार जो अपने ही कार्य में स्वयं शिथिल रहता है, जिससे उसके सहायक अन्य लोग भी शिथिल हो जाते हैं इसलिए जो उपार्जन करना तो अच्छी तरह से जानता है किन्तु उसका अच्छी तरह रक्षा करना नहीं जानता है। उसका उपार्जन करने का श्रम वृथा हो जाता है। श्लोक 39 के अनुसार जो कृपण की भाँति धन की रक्षा करता है और समय आने पर विरक्त की भाँति उसे दे देता है, वह मूर्ख है। राजा को ऐसी मूर्खता नहीं करनी चाहिए। श्लोक 128 के अनुसार राजा जिस धन को एकत्रित करता है उनकी रक्षा नौकर की भाँति करे।

शुक्रनीति अध्याय 4 के श्लोक 14 तथा 15 के अनुसार कोष का मूल सेना है अर्थात् सेना के द्वारा कोष का संग्रह होता है, और सेना का मूल कोष है अर्थात् कोष के द्वारा सेना का संग्रह होता है, और सेना तथा कोष की रक्षा करने से कोष तथा राष्ट्र (राज्य) की वृद्धि एवं शत्रुओं का नाश होता है और प्रजा की रक्षा करने से पूर्वोक्त कोष तथा राष्ट्र की वृद्धि एवं शत्रुनाश ये तीनों होते हैं और अन्त में स्वर्ग भी मिलता है।

इस प्रकार शुक्र ने कोष की महत्ता स्थापित की क्योंकि इससे राजा और प्रजा दोनों का कल्याण होता है।

18.5 बल संबंधी विचार

जहाँ तक शुक्र के सप्तांग राज्य के अंगबल का संबंध है शुक्रनीति अध्याय 1 का श्लोक 323 यह कहता है कि जिसके आधार पर मनुष्य नि:शंक होकर कार्य कर डालता है, वह बल है। श्लोक 868 और 869 के अनुसार बल छह प्रकार के हैं–

(1) शारीरिक बल,

(2) आत्मिक बल,

(3) सैन्य बल,

(4) अस्त्रबल,

(5) बुद्धिबल और

(6) आयु बल

शुक्रनीति अध्याय 1 का श्लोक 869 इन सभी बलों से संपन्न राजा को साक्षात् विष्णु मानता है। श्लोक 870 के अनुसार बल के बिना मनुष्य छोटे-से-छोटे शत्रु को भी विजय करने में समर्थ नहीं हो सकता।

राज्य में शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना प्रमुख रूप से सैन्यबल द्वारा ही होती है। राज्य में आन्तरिक विद्रोहियों एवं विप्लवकारियों का दमन करना और बाह्य आक्रमणकारियों से राज्य की रक्षा करना, सेना का मुख्य कर्त्तव्य होता है। राज्य के लिए सुसज्जित और सुसंगठित सेना की आवश्यकता बताते हुए शुक्रनीति अध्याय 1 का श्लोक 17 यह कहता है कि जिस राजा के पास नीति और सैन्यबल होता है उसके पास लक्ष्मी चारों ओर से दौड़कर आती है। इसलिए राजा को अपने राज्य की रक्षा और उसमें सुव्यवस्था स्थिर रखने के लिए उत्तम प्रकार की सेना रखने का आयोजन निरन्तर करते रहना चाहिए।

18.6 सेना के प्रकार संबंधी विचार

शुक्रनीति अध्याय 4 के श्लोक 864 के अनुसार शस्त्रास्त्र से सुसज्जित मनुष्य-समूह ही सेना है। सेना के विविध प्रकार हैं। सर्वप्रथम दो विभाजन है–

(1) स्वगमा और

(2) अन्यगमा।

स्वगमा पैदल सेना है और अन्यगमा हाथी, घोड़ा, रथ आदि वाहनों पर गमन करने वाली सेना है। स्वगमा और अन्यगमा में प्रत्येक का तीन प्रकार की सेना में विभाजन है–

(1) दैवी,

(2) आसुरी और

(3) मानवी।

शुक्रनीति अध्याय 4 के श्लोक 864 के अनुसार मानवी से आसुरी और आसुरी से दैवी सेना बलवती है। इसके उपरान्त इन तीन प्रकार की सेनाओं में से प्रत्येक दो भागों में विभाजित है–

(1) अपनी सेना और

(2) मित्र सेना।

श्लोक 871 और श्लोक 872 के अनुसार जो सेना अपनी वृत्ति से पाली गयी है, वह अपना बल (स्वीय) और जो कार्यसिद्धि हेतु सज्जनता से चली आये, वह मित्रसेना बल है। फिर इन दोनों प्रकार की सेनाओं के पृथक-पृथक दो भाग किए गए हैं–

(1) मौल और

(2) साद्यस्क।

श्लोक 873 के अनुसार बहुत काल से वृत्ति लेकर चली आने वाली सेना मौरु और आवश्यकता पड़ने पर भर्ती निर्मित सेना साद्यस्क सेना है। इसके उपरान्त इनमें से प्रत्येक को दो भागों में विभक्त किया गया है–

(1) सार और

(2) असार।

शुक्रनीति अध्याय 4 के श्लोक 874 के अनुसार युद्ध के लिये उत्साहित सेना सार और जो युद्ध

से मुँह मोड़ती है वह असार सेना है। इनके पुन: दो-दो भेद हैं–

(1) शिक्षित और

(2) अशिक्षित।

श्लोक 875 के अनुसार व्यूह-रचना में कुशल सेना शिक्षित और इसके विपरीत सेना अशिक्षित सेना है। शिक्षित और अशिक्षित सेना में से प्रत्येक के दो भेद हैं–

(1) गुल्मीभूत और

(2) अगुल्मीभूत।

शुक्रनीति अध्याय 4 के श्लोक 875 के अनुसार अपने अधिकारी सहित जो सेना हो वह गुल्मीभूत और जिसके साथ उसका स्वामी न हो व अगुल्मीभूत सेना है।

श्लोक 877 सेना के इन प्रकारों के अतिरिक्त आरण्यक और शत्रुसेना को भी सेना-संगठन में स्थान देता है। परन्तु इन दोनों प्रकार की सेनाओं को शुक्र दुर्बल सेना मानते हैं, क्योंकि इन सेनाओं के अधीन स्वतन्त्र कार्य छोड़ा नहीं जा सकता। ये स्वतन्त्रतापूर्वक काम करने के अयोग्य समझी गयी हैं। श्लोक 878 के अनुसार किरात आदि की स्वतंत्र सेना, आरण्यक सेना और शत्रुद्वारा परित्यक्त अथवा तोड़फोड़ कर अपनी ओर मिलायी गयी शत्रु की सेना शत्रुबल कहलाती है।

शुक्रनीति अध्याय 2 श्लोक 149 के अनुसार सेना चतुरंगिणी होगी। इसके चार अंग होंगे–

(1) पैदल,

(2) अश्वारोही,

(3) गजारोही और

(4) रथी।

पैदल सेना के संबंध में श्लोक 141 और श्लोक 142 यह कहता है कि 5 या 6 पैदल सिपाहियों का जो स्वामी होता है वह 'पत्तिपाल' 30 सिपाहियों का स्वामी 'गौल्मिक', 100 सिपाहियों का स्वामी 'शतानीक' कहलाता है, और श्रेष्ठ अनुशतिक, सेनानी तथा लेखक ये सब सौ-सौ के ऊपर विशेष-विशेष कार्यों के लिये अध्यक्ष होता है। और 1000 सिपाहियों का स्वामी 'साहस्रिक' एवं 10,000 सिपाहियों का स्वामी महान 'आयुतिक' होता है। श्लोक 143 के अनुसार शतानीक का यह कर्त्तव्य है कि वह प्रात:-सायं सैनिकों को व्यूह-रचना का आयास कराए और भलीभाँति युद्ध करने के लिए रणसज्जा का स्वयं ज्ञान रक्खे तथा सैनिकों को ज्ञान कराए। श्लोक 144 के अनुसार जो उन्हीं गुणों से युक्त, शतानीक की सहायता करने वाला, युद्धोपयोगी सामग्रियों का तथा कार्ययोग्य सैनिकों का जानने वाला होता है वह 'अनुशतिक' कहलाता है। श्लोक 145 के अनुसार जो प्रहरी लोगों के लिए कार्य बताता है अर्थात् जिसके निर्देशानुसार सिपाही कार्य करते हैं वह सेनानी कहलाता है और प्रहरी गणों का जो पहरा बदलता है वह 'पत्तिप' या 'पत्तिपाल' कहलाता है। श्लोक 146 के अनुसार जो प्रहरियों की अपने-अपने कामों में सतर्कता का निरीक्षण करता है वह 'गुल्मय' या 'गौल्मिक' कहलाता है। श्लोक 147 के अनुसार जो सेना में कितने सैनिक हैं? और उन्होंने कितना वेतन पाया है ? पुराने असमर्थ सैनिक कितने हैं ? और कौन कहाँ-कहाँ गए हैं, इन सबको जान कर लिखता है, वह 'लेखक' कहलाता है। उपर्युक्त पत्तिपाल आदि को श्लोक 148 के अनुसार उनके जो-जो चिह्न हों उनसे युक्त करके कार्य करने का आदेश देना चाहिए।

शुक्रनीति अध्याय 2 के श्लोक 134 के अनुसार जो शूर, व्यूह-रचना में पण्डित, घोड़ों की चालों को जानने वाले, बुद्धिमान तथा शस्त्र-अस्त्र द्वारा युद्ध करने में कुशल हों उन्हें घुड़सवार बनाना चाहिए। श्लोक 135 और 136 के अनुसार जो चक्राकार में घुमाना, गति विशेष, बहुत ऊँची वस्तु को लाँघना, गतिभेद, मेढक की भाँति कूदना, तेज दौड़ना, धीरे-धीरे चलना, वक्रगति सर्प की भाँति टेढ़े-मेढ़े दौड़ना, पलटना, शत्रुओं पर आक्रमण करना इन 11 प्रकार की घोड़ों की चालों को तथा

घोड़े की सामर्थ्य के अनुसार उन्हें यथार्थ रूप से शिक्षा देना जानता है उसे अश्वशिक्षक के पद पर नियुक्त करना चाहिए। श्लोक 130 और 131 के अनुसार जो पुरुष घोड़ों के हृदयगत भावों को एवं जाति, रंग, रोमों की भौंरी के द्वारा उनके गुणों को तथा उनकी चाल, शिक्षा, चिकित्सा, बल, क्षमता, शुभ या अशुभ फल, पालन, ऊंचाई आदि, उन पर गमन करना, दाँतों से अवस्था को जानने वाला, शूर, व्यूह-रचना का जानने वाला अत्यन्त बुद्धिमान हो उसे घोड़ों का अध्यक्ष बनाना चाहिए। श्लोक 137 के अनुसार जो घोड़ों की सेवा करने में कुशल, घोड़े की जीन आदि लगाने की कला का जानने वाला, दृढ़ अङ्गों वाला तथा शूर हो उसे ही अश्वसेवक बनाना चाहिए। अश्वसेवक को ही साईस कहते हैं।

शुक्रनीति अध्याय 2 के श्लोक 128 तथा 129 के अनुसार जो पुरुष हाथियों के प्रभद्र आदि जाति-भेद को तथा उनकी चिकित्सा विधि शिक्षा, व्याधि, पोषण करना तथा उनके तालु, जिह्वा और नख के द्वारा गुणों को एवं उन पर चढ़ने की तथा चलाने की कला को जानने वाला हो उसे हाथियों की रक्षा करने में (गजाध्यक्ष) नियुक्त किया जाना चाहिए क्योंकि उक्त गुणों से ही युक्त महावत हाथियों को वश में करने वाला होता है।

शुक्रनीति अध्याय 2 के श्लोक 132 और 133 के अनुसार जो पुरुष अश्वाधिपति के गुणों से युक्त होते हुए भी भार-वहन करने में समर्थ, रथ में जोते जाने वाले घोड़ों को एवं रथ की दृढ़ता आदि, चलाना, घुमाना, बदलना जानता है और रथ की विशेष गति से शत्रुओं के द्वारा चलाए हुए शस्त्रास्त्रों के लक्ष्य को विफल बनाने वाला तथा शत्रुओं के घोड़ों के साथ मुठभेड़ होने पर अपने घोड़ों को बचाने की कला जानने वाला हो उसे रथाध्यक्ष या सारथी बनाना चाहिए।

शुक्रनीति अध्याय 2 के श्लोक 138, 139 और 140 के अनुसार जो नीति, शास्त्र, शस्त्र तथा अस्त्र चलाना, व्यूह-रचना, शत्रुओं को नीचा दिखाना इन सब विषयों में पण्डित, लड़कपन से रहित, तरुण, शूर, सैनिक-शिक्षा प्राप्त, दृढ़ अंगों वाले, अपने धर्म में निरत, नित्य स्वामी में भक्ति रखने वाले एवं उनके शत्रुओं से द्वेष रखने वाले, शूद्र, क्षत्रिय, वैश्य, म्लेच्छ या सङ्कीर्ण जाति वाले हों उन्हें विजय चाहने वाला राजा अपना सेनाध्यक्ष या सैनिक बनावे।

शुक्रनीति अध्याय 4 के श्लोक 21 और श्लोक 22 सेना में बैल और ऊंट रखने की भी बात करते हैं। घुड़सवार सैनिकों से चौगुनी पैदल सेना एवं घुड़सवार सेना के पंचमांश के बराबर बैल, अष्टमांश ऊंट और ऊंट का चतुर्थांश हाथी, हाथी का अर्धांश रथ और रथ का द्विगुण इन सबको राजा अपनी सेना के अन्तर्गत सदा रक्खे। श्लोक 23 के अनुसार राजा सेना में पैदल सिपाहियों को अधिक संख्या में, घोड़ों को मध्य संख्या में और हाथियों को थोड़ी संख्या में रक्खे एवं बैल तथा ऊँटों की संख्या साधारण रखे किन्तु हाथियों की संख्या अधिक न रखे। श्लोक 24, 25 और 26 के अनुसार एक वर्ष में एक लक्ष 100000/= मुद्रा की आयवाला राजा एक सी अवस्था के युवावस्था वाले दृढ़ तथा उत्तम वेष वाले, ऊंचे कद के, अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित ऐसे 100 पैदल सिपाहियों की एक पृथक् टुकड़ी और बन्दूकों से युक्त 300 पैदल सिपाहियों की एक पृथक् टुकड़ी तथा 80 घोड़े, 1 रथ, 2 तोपें, 10 ऊंट, 2 हाथी, 2 बैलगाड़ी, 16 बैल, 6 लेखक, 3 मन्त्री, इन सबको एक सेना के अन्दर अच्छी तरह से रखे। श्लोक 28 और 29 के अनुसार प्रतिमास व्यय हेतु दो सौ घुड़सवार तथा पैदल सिपाहियों के लिए 4000/= ऊँट, बैल तथा बन्दूक चलाने वाले सिपाही के लिए 400/= निर्धारित करे। और 1500/= प्रतिवर्ष अपनी-अपनी वर्दी बनवाने के लिए सैनिकों को दे। श्लोक 175 के अनुसार राजा जलप्राय देश में बैलों तथा घोड़ों को, जङ्गल देश में हाथियों तथा ऊंटों को एवं साधारण स्थान से पैदल सैनिकों को रखे। राष्ट्र के अन्दर राजा 2 सौ योजन पर सैनिकों की एक टुकड़ी सेना अवश्य रखे। श्लोक 176 के अनुसार युद्ध सामग्री ढोने के लिए प्रथम हाथी, बैल तथा घोड़े श्रेष्ठ होते हैं और वर्षाकाल को छोड़कर शेष समयों में सामग्री ढोने के लिए सबसे श्रेष्ठ बैलगाड़ी ही है।

शुक्रनीति अध्याय 4 श्लोक 177 के अनुसार छोटे से शत्रु को भी जीतने के लिए थोड़ी सेना के साथ राजा कभी न जावे। सुन्दर बुद्धि रखने वाला राजा तो अत्यन्त नवीन भर्ती किए हुए सैनिकों की बड़ी सेना के द्वारा ही उन्हें जीतने के लिए चढ़ाई करता है। श्लोक 179 के अनुसार प्राणसंकट

उपस्थित होने पर क्षुद्र बल-सम्पन्न सेना विपरीत आचरण के लिए सदा उद्यत हो जाती है किन्तु बलवानों की सेना विपरीत आचरण करने के लिए नहीं समर्थ होती है। किन्तु श्लोक 180 के अनुसार बहुत बल से सम्पन्न होता हुआ भी पराक्रमहीन राजा या सैन्य लड़ाई के मैदान में नहीं ठहर सकता है तब अल्प बल-सम्पन्न पराक्रमहीन वह शत्रु के साथ युद्ध में ठहरने के लिए क्या समर्थ हो सकता है अर्थात् कदापि नहीं। श्लोक 181 यह- कहता है कि जब सुन्दर शिक्षित थोड़ी भी सेना से युक्त पराक्रमी राजा शत्रु को जीतने में समर्थ होता है तब सुन्दर, शिक्षित बड़ी सेना से युक्त होकर वह क्या नहीं जीत सकेगा अर्थात् अवश्य जीतेगा। श्लोक 182 यह भी कहता है कि राजा पुरानी, शिक्षितों में श्रेष्ठ सेना के साथ युद्ध में शत्रु के सम्मुख लड़ने के लिए जावे, क्योंकि प्राण-संकट उपस्थित होने पर भी पुरानी खास सेना कभी स्वामी का साथ नहीं छोड़ना चाहती है। श्लोक 183 यह कहता है कि सदा वाणी या दण्ड की कठोरता करने से, किंवा तनख्वाह कम कर देने से, या अधिक भय दिखाने से एवं निरंतर प्रवास (परदेश) में भेजते रहने से, तथा अधिक परिश्रम का कार्य कराते रहने से शत्रुओं द्वारा सेना में भेद अवश्य डाला जा सकता है अर्थात् फोड़ ली जा सकती है अत: उक्त व्यवहार से बचना चाहिए। श्लोक 184 के अनुसार जिसकी सेना में यदि थोड़ा भी भेद हो जाय तो उसे कभी भी जय नहीं मिल सकता है। इससे अपनी तथा शत्रु की सेना के संबंध में भेद का विशेष ख्याल रखना चाहिए अर्थात् जिस प्रकार से शत्रु की सेना में भेद हो सके किन्तु अपनी सेना में न हो वैसा व्यवहार खूब विचार कर करना चाहिए। श्लोक 185 के अनुसार जिस प्रकार से शत्रु सेना में भेद अवश्य पड़ जाय, वैसा कूटनीति से तथा धनादि देकर राजा को शीघ्र भेद का प्रबन्ध सदा करते रहना चाहिए। श्लोक 186 और 187 के अनुसार अत्यन्त प्रबल शत्रु को सेवा तथा नम्रता-प्रदर्शन के द्वारा, साधारण प्रबल को द्रव्य देकर तथा सम्मान-प्रदर्शन द्वारा और हीन बलवाले शत्रु को युद्ध के द्वारा, समान बलवाले को मित्रता के द्वारा एवं भेद के द्वारा सभी प्रकार के शत्रुओं को अपने अनुकूल बनाना चाहिए। श्लोक 188 का यह कहना है कि सुशिक्षित सेना में भेद डालने से बढ़कर कोई दूसरा साधन शत्रु को अनुकूल बनाने अर्थात् जीतने का नहीं है। जब तक स्वयं राजा शिक्षित सेना से बलवान बना रहता है तब तक वह श्रेष्ट नीतिमान माना जाता है और तभी तक उसके सभी मित्र बने रहते हैं। जैसे लोक में जब तक अग्नि ईंधन से परिपुष्ट रहती है तभी तक वायु उसका मित्र बनकर बढ़ाने वाला बना रहता है। ईंधन से हीन होने पर बुझाने वाला हो जाता है।

शुक्रनीति अध्याय 4 के श्लोक 189 के अनुसार शत्रु के द्वारा निकाली हुई या फोड़ ली गई शत्रु-सेना को अपनी सामूहिक सेना के समीप न रखकर पृथक् रखना चाहिए और युद्ध के समय अपनी सेना के अग्रभाग पर लड़ने के लिए नियुक्त करना चाहिए। श्लोक 190 के अनुसार मित्रता रखने वाली सेना को अपने समीप, पृष्ठ या पार्श्व भाग में युद्धार्थ रखना चाहिए।

18.7 अस्त्र-शस्त्रों संबंधी विचार

शुक्रनीति अध्याय 4 के श्लोक 191 के अनुसार मन्त्र एवं यन्त्र तथा अग्नि के द्वारा जो फेंका जाता है उसे अस्त्र कहते हैं और इससे अन्य तलवार और भाला आदि को शस्त्र कहते हैं। और अस्त्र दो प्रकार के होते हैं–

(1) नालिक (बन्दूक तोप)

(2) यान्त्रिक।

श्लोक 192 के अनुसार राजा विजय-प्राप्ति के लिए सदा अस्त्र के साथ-साथ जहाँ पर यान्त्रिक अस्त्र न हों वहां पर नालिक अस्त्र सेना में रखें।

श्लोक 194 के अनुसार नालिक के 2 प्रकार हैं–

(1) लघुनालिक,

(2) बृहन्नालिक।

श्लोक 195 से श्लोक 197 के अनुसार जिसमें नाल ऐसी हो जिसमें मूल की तरफ से तिरछा ऊपर की ओर तक छिद्र हो और वह 5 बालिश्त लम्बी हो, और जिसके मूल तथा अग्रभाग में लक्ष्य को भेद करने में सहायक तिलबिन्दु सदा लगे हों। यन्त्र द्वारा आघात होने पर अग्नि पैदा करने वाले ग्राव-चूर्ण (बारूद) जिसके मूल के कर्ण भाग में भरे हुए हों। और जिसका मूल भाग, जो पकड़ने के लिए होता है, उसके अङ्गोपाङ्ग सुन्दर काष्ठ के बने हुए हों एवं नाल का छिद्र एक अंगुल चौड़ा हो और जिसके भीतर अग्निचूर्ण (बारूद) भरा जाता हो और उसे भरने की शलाका भी जिसके साथ लगी हुई हो और जो दृढ़ हो, उसे लघु नालिक (बन्दूक) कहते हैं। इसे पैदल तथा घुड़सवार सैनिकों को रखना चाहिए।

श्लोक 198 और 199 के अनुसार जिसके नाल की चद्दर मोटी हो और छिद्र की चौड़ाई अधिक हो, जो दूर तक लक्ष्य भेदन करने वाली हो, जिसके मूलभाग में ऐसी कील लगी हो जिसके घुमाने से वह लक्ष्य के अनुरूप गोले को फेके, जिसका मूल भाग काष्ठ का बना हो एवं जो बैलगाड़ी आदि से ही ढोया जा सकता हो इसे बृहन्नालिक (तोप) कहते हैं। यदि इसका उचित रीति से प्रयोग किया जाय तो यह विजय देने वाला होता है।

श्लोक 209 और 210 के अनुसार पहले तोप को साफ करके उसमें बारूद डालकर लौह आदि के दण्ड से खूब ठूंस-ठूंस कर भर देना चाहिए उसके बाद दृढ़ गोला या गोली नाल के मूल में रख देना चाहिए तदनन्तर उसके पार्श्व के छिद्र में बारूद भरकर उसमें आग लगा देने के बाद उसके सहारे से गोला या गोली को लक्ष्य साध कर चलाना चाहिए।

बाण के लक्षण के संबंध में शुक्रनीति अध्याय 4 का श्लोक 211 यह कहता है कि बाण धनुष की डोरी पर ऐसा निशाना साध कर रखें कि वह चलाने पर लक्ष्य को भेद सके और बाण दो हाथ प्रमाण का बनावे।

गदा व पट्टिश के लक्षण के संबंध में अध्याय 4 का श्लोक 212 यह कहता है कि आठ पहलवाली, मूल में मोटी और हृदय के बराबर ऊँची, दृढ़ दण्डोंवाली 'गदा' बनानी चाहिए और अपने बराबर लम्बा तथा दोनों तरफ जिसके मुख हों एवं जो बीच में हाथ से पकडा जाए ऐसा 'पट्टिश' होना चाहिए।

खड्ग-प्रासि और भाला के लक्षण के संबंध में श्लोक 213 और 214 यह कहता है कि कुछ टेढ़ा, एक तरफ धारवाला, 4 अंगुल चौड़ा, छुरा के समान तीक्ष्ण प्रान्त भागवाला, नाभि तक ऊंचा, दृढ़ मूंठवाला एवं चन्द्रमा के समान स्वच्छ चमकने वाला ऐसा 'खड्ग' होना चाहिए। 4 हाथ लम्बे दण्ड के अग्रभाग में छुरे के समान तीक्ष्ण मुखवाला 'प्रास' नामक शस्त्र हो और जो 10 हाथ लंबे दण्ड के अग्रभाग में तीक्ष्ण फल से युक्त हो और उस फल के मूल में कील लगी हुई हो ऐसा 'भाला हो।

चक्र और पाश के लक्षण के संबंध में श्लोक 215 यह कहता है कि जिसके घेरे की लम्बाई 6 हाथ की हो और चक्र की भाँति गोलाकार होते हुए प्रान्त भाग छुरे के समान तीक्ष्ण हो एवं बीच में जिसकी नाभि सुन्दर दृढ़ बनी हुई हो, ऐसा 'चक्र' होना चाहिए। एवं जिसमें 3 हाथ लंबा दण्ड लगा हो और उसमें 3 शिखाएं हों जो लोह के तारों से बनी हों ऐसा 'पाश' होना चाहिए।

कवच और टोप के लक्षण के संबंध में श्लोक 216 यह कहता है कि गेहूँ बराबर मोटे लौह के दृढ़ पतरों द्वारा बने हुए शरीर के रक्षार्थ आवरण-विशेष के रूप में 'कवच' हो और इसके साथ शिर को सुशोभित एवं सुरक्षित रखने का एक टोप भी लौह-पत्रों का बना हुआ हो।

बघनख के लक्षण के संबंध में श्लोक 217 यह कहता है कि बघनख अथवा करज पक्के उत्तम लोह का बना हुआ, दृढ़ एवं नख के समान तीक्ष्ण तथा नुकीला शस्त्र हो।

18.8 युद्ध संबंधी विचार

श्लोक 218 यह कहता है कि जो राजा युद्ध के लिए उपयुक्त सामग्रियों से परिपूर्ण और समयानुसार

सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैध और आश्रय इन छह गुणों एवं मन्त्रणा करना, इनका जानकार एवं बहुत से अस्त्र-शस्त्रादिकों से युक्त हो, वही युद्ध करने की इच्छा रखे अन्यथा युद्ध करने पर वह दु:ख पाता है और अपने राज्य को भी खो बैठता है।

श्लोक 222 के अनुसार काल, देश, शत्रु का तथा अपना बल, (साम, दान, भेद, दण्ड) षड्गण (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैध, आश्रय) और मन्त्र इन सबका विचार करके ही युद्ध में प्रवृत होना चाहिए।

श्लोक 223 के अनुसार युद्ध के लिए शरद, हेमन्त और शिशिर ऋतु का समय उत्तम होता है। वसन्त का मध्यम और ग्रीष्म का सदा अधम समय होता है।

श्लोक 306 के अनुसार जो क्षत्रिय राजा लोग युद्ध में परस्पर एक दूसरे पर घातक प्रहार करते हुए पूरी शक्ति से अन्त तक लड़ते हैं और पीछे पैर न हटाते हुए मर जाते हे वे सीधे स्वर्ग को जाते हैं। श्लोक 314 के अनुसार शूरता से बढ़कर कोई वस्तु उत्तम नहीं है, क्योंकि शूर व्यक्ति ही सब लोगों का पालन कर सकता है, और शूर में ही सब कुछ प्रतिष्ठित रहता है।

शुक्रनीति अध्याय 4 का श्लोक 325 आततायी ब्राह्मण को मारने में दोषाभाव का निर्देश देता है। आततायी ब्राह्मण के मारने में मारने वाले को कोई दोष नहीं लगता। श्लोक ३२६ के अनुसार मारने के लिए शस्त्र को उठाकर आते हुए आततायी बालक को भी मारकर भ्रूणहा नहीं कहा जा सकता है बल्कि उसे न मारने से वह भ्रूणहत्या का पापभागी समझा जाता है। श्लोक 328 के अनुसार जो नराधम जीवन का रक्षार्थी होकर युद्ध से भाग जाता है वह जीता हुआ भी मृत्यु तुल्य ही रहता है और राज्य भर का किया हुआ सभी पाप अकेला भोगता है।

शुक्रनीति अध्याय 4 के श्लोक 334 के अनुसार मन्त्र द्वारा प्रयुक्त अस्त्रों से होने वाले युद्ध को उत्तम, नालिकास्त्रों (बन्दूक-तोप) से होने वाले युद्ध को मध्यम, शस्त्रों से होने वाले को कनिष्ठ और बाहु से होने वाले युद्ध को अधम कहते हैं। श्लोक 335 के अनुसार जिसमें मन्त्र से अभिमन्त्रित करके छोड़े हुए महाशक्तिशाली बाणादि द्वारा शत्रु का नाश किया जाता है, ऐसे मान्त्रिकास्त्र से होने वाले युद्ध को सब युद्धों में उत्तम कहा जाता है। श्लोक 336 के अनुसार जिसमें तोप या बन्दूक की नाल में बारूद भर कर आग लगाने के द्वारा लक्ष्यस्थान पर गोली या गोला छोड़ा जाता है, ऐसे नालिकास्त्र द्वारा होने वाले युद्ध को शत्रुओं के लिए महाह्रास (हानि) करने वाला माना जाता है। श्लोक 337 के अनुसार जिसमें सदा नालास्त्र का अभाव होने से केवल भाला आदि शस्त्र-समूहों के द्वारा शत्रुओं का नाश किया जाता है उसे शस्त्र-युद्ध समझना चाहिए। श्लोक 338 के अनुसार कौशल के साथ शत्रु के सन्धि स्थान तथा मर्मस्थानों को पीड़ित करने से एवं उल्टे तथा सीधे ढंग से बाहुओं द्वारा बांधने से जहाँ पर आघात पहुँचाया जाता है, उसे 'बाहुयुद्ध' कहते हैं। बाहुयुद्ध 8 प्रकार का होता है–

1. बायें हाथ से बालों को पकड़ना,
2. जबरदस्ती भूमि में पटक कर रगड़ना,
3. सिर में पैर से प्रहार करना,
4. घुटने से पेट को दबाना,
5. बेल के समान दृढ़ मुक्कों से कपोल में कठिन प्रहार करना,
6. बारंबार कोहनी को बलपूर्वक भूमि पर गिराना,
7. सभी प्रकार के चपेटा द्वारा प्रहार करना,
8. छल के साथ शत्रुओं के छिद्र देखने की इच्छा से बाहुयुद्ध में घूमना।

श्लोक 342 के अनुसार बाहुयुद्ध के प्रहारों में से 4 से क्षत्रिय को, 5 से क्षत्रियों में अधम को, 6 से वैश्य को, 7 से शूद्र को, 8 से संकीर्ण जाति वालों को मारे। इन 8 प्रकार के प्रहारों का

प्रयोग शत्रुओं के लिए करे मित्रों के लिए कभी न करे।

श्लोक 343 और 344 के अनुसार छोटे-बड़े नालास्त्रों (तोप-बन्दूकों) को सेना के आगे रखकर तथा पैदल सेना को पीछे और घोड़ों तथा हाथियों की सेना को दोनों बगलों में रखकर जिसके मन्त्रियों तथा सेनाओं के बीच में फूट करा दिया गया हो ऐसे शत्रु के साथ राजा को युद्ध प्रारम्भ करना चाहिए। श्लोक 345 के अनुसार युद्ध के अनुकूल जैसी भूमि जहाँ पर मिले वहाँ पर उसके अनुसार कभी सामने से और कभी अगल-बगल से हमला करके या कभी हट करके सर्वप्रथम सेना के आधे भाग के साथ सेनापतियों का सेनापतियों के साथ सेना के अर्द्धांश को लेकर युद्ध होना चाहिए। श्लोक 346 के अनुसार उसके पश्चात् मंत्रियों के अधीन रहने वाली सेनाओं का शत्रु के मंत्रियों के साथ युद्ध होना तत्पश्चात् राजा के अधीन में रहने वाली सेना के साथ युद्ध होना और अंत में प्राण संकट होने पर स्वयं राजा को युद्ध में प्रवृत्त होना चाहिए।

श्लोक 347 से 350 के अनुसार बहुत दूर से चलकर आने से थकी हुई, भूख-प्यास के मारे परेशान हुई, रोग, दुर्भिक्ष तथा बर्फ के ओलों की मार से पीड़ित, डाकुओं से लूटी-मारी गई, कीचड़, धूल तथा जल से लथपथ हुई, व्याकुल तथा हांफती हुई, सोई हुई, भोजन करने में व्यग्र, स्वल्पसंख्यावाली (सेना की छोटी टुकड़ी), दुर्गतिग्रस्त, भयंकर आग की लपटों से डरी हुई, वर्षा तथा आंधी से घबड़ाई हुई इत्यादि दुर्घटनाओं के उत्पन्न होने से अत्यन्त व्याकुल हुई अपनी सेना की तो भलीभाँति से रक्षा करे किन्तु यदि शत्रु कि ऐसी सेना हो तो उसे नष्ट कर दे।

श्लोक 353 के अनुसार राजा सदा शत्रु के तथा अपने द्वारा कृत सामादि उपायों का एवं सन्ध्यादि षड्गुणों तथा मन्त्रणा का ध्यान रखता हुआ धर्मयुद्ध या कूटयुद्ध के द्वारा जैसे भी हो शत्रु का विनाश करे। श्लोक 356 के अनुसार पैदल सैनिक बन्दूक या खड्ग आदि से, घुड़सवार भाले से, रथ और हाथी पर सवार हुए सैनिक बाण से शत्रुओं पर प्रहार करें। श्लोक 357 के अनुसार हाथी पर सवार सैनिक-हाथी वालों से, घुड़सवार घुड़सवारों से, रथ पर चढ़े हुए रथवालों से एवं पैदल सैनिक-पैदल सैनिकों से युद्ध करें और अकेला-अकेले से, शस्त्रवाला - शस्त्रवालों से एवं अस्त्रवाला सैनिक अस्त्रवालों से लड़े। किन्तु श्लोक 358, 359 तथा 360 के अनुसार सज्जन पुरुषों के युद्ध धर्म का ध्यान रखने वाला सैनिक अपने से नीचे किसी जगह खड़े हुए को, एवं नपुंसक, हाथ जोड़े हुए, शिर के बाल बिखरे हुए, बैठे हुए 'मैं, तुम्हारे अधीन हूँ' ऐसा कहते हुए, सोए हुए, लड़ाई के योग्य वेश नहीं धारणा किए हुए, नग्न, शस्त्र रहित, नहीं लड़ते हुए, दूसरे के साथ होते हुए युद्ध को देखते हुए, जलपानादि करते हुए, भोजन करते हुए, युद्ध के अतिरिक्त अन्य कार्यों में व्यस्त हुए, डरे हुए एवं युद्ध से विमुख हुए, ऐसे सैनिकों के ऊपर प्रहार न करे। श्लोक 361 के अनुसार जो वृद्ध, बालक स्त्री या केवल अकेला बचा हुआ राजा हो इन सबों को नहीं मारना चाहिए क्योंकि उनके साथ यथायोग्य व्यवहार करके उन्हें केवल अपने अधीन करता हुआ राजा धर्म से च्युत नहीं कहा जाता है। किन्तु श्लोक 362 के अनुसार ये सब नियम केवल धर्मयुद्ध के लिए हैं, कूटयुद्ध के लिए नहीं। बलवान् शत्रु को नष्ट करने के लिए कूटयुद्ध के समान कोई दूसरा युद्ध नहीं है। श्लोक 364 और 365 के अनुसार प्रफुल्ल वदन होकर, कोमल वाणी से, अपराध को स्वीकार करने से, सेवा से, दान से, नमस्कार करने से, गुणों की प्रशंसा करने से, उपकार करने से, अच्छा भाव-प्रदर्शन करने से एवं दिव्य शपथ खाकर ऊपर से शत्रु का विश्वास अपने ऊपर जमावे किन्तु मन में छुरे के समान धार रखकर (नाश का उपाय करता हुआ) शत्रु के छिद्र (नाश करने का अवसर) को ढूंढ़ता रहे। अर्थात् जब अवसर मिले तब मार गिरावे।

श्लोक 367 तथा 368 के अनुसार जो सैकड़ों सेना का स्वामी हो वह राजा किसी उच्च आसन पर बैठकर अपनी सेना के कार्यों को सोचता रहे। सदैव व्यूह के संकेतानुसार बाजों के बजने के अन्दर रहकर कार्य करते हुए, राजा तथा राष्ट्र के हित चाहने वाले सैनिक युद्ध में इधर-उधर संचार करते रहें तथा शत्रु के द्वारा यदि अपनी सेना को फुटी हुई (खिलाफ) समझे तो उसे नष्ट कर दे। श्लोक 369 के अनुसार राजा सैनिकों द्वारा कोई नवीन उत्तम पराक्रम कार्य किए जाने पर उनको योग्य पारितोषिक रूप में धन-प्रदान तथा अधिकार की वृद्धि सदा कर देवे। श्लोक 370 के अनुसार प्रथम जल, अन्न तथा तृण आदि को शत्रु-सेना के पास जाने से रोक कर यत्नपूर्वक पीड़ा पहुंचावे

तत्पश्चात् विषम (संकटपूर्ण) स्थान में प्राप्त हुए शत्रु के ऊपर बड़े वेग से हमला करके उसे मार डाले। श्लोक 371 और 372 के अनुसार शत्रु की सेना को बनावटी सोने की राशि देकर फोड़ लेने (मिला लेने) के बाद अथवा शत्रु की सेना को नित्य शत्रु के द्वारा भय की शङ्का न मानकर बेखबर सोई हुई अथवा ज्यादा जागते रहने से क्लान्त हुई देखकर स्वयं बड़ी सावधानी के साथ उसका विनाश कर देवे। शत्रु की सहायता करने के लिए आई हुई किसी मित्र-सेना को कहीं व्यसन में पड़ी हुई देखकर भी नष्ट न करे, बल्कि उसकी रक्षा करके अपनी ओर मिला ले। श्लोक 373 के अनुसार अपने अत्यन्त समीपवर्ती राज्य को किसी दूसरे के द्वारा हड़प न करने दे, बल्कि उसकी रक्षा करके, अपनी ओर मिला रहने दे। श्लोक 374 के अनुसार क्षणभर में अचानक युद्ध के लिए उद्यत हो जाय फिर क्षण भर में युद्ध में विरत हो जाय और पुन: दूर से एकाएक डाकुओं की भाँति आकर चारों तरफ से धावा बोल दे। श्लोक 375 के अनुसार यदि कोई सैनिक चाँदी, सोना और इनके अतिरिक्त ताँबा आदि जो भी जीतकर जावे तो अन्य सैनिकों को प्रसन्न करता हुआ प्रसन्न चित्त से कार्यानुरूप उसी (सैनिक) को उक्त धन देवे। श्लोक 376 के अनुसार इस प्रकार से राजा शत्रु को जीतकर योग्यतानुसार उससे कर (मालगुजारी) ग्रहण करे और कभी-कभी योग्यतानुसार शत्रु के राज्य का आधा अंश या संपूर्ण राज्य का ही अपहरण कर ले फिर शत्रु की प्रजा को हर प्रकार से प्रसन्न रखे। श्लोक 366 के अनुसार राजा को इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए कि उसे अपमान को आगे रखकर और सम्मान को पीछे रखकर (मानापमान का ख्याल न करके जिस भाँति से हो सके) अपने कार्य को सिद्ध करना चाहिए क्योंकि कार्य को नष्ट करना ही मूर्खता है।

18.9 सारांश

इस प्रकार शुक्र ने विभिन्न परिस्थितियों में सेना के विभिन्न धर्मों की चर्चा कर धर्मयुद्ध और कूटयुद्ध दोनों के ही लिए मार्ग प्रशस्त किया।

18.10 उपयोगी पुस्तकें

शुक्रनीति – व्याख्याकार डॉक्टर जगदीशचन्द्र मिश्र, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी

18.11 संबंधित प्रश्न

लघुउत्तरीय प्रश्न

(1) शुक्र के अनुसार कोष या संग्रह किसके लिए होता है ?

(2) शुक्र के अनुसार राज्य की आय के साधन कौन से हैं ?

(3) शुक्र के अनुसार धान्य की परीक्षा किस प्रकार होती है ?

(4) शुक्र के अनुसार बल के विभिन्न प्रकार कौन से हैं ?

(5) शुक्र के अनुसार बाहुयुद्ध क्या है ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(1) शुक्र के अनुसार राजकोष के निमित्त धनसंग्रह हेतु कर लगाने के संबंध में वर्णित सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए।

(2) शुक्र के अनुसार राज्य की आय के विभिन्न साधनों की विवेचना कीजिए।

(3) शुक्र द्वारा वर्णित सेना के विविध प्रकारों का विवेचन कीजिए।

(4) शुक्र द्वारा बताए गए अस्त्र-शस्त्र का वर्णन कीजिए।

(5) शुक्र के कूटयुद्ध की मीमांसा कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) शुक्र के अनुसार कोष का संग्रह होता है :

(a) दो कार्यों हेतु

(b) तीन कार्यों हेतु

(c) चार कार्यों हेतु

(d) पाँच कार्यों हेतु

(2) शुक्र के अनुसार राजा कर लेता है :

(a) गो दुग्ध से

(b) धान्य खरीदने वाले से

(c) वस्त्र खरीदने वाले से

(d) खानों से प्राप्त द्रव्यों से

(3) शुक्र के अनुसार राजा किस धन को एकत्रित करता है, उनकी रक्षा करता है :

(a) नौकर की भाँति

(b) स्वामी की भाँति

(c) पिता की भाँति

(d) ईश्वर की भाँति

(4) शुक्र के अनुसार बल के प्रकार हैं :

(a) तीन

(b) चार

(c) पाँच

(d) छः

(5) शुक्र के अनुसार मन्त्र, यन्त्र तथा अग्नि के द्वारा जो फेका जाता है उसे :

(a) अस्त्र कहते हैं

(b) शस्त्र कहते हैं

(c) तोप कहते हैं

(d) चक्र कहते हैं

18.12 प्रश्नोत्तर

1. (b)   2. (d)   3. (a)   4. (d)   5. (a)

इकाई 19 : कामन्दक के राजत्व संबंधी विचार

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य
19.1 प्रस्तावना
19.2 विषय परिचय
19.3 राज्य संबंधी विचार
19.4 राजा संबंधी विचार
19.5 आर्थिक व्यवस्था संबंधी विचार
19.6 मंत्र संबंधी विचार
19.7 कर्मचारी संबंधी विचार
19.8 कोष संबंधी विचार
19.9 सैन्य बल संबंधी विचार
19.10 उपयोगी पुस्तकें
19.11 सम्बन्धित प्रश्न
19.12 प्रश्नोत्तर

19.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन द्वारा आप जान सकेंगे–

- कामन्दक के राज्य संबंधी विचार एवं उनके अर्थ तथा सेना पर विचार।

19.1 प्रस्तावना

कामन्दक एक नीतिशास्त्र - प्रणेता हैं। इनके बनाए ग्रन्थ का नाम कामन्दक-नीति है। कामन्दक-नीति 19 अध्यायों में विभक्त है। यह नीति बहुत पहले प्रभृति द्वीप में नीति बनी थी। वहाँ यह कविभाषा में अनुवादित भी हुआ। इसके यवद्वीप पहुँचने का समय निर्धारित नहीं है। अनुमान है कि महाभारत के समकक्ष यह भी पहुंचा होगा। इसकी चार टीका मिलती हैं। एक टीका का नाम उपाध्याय-निरपेक्ष है। बाकी तीन में एक जयराम, दूसरी आत्माराम और तीसरी वरदराज की बनायी हुई है।

कामन्दक-नीति में प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के अनेक प्रणेताओं के नाम दिए गए हैं। राजशास्त्र के ये प्रणेता मनु, बृहस्पति, इन्द्र, उशना, मय, विशालाक्ष, बहुदन्तीपुत्र, पराशर और कौटिल्य हैं। इससे यह स्पष्ट है कि कामन्दक का उदयकाल, राजशास्त्र के इन प्रणेताओं के पश्चात् हुआ है। राजशास्त्र **के इन प्रणेताओं के मत कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी यत्र-तत्र उद्धत हुए है। अतः राजशास्त्र के** ये सभी प्रणेता कौटिल्य से पूर्व के हैं। कामन्दक ने अपनी इस कृति के प्रारंभ में नन्दवंश के उन्मूलक तथा मौर्य साम्राज्य के संस्थापक और अर्थशास्त्र के प्रणेता विष्णुगुप्त (कौटिल्य) को अपना गुरु मानकर उन्हें नमस्कार किया है एवं यह स्वीकार किया है कि उन्होंने अपनी इस कृति कामन्दक-नीति के निर्माण हेतु अर्थशास्त्र की विषयवस्तु का आश्रय लिया है। इससे यह सिद्ध होता है कि कामन्दक कौटिल्य की शिष्य परंपरा में अर्थशास्त्र की रचना हो जाने के पश्चात् हुए हैं।

19.2 विषय परिचय

कामन्दक-नीति का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि उनके समय में कौटिल्य द्वारा अर्थशास्त्र में स्थापित की गयी कतिपय मान्यताएँ अनुपयोगी सिद्ध हो चुकी थीं। अत: आवश्यकता इस बात की थी कि उनके स्थान में नवीन मान्यताओं की स्थापना की जाए। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए कामन्दक को अपने नीति-ग्रन्थ की रचना करनी पड़ी। कामन्दक-नीति में कौटिल्य की विचारधारा का कुछ संशोधन, परिवर्तन तथा परिवर्धन है।

19.3 राज्य संबंधी विचार

प्राचीन भारत की राजनीतिक परम्परा के अनुसार कामन्दक ने भी सप्तांग राज्य की कल्पना की है। उनका मत है कि राज्य के सात अंग होते हैं और इन्हीं सात अंगों के संयोग से राज्य का निर्माण होता है। राज्य के ये सात अंग, कामन्दक के अनुसार, (1) स्वामी, (2) अमात्य, (3) राष्ट्र, (4) दुर्ग, (5) कोष, (6) बल और (7) सुहृद् होते हैं। राज्य के ये सातों अंग परस्पर उपकारी हैं। राज्य अपने स्वाभाविक रूप में रहे, इसके लिए यह आवश्यक है कि राज्य के ये सात अंग भी अपने स्वाभाविक रूप में रहें। यदि किसी अंग में भी विकार उत्पन्न हुआ तो राज्य नष्ट हो जाएगा। इसलिए इन अंगों में सदैव समग्रता स्थापित रहनी चाहिए।

19.4 राजा संबंधी विचार

राज्य का पहला अंग स्वामी ही राजा है। कामन्दकनीति के सर्ग 4 का श्लोक 4 राजा को भूतलदेव बताता है। अत: कामन्दक के अनुसार राजा पृथिवी पर देव है। इस जगत् का आधार राजा है। यदि राजा नहीं रहेगा तो जगत् भी नहीं रहेगा। राजा का लक्ष्य प्रजा को आनन्द प्रदान करना होता है। कामन्दकनीति सर्ग 1 का श्लोक 9 यह कहता है कि राजा प्रजा को उसी प्रकार आनन्द प्रदान करता है जिस प्रकार चंद्र समुद्र को।

राजा प्रजा के समक्ष एक आदर्श है। वह प्रजा का प्रेरक है। राजा प्रजा को धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति करा उसके मोक्ष- मार्ग को सुगम बनाता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि राजा स्वयं अत्यन्त पवित्र आचरणवाला हो। उसका अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण ही नहीं, उन पर अनिवार्यत: विजय प्राप्त करने की उसे क्षमता भी हो। कामन्दकनीति सर्ग 1 का श्लोक 55 का यह कहना है कि राजा को काम, क्रोध, लोभ आदि का सर्वथा त्याग करना चाहिए। इन व्यसनों के कारण राजा का नाश हो जाता है। व्यसनों को हम दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम क्रोधज और द्वितीय कामज। क्रोधज व्यसन के अन्तर्गत (1) वाक्दण्ड, (2) पारुष्यदण्ड और (3) अर्थदण्ड आते हैं। कामज व्यसन के अन्तर्गत (1) मृगया, (2) द्यूत, (3) स्त्री-सेवन और (4) मद्यपान आते हैं। इनमें से एक भी व्यसन नाश का कारण होता है। इन्हीं के कारण राजा पतित हो जाता है और उसका नाश हो जाता है।

कामन्दकनीति सर्ग 4 का श्लोक 15 से 19 यह कहता है कि राजा को आत्मसम्पत्वान् होना चाहिए। आत्मसम्पद् के अन्तर्गत जो योग्यताएँ राजपद के लिए वांछनीय समझी गयी हैं-वे इस प्रकार हैं

(1) जितेन्द्रिय,

(2) बलवान्

(3) नेता

(3) दण्ड प्रयोग में कुशल

(5) वाग्मी

(6) प्रगल्भ

(7) स्मृतिमान्

(8) उन्नतिशील

(9) शिल्प-विद्यानिपुण

(10) सत्पात्र का ज्ञाता

(11) देश-काल के विभाग का ज्ञाता

(12) सन्धि-विग्रह के तत्व का ज्ञाता

(13) उचित बैर करने वाला

(14) विविध प्रतीकारों का जानने वाला

(15) दूसरे के अभियोग को कठिनाई से सहन करने वाला

(16) परछिद्र की उपेक्षा करने वाला

(17) गूढ़मंत्र प्रचारक

(18) सत्पात्र में धन-दान करने वाला

(19) शत्रु को दु:ख देने वाला

(20) चुगली, इर्ष्या, अभिमान, असत्य, चपलता, स्तब्धता, क्रोध, लोभ, भय और वैर से रहित

(21) प्रियदर्शी, मधुरभाषी, सामर्थ्ययुक्त और गुणानुरागी

(22) वृद्ध पुरुषों के उपदेश से संपन्न।

उपर्युक्त आत्मसम्पत् से हीन पुरुष राजपद के अयोग्य होता है।

कामन्दकनीति सर्ग 1 का श्लोक 18 यह कहता है कि राजवृत्त अर्थात् राजा के कर्त्तव्य एक तो परम्परागत हैं और दूसरे अर्थसंबंधी हैं।

परम्परागत कर्त्तव्यों की चार श्रेणियाँ हैं–

(1) अपने प्रति कर्त्तव्य,

(2) कुटुम्बियों एवं बंधुजनों के प्रति कर्त्तव्य,

(3) अपनी प्रजा के प्रति कर्त्तव्य,

(4) परराज्यों के प्रति कर्त्तव्य।

राजा का अपने प्रति यह कर्त्तव्य है कि वह अपने पद के योग्य सदैव बना रहे। राजा अपने मन और इन्द्रियों पर विजयी होने का सतत अभ्यास करता रहे। वह अपने शरीर मन, बुद्धि और आत्मा के विकास हेतु निरन्तर प्रयत्न करता रहे। इसके लिए राजा व्यायाम करे। शस्त्र प्रयोग करे। रथ, अश्व, गज आदि की सवारी का अभ्यास करे। युद्ध कुशल हो। सत्शास्त्रों का अध्ययन करे। विद्याप्रेमी हो। सज्जनपुरुषों का सम्मान करने वाला हो। राजा उन उपायों तथा साधनों को जुटाए जिनसे उसकी जीवन-रक्षा हो सके।

राजा अपने कुटुम्बियों तथा बन्धुबान्धवों के कोप को शांत रखे। अत: वह उनके प्रति स्नेहपूर्ण व्यवहार रखे तथा उनकी रक्षा और भरण-पोषण आदि की व्यवस्था करे। वह अपने बन्धु बान्धवों का संग्रह करे।

राजा प्राणि मात्र के प्रति अहिंसा भाव की स्थापना करे, अधर्म प्रतिषेध करे, अधार्मिकों का परित्याग करे, दुष्ट निग्रह करे, सन्तरक्षण करे, प्राणिमात्र के प्रति न्यायपूर्ण व्यवहार करे, राज्य में न्याय-व्यवस्था की स्थापना करे, राज्य के कण्टकों का शोधन करे, राज्य के मंत्री, प्रधान, अमात्य,

पुरोहित, अध्यक्षों तथा राज्य के अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति करे और उनमें अनुशासन, उनके कार्य निरीक्षण, उनकी वृत्ति, उनमें सुमति की स्थापना आदि की व्यवस्था करे। राजा प्रजा से न्यायपूर्ण कर प्राप्त करे, आवश्यकतानुसार कर-मुक्ति की घोषणा करे, राज्य की प्रकृतियों के व्यसनों तथा उनके कोप को शुद्ध तथा शान्त रखने के उपाय करे, राज्य में सन्तुष्ट तथा असन्तुष्ट वर्ग का ज्ञान प्राप्त कर उनके प्रति उचित व्यवहार करे एवं प्रजा की आजीविका का समुचित प्रबन्ध करे।

परराज्यों के प्रति राजा का सर्वप्रथम कर्त्तव्य मंत्र-वरण है। अर्थात् राजा यह निर्णय करे कि युद्धकाल अथवा ऐसी ही अन्य परिस्थितियों में किस नीति का अवलम्बन किया जाए। यह निर्णय मंत्रियों के परामर्श से हो। वह मंत्र-रक्षा का समुचित प्रबंध करे तथा उसको समय पर कार्यान्वित करने की व्यवस्था करे।

19.5 आर्थिक व्यवस्था संबंधी विचार

कामन्दकनीति सर्ग 1 का श्लोक 18 यह कहता है कि राजा का परम कर्त्तव्य राज्य में सम्यक आर्थिक व्यवस्था की स्थापना है। यह आर्थिक व्यवस्था चतुस्सूत्री है। ये चार सूत्र अर्थोपार्जन, अर्थरक्षण, अर्थवर्धन और अर्थवितरण हैं। राजा अपने राज्य में अर्थोपार्जन हेतु प्रजा के समक्ष अधिक-से-अधिक सुविधाएं उपस्थित करे। वह प्रजा की उपार्जित अर्थ की सम्यक् रक्षा की सुव्यवस्था करे। वह उस रक्षित अर्थ की वृद्धि करे क्योंकि अगर ऐसा नहीं होगा तो उसका राष्ट्र अन्य प्रगतिशील राष्ट्रों की दौड़ में पीछे रह जाएगा। इतना ही नहीं राजा राष्ट्र द्वारा अर्जित, रक्षित तथा वृद्धिशील अर्थ का न्यायपूर्ण वितरण भी करे, क्योंकि यदि न्यायपूर्ण वितरण नहीं हुआ तो राज्य में विषमता की स्थापना हो जाएगा और राज्य का पतन हो जाएगा। इसीलिए कामन्दक ने राजा के लिए यह कर्त्तव्य निर्धारित किया है कि वह न्यायपूर्ण अर्थ-वितरण की व्यवस्था करे। ऐसा होने से ही सार्वजनिक कल्याण सम्भव हो सकेगा।

19.6 मंत्र संबंधी विचार

कामन्दक ने राजा के लिए मंत्रणा आवश्यक बतलायी है। कामन्दक नीति सर्ग 11 का श्लोक 75 यहाँ तक कहता है कि यदि किसी कार्य के आरम्भ करने के विषय में मंत्र निश्चय किया जा चुका हो परन्तु उस मंत्रणा को कार्यरूप देने का समय व्यतीत हो गया हो और उक्त समय के व्यतीत हो जाने पर उसे कार्यान्वित करना हो तो ऐसी परिस्थितियों में भी राजा उस विषय पर पुन: मंत्रणा कर मंत्र का निश्चय करे।

कामन्दक के अनुसार राजा प्रत्येक कार्य का आरम्भ उस कार्य से संबंधित मंत्रिनिर्णय हो जाने के उपरान्त करे। राजा को चाहिए कि वह पहले प्रत्येक मंत्री से पृथक्-पृथक् मंत्रणा ले फिर समस्त मंत्रियों से सामूहिक मत ले। जिस विषय में बहुमत जान पड़े। यदि वह शास्त्रानुसार हो, कल्याणकारी बुद्धि के अनुकूल हो तथा पूर्व अनुभव पर निर्भर हो तो राजा उसी को कार्यान्वित करे।

कामन्दकनीति सर्ग 11 का श्लोक 53 यह कहता है कि मंत्र गुप्त रहना चाहिए। मंत्र के गुप्त रहने से ही राज्य की रक्षा होती है। अत: मंत्रणा-स्थान बड़ा सुरक्षित होना चाहिए। मंत्रणा-स्थान का कोई भी अंग ऐसा नहीं होना चाहिए जहाँ कोई व्यक्ति छिपकर मंत्रण-संबंधी बात सुनने का अवसर प्राप्त कर सके। मंत्रणास्थान स्तम्भों से रहित होना चाहिए जिससे स्तम्भ की आड़ में छिप कर बैठने का अवसर किसी व्यक्ति को भी प्राप्त न हो सके। मंत्रणास्थान सर्वसाधारण की पहुँच से भी परे होना चाहिए। कामन्दकनीति सर्ग 11 श्लोक 66 के अनुसार राजा शून्य स्थान में, प्रासाद के ऊपर अथवा निर्जन वन में व्याकुलता-रहित चित्त से मंत्र का निर्णय करे।

राजा प्रजा को आजीविका देनें के निमित्त एवं राज्य की सम्पत्ति की वृद्धि करने के लिए अपने राज्य में अनेक उद्योग धन्धों तथा व्यवसायों की स्थापना करे और उनके संचालन की सम्यक् व्यवस्था करे। राजा इन उद्योग धन्धों तथा व्यवसायों के सम्यक् संचालन हेतु विविध विषयों के विशेषज्ञों तथा

अनेक कुशल पुरुषों की नियुक्ति करे। राजा इनके सहायकों की भी नियुक्ति करे। परन्तु इन सभी पुरुषों की नियुक्ति नियमानुसार हो तथा नियमानुसार इनकी वृत्ति का निर्धारण किया जाए।

19.7 कर्मचारी संबंधी विचार

राजकर्मचारी को पद पर नियुक्त करने के लिए उसके कुल की भी छान-बीन हो। कुल कुछ वीरता के लिए कुछ कला के लिए, कुछ व्यापार-कार्य के लिए और कुछ विशेष बुद्धि आदि के लिए प्रसिद्ध होते हैं। अत: जो जिस कुल में उत्पन्न हुआ है, राजा उस कुल के अनुरूप कार्य में उसकी नियुक्ति करे। इसके साथ ही राजा इस बात का भी ध्यान रखे कि जिस पद पर नियुक्ति होने जा रही है उस पद के अनुरूप उसमें विद्या भी हो। चूँकि राज्यसंचालन में शुचि पुरुषों की निरन्तर आवश्यकता होती है इसलिए राज्य में विभिन्न पदों पर राजा शुचि पुरुषों की ही नियुक्ति करे। चूँकि आलसी तथा प्रमादी पुरुष राज्य में आपदा के कारण होते हैं इसलिए राजा उद्योगशील पुरुषों को ही राज्य के विभिन्न पदों पर नियुक्त करे। चूँकि ज्ञानी पुरुष अपने कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य को तुरन्त समझ लेता है इसलिए राजा को चाहिए कि वह ज्ञानवान् को ही राजकर्मचारी बनावे। चूँकि जीवन में सफलता हेतु अनुभव का महत्वपूर्ण स्थान है इसलिए राजा नियुक्ति में पद के अनुरूप योग्यता को भी देखे। जिस कार्य का जो विशेषज्ञ हो उसकी नियुक्ति उसी कार्य के संपादन हेतु हो। राजा संपूर्ण आपत्ति के द्वार में सुपरीक्षित पुरुषों की नियुक्ति करे। इस प्रकार कामन्दक ने कुछ राजकर्मचारियों की नियुक्ति में परीक्षा-सिद्धान्त को भी मन्यता दी है। कामन्दकनीति सर्ग 5 का श्लोक 70 यह कहता है कि राजा नीच गुणवाले कर्मचारियों की उत्तमगुण वाले कर्मचारियों के समान वृद्धि (प्रोन्नयन) न करे। यदि किसी कर्मचारी का पद रिक्त हो गया हो तो उस पद पर ठीक उसके नीचे के पदाधिकारी को पदोन्नत कर यथासंभव इस रिक्त पद की पूर्ति कर ली जाए किन्तु कर्मचारी को इस प्रकार पदोन्नत करते समय उक्त पद के अनुरूप उसके गुणों की भी विधिवत जाँच कर ली जाए। यदि कर्मचारी में उक्त पद के अनुरूप योग्यता पाई जाए तभी उसे पदोन्नत किया जाए अन्यथा किसी अन्य उपुयक्त व्यक्ति की खोज की जाए।

वृत्ति-निर्धारण के विषय में कामन्दकनीति सर्ग 5 का श्लोक 64 यह कहता है कि राजा सेवक द्वारा किए जाने वाले कार्य के अनुरूप ही उसकी वृत्ति का निर्धारण करे। जो कर्मचारी जितना महत्वपूर्ण कार्य करे, उसको उसी मात्रा में अधिक वृत्ति भी दी जाए। क्षुद्र कार्यों के लिए क्षुद्र वेतन, मध्यम कार्यो के लिए मध्यम वेतन और उत्तम कार्यों का सम्पादन करने वाले कर्मचारियों को उत्तम श्रेणी की वृत्ति दी जाए। राजा अपने अनुजीवियों तथा भृत्यों के वृत्तिदान में समय का अतिक्रमण न करे। वह निश्चित समय पर वृत्ति का भुगतान करने की सम्यक् व्यवस्था करे। ऐसा इसलिए क्योंकि यदि वृत्तिदान में विलम्ब होगा तो कर्मचारी तथा उसके आश्रितों को क्लेश होगा और कर्मचारी में अपने स्वामी के प्रति असंतोष उत्पन्न होगा। इसके साथ ही वह कर्मचारी निर्धारित समय पर वृत्ति के न प्राप्त होने के कारण अपने तथा अपने आश्रितों के भरण-पोषण की चिन्ता से ग्रस्त रहेगा। इससे उसके कर्त्तव्यपालन में विघ्न पड़ेगा। इससे वह अनुचित साधनों से अपनी जीविका चलाने के लिए विवश हो जाएगा, जिससे राज्य में भ्रष्टाचार के प्रसार को प्रोत्साहन मिलेगा।

कामन्दकनीति सर्ग 5 का श्लोक 65 यह कहता है कि राजा वृत्ति का कभी लोप न करे क्योंकि इस प्रकार वृत्ति-लोप से राजा की निन्दा होती है। वृत्ति में कटौती करने को कामन्दक ने वृत्तिछेदन की संज्ञा दी है। राजा निर्दोष कर्मचारियों की वृत्ति मे कटौती न करे क्योंकि ऐसा होने से वे असंतुष्ट एवं उदासीन हो जाएंगे तथा अपने कर्तव्य-पालन में उन्हें अरुचि हो जाएगी।

कामन्दक के अनुसार राजा आचरणयुक्त, कुलीन सेवकों का तिरस्कार न करे। ये सेवक तिरस्कृत होकर अपने स्वामी का परित्याग कर देते हैं अथवा अपने सम्मान की रक्षा के निमित्त उसका वध भी कर डालते हैं।

राजा अपने अधीन कुछ ऐसे कर्मचारियों की व्यवस्था करे जो गुप्त रीति से प्रजा के मध्य होने वाली गुप्त तथा प्रकट सभी प्रकार की क्रियाओं तथा घटनाओं को जानकर उनका सत्य-सत्य ब्यौरा राजा

तक पहुँचाते रहे। ऐसे राजकर्मचारी चर कहलाते हैं। चर को दूर तक पहुँचने वाला राजा का चक्षु बतलाया गया है। राजा का चर तार्किक हो ताकि वह अपनी तर्कशक्ति के आधार पर घटना अथवा क्रिया के वास्तविक स्वरूप को जान लेने में सफल हो सके। वह मनोवैज्ञानिक हो ताकि मनोविज्ञान की सहायता से वह मनुष्य की चेष्टाओं, इन्द्रिय-विकारों आदि को देखकर वास्तविकता पर पहुँचने में समर्थ हो सके। उसकी स्मरण शक्ति बढ़ी-चढ़ी हो, जिससे वह छोटी-बड़ी सभी घटनाओं को स्मरण रख सके। बह मृदुभाषी तथा शीघ्र पराक्रमशील पुरुष हो ताकि वह सभी प्रकार की जनता से संपर्क रखे। वह चतुर हो, क्लेशसहन करने वाला और परिश्रमशील हो, इन गुणो के अतिरिक्त चर में समय, स्थान तथा परिस्थिति के अनुसार बुद्धि उत्पन्न होती रहे यह विशेष गुण भी हो।

कामन्दकनीति सर्ग 12 का श्लोक 26 यह कहता है कि चरों का प्रधान कर्त्तव्य सब ओर समाचार लेते हुए विचरण करते रहना है। चर सभी ओर से सूचना प्राप्त करे। इन सूचनाओं को प्रतिदिन राजभवन में प्रवेश कर राजा के समक्ष प्रस्तुत करे। चर अपने राजा के शत्रुराजाओं की चेष्टाओं का भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर उसे अपने राजा के सम्मुख प्रस्तुत करता रहे। सूर्य जिस प्रकार अपनी किरणों द्वारा पृथ्वी पर जल पीता रहता है उसी प्रकार सबकी इच्छा को जानते हुए चर अनेक रूप धारण कर विचरण करे और गोपनीय विषयों, क्रिया-कलापों आदि का पता लगाकर राजा को सूचित करे। चर विविध रूप धारण कर जनता में घुल मिल जाए, जिससे कोई उसे पहचान न सके तथा वह सबको पहचानते हुए सूचनाएँ एकत्र कर राजा तक पहुँचाए।

कामन्दकनीति सर्ग 15 का श्लोक 46 यह बताता है कि राजा अपने मंत्रिप्रवर अमात्य आदि से परिवेष्टित है। मंत्री राजा का पथप्रदर्शक है और अमात्य मंत्री द्वारा प्रदर्शित पथ पर राजा को ले चलने के निमित्त समस्त शक्ति, साधन आदि को प्रस्तुत करने वाला है। मंत्री राजा का आंतरिक चक्षु और अमात्य उसकी क्रिया का केन्द्र होकर राज्य-संचालन में सहयोग देता है।

कामन्दक द्वारा वर्णित मंत्रिमण्डल के सदस्य मंत्री अथवा विशिष्ट अमात्य मात्र हैं। सभी अमात्यों को मंत्रिमण्डल की सदस्यता का अधिकार प्राप्त नहीं है। मंत्रिमण्डल में एक मुख्यमंत्री भी है जिसे मंत्रिप्रवर कहा जाता है। मंत्रिप्रवर को राजा को अंतिम परामर्श देने का अधिकार है। कामन्दकनीति सर्ग 11 श्लोक 68 के अनुसार मंत्रिमण्डल के सदस्यों की संख्या आवश्यकता के अनुसार हो।

19.8 कोष संबंधी विचार

कामन्दक का यह मानना है कि राजा को कोष का चिन्तन अवश्य करना चाहिए। ऐसा इसलिए क्योंकि राज्य के समस्त क्रियाचक्र की नाभि कोष ही है। कामन्दकनीति सर्ग 4 के श्लोक 62 और 63 के अनुसार उत्तम कोष वह है जो आय के बहुमार्गों और व्यय के अल्पमार्गों वाला हो, मन चाहे द्रव्यों से संपन्न हो, सहृदय आप्त पुरुषों से सेवित हो, विख्यात अधिदेवता से पूजित हो, सुवर्ण, मोती और रत्नों से परिपूरित हो, पिता-पितामह से चला आया हो, धर्म से उपार्जित हो और सभी प्रकार के व्यय सहन कर लेने की सामर्थ्य से युक्त हो। कामन्दकनीति सर्ग 4 का श्लोक 64 यह कहता है कि जब कोष का व्यय राज्य में धर्म तथा अर्थव्यवस्था की सम्यक् स्थापना हेतु राज्य के सेवकों के सम्यक् भरण-पोषण हेतु और राज्य में समय-समय पर आने वाली आपदाओं का वारण करने के साधनों तथा उपायों हेतु होता है तो ऐसा व्यय न्याययुक्त होता है। कामन्दकनीति सर्ग 5 का श्लोक 78 यह कहता है कि कोष की आय के मार्ग क्रमशः कृषि, वणिक्पथ, दुर्ग, सेतु, कुंजरबन्धन, खानि, आकर और शून्यनिवेशन हैं। कृषि उपज का कितना अंश कोष के लिए संचित किया जाए, इस विषय में कामन्दक ने अपना मत व्यक्त नहीं किया परन्तु चूँकि प्राचीन भारत में सामान्यतः कृषि-उपज का छठवाँ अंश राजकोष हेतु संचित किया जाता था इसलिए कामन्दक भी राजकोष के निमित्त कृषि-उपज के इसी अंश को संचित करने के पक्ष में हैं ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है। अनुमान के आधार पर ही यह कहा जा सकता है कि स्थल और जलमार्गों द्वारा विक्रय हेतु इधर उधर ले जाई जा रही व्यापारिक सामग्री पर राज्य की ओर से लगाये गये करों से राज्य की जो आय होती थी वही कामन्दक के अनुसार वाणिक्पथ आय थी। इसी क्रम

में दुर्ग-आय से कामन्दक का तात्पर्य उस आय से जान पड़ता है जो दुर्ग अथवा पुर में होने वाले विभिन्न व्यवसायों, उद्योग-धन्धों, व्यापार आदि के लाभ पर कर राज्य प्राप्त करता था। इसके अतिरिक्त इस आय में वह धन भी सम्मिलित रहता होगा जो अपराधियों से दण्ड रूप में प्राप्त किया जाता था। अनुमानतः पुष्पवाटिकाओं, फलवाटिकाओं, जलीयक्षेत्रों और उन क्षेत्रों से जिनमें मूल वाले पौधे चहोरे जाते हैं जो राजांश एकत्र किया जाता था उसे कामन्दक ने सेतु-आय माना। ऐसा जान पड़ता है कि कामन्दक के समय में हाथियों के पकड़ने और उन्हें बेचने का विशेष व्यवसाय किया जाता था। इस व्यवसाय के धारण करने वाले व्यवसायियों को जो लाभ होता था, उसका कुछ अंश राजकोष की आय हेतु भी संचित किया जाता था। राजकोष की आय के इस मार्ग को कामन्दक ने कुंजरबन्धन-आय के नाम से सम्बोधित किया। अनुमानतः कामन्दक ने सुवर्ण, चाँदी, हीरा, मणि, मोती, मूंगा, शंख, लौह, लवण, विशेष प्रकार की मिट्टी, पत्थर, रस आदि धातुओं का संचय कोष आय हेतु करने को कहा। यही खनि-आय है। कामन्दक के अनुसार राज्य में विविध प्रकार के आकर होते हैं। इन आकरों से नाना प्रकार की धातुओं की उपलब्धि होती है। आकरों से प्राप्त धातुएँ राजकोष की आय का एक साधन हैं। राजकोष-आय के संबंध में ऐसा जान पड़ता है कि शून्य भूमि के बसाने के उपरान्त उस भूभाग की जनता को जो विशेष लाभ होता, उसका कुछ अंश राजकोष के लिए भी संग्रहीत किया जाता था। ऐसी आय शून्य-निवेशन-आय कहलाती थी।

कामन्दक ने अपवित्र वृत्ति से कोषसंचय करने का निषेध किया है। इसलिए कोष हेतु धन्य-धान्य आदि का संचय निर्धारित सिद्धान्तों के आधार पर किया जाना चाहिए। ये सिद्धान्त क्रमशः प्रजापरिपुष्ट सिद्धान्त, व्यवसाय एवं व्यापार-विकास-सिद्धान्त, प्रजा-परित्राण-सिद्धान्त, उपकार-सिद्धान्त और दुष्ट-शोधन-सिद्धान्त हैं।

कामन्दकनीति सर्ग 5 का श्लोक 84 यह कहता है कि गाय का पालन-पोषण तथा सेवा-सुश्रूषा विधिवत् कर उसे परिपुष्टि किया जाता है। समय आने पर वह परिपुष्ट गाय दूध देती है। उसी प्रकार सेवा-सुश्रूषा तथा पालन-पोषण की गयी परिपुष्ट, सुसम्पन्न तथा समृद्ध हुई प्रजा से समय पर नियमानुसार कर लगाकर कोष-वृद्धि हेतु धन-धान्य आदि की प्राप्ति करनी चाहिए। फल और पुष्प प्राप्त करने के इच्छुक पहले लता को सींचते और बढ़ाते हैं। समय आने पर उससे फल और पुष्प प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार राजा को अपने अधीन प्रजा को परिपुष्ट, सुसम्पन्न तथा समृद्ध बनाना चाहिए और तदुपरान्त धन-धान्य आदि की प्राप्ति हेतु कामना करनी चाहिए। इस प्रकार राजा को अपने अधीन प्रजा को प्रत्येक प्रकार से परिपुष्ट तथा सम्पन्न और समृद्ध कर देने के उपरान्त उस पर नियमानुसार कर लगाना चाहिए। यही प्रजा परिपुष्टि-सिद्धान्त है।

कामन्दकनीति सर्ग 5 का श्लोक 80 यह कहता है कि क्षीण कोष होने पर भी राजा को अपनी प्रजा के प्रति इस प्रकार व्यवहार करना चाहिए जिससे व्यापार द्वारा आजीविका कमाने वाले लोगों के व्यवसाय में विघ्न न पड़ने पाए। इसलिए व्यापार-व्यवसाय तथा उद्योग-धन्धों पर कर इस प्रकार लगाने चाहिए, जिससे इनके विकास में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न होने पाए और व्यापार-व्यवसाय एवं उद्योग-धन्धे निरंतर सम्पन्नता को प्राप्त होते रहें। यही व्यवसाय एवं व्यापार-विकास-सिद्धान्त है।

कामन्दकनीति सर्ग 5 का श्लोक 82 यह कहता है कि प्रजा के पाँच भय हैं प्रथम राज्य के कर्मचारी (आयुक्त), द्वितीय चोर, तृतीय शत्रु, चतुर्थ राजा के कृपापात्र (राजवल्लभ) और पंचम लोभी राजा। राजा को अधीन प्रजा के इन पाँचों भयों को दूर करने चाहिए और इस प्रकार त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) की स्थापना करनी चाहिए एवं इस कार्य के निमित्त अवसर पड़ने पर प्रजा से धन ग्रहण करना चाहिए। यही प्रजा-परित्राण-सिद्धान्त कहता है।

कामन्दकनीति सर्ग 5 का श्लोक 74 यह कहता है कि जिस प्रकार सूर्य पृथ्वी से शनैः-शनैः अल्प मात्रा में जल ग्रहण करता रहता है और समय पर वह उसी के कल्याण हेतु उसी जल को वर्षा के रूप में प्रदान करता है, जिसको पाकर जगत् सुखी, समृद्ध और सम्पन्न होता है, इसी प्रकार राजा भी आचरण करे। राजा अपने अधीन प्रजा से अल्प-अल्प धन करों के रूप में राजकोष के निमित्त ग्रहण करे तथा समय आने पर वह इस धन को प्रजा के उपकार में व्यय करे। यही उपकार-

सिद्धान्त का कहना है।

कामन्दकनीति सर्ग 5 का श्लोक 85 यह कहता है कि राजा दुष्टजनों के धन-धान्य आदि का शोषण उसी प्रकार करे जिस प्रकार परिपक्व व्रण से चतुर पुरुष उसके पीप का शोषण कर लेते हैं। यही दुष्ट-शोधन-सिद्धान्त है।

कामन्दकनीति सर्ग 13 का श्लोक 66 कोष के विभिन्न व्यसनों की चर्चा करता है जो कि इस प्रकार हैं–

(1) कोष का अपनी सामर्थ्य से अधिक व्ययशील होना,

(2) कोष का चारों ओर बिखरा हुआ होना,

(3) कोष के धन-धान्य आदि का भोग किया जा चुका होना,

(4) कोष का धन-धान्य आदि का चुक गया होना,

(5) कोष का स्वामी से दूर होना और

(6) कोष का असंगृहीत होना।

राजा को चाहिए कि वह कोष को शुद्ध रखने के लिए उसे उक्त व्यसनों से मुक्त रखे।

कामन्दक के अनुसार राष्ट्र में सुशासन की व्यवस्था हो। राष्ट्र राष्ट्र-कण्टकों से मुक्त एवं बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित हो। कामन्दकनीति सर्ग 4 का श्लोक 56 यह कहता है कि राष्ट्र का नायक मूर्ख तथा विषयी न हो। राजा को अपने अधीन ऐसे राष्ट्र की वृद्धि यत्नपूर्वक करनी चाहिए। राष्ट्र-वृद्धि में सभी की वृद्धि निहित होती है।

कामन्दक ने राजा के निमित्त तीन शक्तियाँ आवश्यक बतलायी हैं। ये तीन शक्तियाँ मंत्रशक्ति प्रभुशक्ति और उत्साहशक्ति हैं। योगक्षेम को देनेवाली सम्यक्नीति की सामर्थ्य मंत्रशक्ति कहलाती है। सम्यक् कोष तथा सैन्यबल प्रभुशक्ति कहलाती है। बलयुक्त विशेष प्रयत्न उत्साहशक्ति कहलाती है।

19.9 सैन्य बल संबंधी विचार

कामन्दक ने सैन्यबल छह प्रकार का माना है जो कि इस प्रकार है–

(1) मौलबल,

(2) भूतबल,

(3) श्रेणिबल,

(3) सुहृदयबल,

(5) द्विषद्बल और

(6) आटविकबल।

राज्य की सामान्य रक्षा हेतु स्थायी रूप से राज्य की सेवा में रहने वाली सेना मौलबल कहलाती है। विशेष आवश्यकता उपस्थित होने पर राज्य की ओर से वेतन के आधार पर कुछ काल के लिए सैनिकों की भर्ती कर जिस सेना का निर्माण किया जाता है वह सेना भूतबल कहलाती है। जब श्रेणी के रूप में संगठित होकर शस्त्रों का उपयोग कर अपनी जीविका का उपार्जन करने वालों को आवश्यकतानुसार राज्य की सेना में स्थान दे दिया जाता है तो ऐसी सेना श्रेणिबल कहलाती है। जब मित्र राजाओं की कुछ सेना अपने मित्र राजा की सहायता हेतु युद्धकाल में रहे तो ऐसी सेना सुहृदयबल कहलाती है। जब शत्रु की सेना का अंश परस्पर प्रतिज्ञाबद्ध होकर अथवा फूटकर आ मिले तो ऐसी सेना द्विषद्बल कहलाती है। वनवासियों से बनी हुई सेना आटविकबल कहलाती है।

कामन्दकनीति सर्ग 18 का श्लोक 4 यह कहता है कि उत्तर की अपेक्षा पूर्वबल क्रमश: महत्त्वशील है। इस दृष्टि से मौलबल सर्वश्रेष्ठ और आटविकबल इन सभी प्रकार के बलों में निकृष्ट है। कामन्दकनीति सर्ग 18 का श्लोक 3 यह कहता है कि निरन्तर सत्कार अनुराग, संकटकाल में स्वामी का दु:खनाश करने में तत्पर रहने और नित्य स्वामी के भाव में भावित रहने से मौलबल भूतबल की अपेक्षा श्रेष्ठ है। कामन्दकनीति सर्ग 18 का श्लोक 5 यह कहता है कि स्वामी के अधीन वृत्ति होने से स्वामी के समान ही संहर्षण, आमर्ष और सिद्धलाभ होने के कारण भूतबल श्रेणिबल की अपेक्षा महत्वपूर्ण है। सेना की उपयोगिता की दृष्टि से श्रेणिबद्ध का तीसरा स्थान है। कामन्दकनीति सर्ग 18 श्लोक 6 के अनुसार राजा और श्रेणीबल दोनों एक ही जनपद के निवासी होने और देश-काल संबंधी मेल के कारण एक प्रकार का आचार-विचार होने से तथा दोनों का समान हित होने के कारण मित्रबल की अपेक्षा श्रेणीबल अधिक महत्वपूर्ण है। चूँकि शत्रुबल स्वभावत: अधर्मी, लोभी, अनर्थ और प्रतिज्ञा भंग करने वाला होता है इसलिए मित्रबल शत्रुबल की अपेक्षा श्रेष्ठ है। पूर्व में वनवासी होने के कारण आटविकबल शत्रुबल की अपेक्षा न्यून महत्त्वयुक्त है। आटविकबल की अपेक्षा शत्रुबल श्रेष्ठ है। शत्रुबल और आटविकबल, ये दोनों, लूटपाट और मार-काट के लिए विशेष उपयोगी हैं।

कामन्दक ने सेना के चार अंगों की चर्चा की है। ये चार अंग इस प्रकार हैं–

(1) पैदल

(2) अश्वारोही

(3) गजारोही और

(4) रथसेना।

यही चतुरंगिणी सेना कहलाती है।

इसी प्रसंग में कामन्दकनीति सर्ग 18 का श्लोक 24 षड्गबल की भी चर्चा करता है वह इस प्रकार है–

(1) पैदल

(2) अश्वसेना

(3) गजसेना

(4) रथसेना

(5) मंत्रबल

(6) कोषबल

इनमें सबसे उपयोगी गजसेना है। कामन्दकनीति सर्ग 15 के श्लोक 11 के अनुसार सुशिक्षित, संग्राम क्षेत्र का ज्ञाता, धैर्यवान पुरुष से अधिष्ठित युद्ध में अकेला हाथी छह सौ शिक्षित अश्वों को मारने में समर्थ होता है। कामन्दकनीति सर्ग 15 श्लोक 12 के अनुसार जल, स्थल, वृक्षों के संकट में, साधारण, विषम अथवा सम भूमि में तथा परिखा, राजप्रासाद और पर्वतों के विदारण में गजसेना द्वारा ही विजय प्राप्त होती है। हस्तिकर्म की चर्चा करते हुए कामन्दकनीति सर्ग 19 का श्लोक 2 और 3 यह कहता है कि गमन में अग्रगामी वन और दुर्गम स्थान में प्रवेश कर जाना, जहाँ मार्ग नहीं वहाँ मार्ग बना लेना, नदियों के घाटों को उतरने योग्य बना देना, जल में अवगाहन, पारगमन हेतु मार्ग करना, एक ही अंग से विजय देना, संघट्ट हुई सेना को छिन्न-भिन्न कर देना, छिन्न-भिन्न सेना को घेर कर इकट्ठी कर देना, प्राप्त भय का निवारण करना, परिखा और द्वार को तोड़ देना, कोष और नीति की भय से रक्षा करना– ये सभी हस्तिकर्म हैं।

किन्तु यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि हाथियों के लिए भूमि में सर्वत्र स्थिरता हो। कामन्दकनीति सर्ग 19 के श्लोक 14 के अनुसार दरारयुक्त तथा पोली भूमि हाथी के लिए उपयुक्त नहीं होती।

मर्दन करने तथा तोड़ने योग्य वृक्षों से संकीर्ण, पंकरहित, उर्वरा, गमनशील और ऊँची-नीची भूमि हाथियों के प्रचार योग्य होती है।

कामन्दक ने गजसेना के उपरान्त अश्वसेना को महत्व प्रदान किया है। कामन्दकनीति सर्ग 19 के श्लोक 4 और 5 के अनुसार वन, दिसा और मार्ग की खोज करना, भार ढोने की वहंगी सेना और धान्य की रक्षा करना, अपसरण में पीछे गमन और कार्य का शीघ्र सम्पादन करना, दीन (लाचार) की रक्षा करना, शस्त्र के सम्मुख गमन करना, वक्रगति से प्रहार करना– ये सभी अश्वकर्म हैं।

अश्व के विचरण करने योग्य भूमि के संबंध में कामन्दकनीति सर्ग 19 का श्लोक 10 यह कहता है कि अल्पवृक्ष और अल्पपाषाणवाली, अल्पछिद्र और लतावाली, दराररहित, स्थिर, कंकड़रहित, पंक और दलदलहीन भूमि अश्व के विचरणयोग्य होती है।

कामन्दकनीति सर्ग 19 का श्लोक 5 यह कहता है कि सदा शस्त्र धारण करना पैदल सेना का कार्य है। कामन्दकनीति सर्ग 19 के श्लोक 9 के अनुसार ठूँठ, बाँबी, वृक्ष, गुल्म, काँटों और लताओं से युक्त विषम भूमि आदि स्थल पैदलसेना के लिए अनुपयुक्त हैं।

कामन्दकनीति सर्ग 18 के श्लोक 43 के अनुसार सेना का सबसे महत्वपूर्ण अधिकारी सेनापति होगा। इसे कामन्दक ने ध्वजनीपति की भी उपाधि दी है। कामन्दनीति सर्ग 18 के श्लोक 27 से श्लोक 43 के अनुसार सेनापति की आकृति कल्याणकारी होनी चाहिए। उसमें क्षुधा, पिपासा, श्रम, त्रास, शीत, वात, गर्मी, वर्षा आदि प्रकोपों को सहन कर लेने की सामर्थ्य होनी चाहिए। उसे युद्ध विद्या में कुशल तथा हाथी, अश्व, रथ और अस्त्र-शस्त्र के प्रयोग में प्रवीण होना चहिए। हाथी, अश्व और मनुष्यों आदि के स्वभाव एवं उनके चित्त का ज्ञान रखने वाला होना चाहिए। उसे युद्धविद्या का ज्ञाता, आलस्य, तन्द्रा, दीर्घसूत्रता आदि का त्यागी, अनुशासनशील, अकारण वैर न करने वाला, बहुश्रुत, अर्थसम्पन्न, प्रभाव और उत्साह से परिपूरित, अनुजीवियों के लिए उनकी जीविका की सम्यक् व्यवस्था करने वाला होना चाहिए। सेनापति को अच्छे कुल में उत्पन्न हुआ, अपने ही देश का निवासी, बहुस्वजन और बन्धु-बान्धवों से संपन्न एवं व्यवहारकुशल होना चाहिए। उसे मंत्रवित्, यन्त्रानुसार कार्य करने वाला और दण्ड-प्रयोग में कुशल होना चाहिए। उसे अनेक देश-भाषाओं का ज्ञाता एवं उनकी लिपियों का ज्ञान रखने वाला तथा दृढ़स्मृतिवाला पुरुष होना चाहिए। उसे ज्योतिष का ज्ञाता होना चाहिए। सेनापति अपनी सेना के भय का मोचन करने वाला, छावनी की रक्षा करने वाला, चर तथा दूतों के प्रचार को जानने वाला होना चाहिए।

कामन्दकनीति सर्ग 15 का श्लोक 17 बलमुख्य की चर्चा करता है। सेना की विभिन्न टोलियों तथा वर्गों के मुख्य पदाधिकारी ही बलमुख्य होते हैं। सेना के जो छह प्रकार हैं, उनमें प्रत्येक का सर्वोच्च अधिकारी ही बलमुख्य कहलाता है। ये छह बलमुख्य मौलबलमुख्य, भूतबलमुख्य, श्रेणिबलमुख्य, सुहदयबलमुख्य, द्विषदबलमुख्य और आटविकबलमुख्य हैं।

कामन्दक ने सेना के चारों अंगों गजसेना, अश्वसेना, रथसेना और पैदलसेना के पृथक्-पृथक् पति बतलाये हैं जिन्हें सेनांगपति के नाम से संबोधित किया है। प्रत्येक बलमुख्य के अधीन चार-चार सेनांगपति गजसेनांग पति, अश्वसेनांगपति, रथसेनांगपति और पत्तिसेनांगपति होते हैं।

अत: कामन्दक के अनुसार राजा की सेना में एक सेनापति, छह बलमुख्य और चौबीस सेनांगपति होते हैं। सेनापति सम्पूर्ण सेना का सर्वोच्च अधिकारी होता है। उसके अधीन छह बलमुख्य और प्रत्येक बलमुख्य के अधीन चार-चार सेनांगपति होते हैं। कामन्दकनीति सर्ग 18 का श्लोक 32 यह कहता है कि सेनांगपति किसी प्रकार से भी भेद को प्राप्त न होने वाला, कुलीन, पवित्र, लक्ष्यभेदप्रवीण, प्रहार करने में कुशल और अनेक युद्धों में भाग लेने वाला होना चाहिए।

कामन्दकनीति सर्ग 15 का श्लोक 18 राजा के पुत्र (विशेषकर ज्येष्ठ पुत्र) को युद्धकाल में सेना में विशेष स्थान ग्रहण कराता है। कुमार का स्थान सेनापति के समकक्ष ही महत्वपूर्ण है।

कामन्दकनीति सर्ग 18 का श्लोक 45 सेना के एक अन्य महत्वपूर्ण पदाधिकारी 'नायक' की भी चर्चा करता है। यह नायक सेना के गमनकाल में सेना का पथप्रदर्शन करता है तथा सेना पर आने

होती है जो सेना के प्रयाण-काल में, उसके मार्ग में आने वाले विघ्न एवं संकटों का शमन करती है।

कामन्दकनीति सर्ग 13 का श्लोक 67 से श्लोक 72 सेना के अनेक व्यसनों की चर्चा करता है। ये व्यसन है रुकी हुई, सब ओर से घिरी हुई, सम्मान न पायी हुई, तिरस्कृत, वेतन न पायी हुई, व्याधित, थकी हुई, दूर से चलकर आयी हुई, नयी भर्ती की गयी, क्षीण हुई, नायकहीन,हतनायक, आशाछिन्न, असत्य से प्राप्त, स्त्रीजनयुक्त, विक्षिप्त, हृदय में द्वेष रखने वाली, परस्पर निर्भिन्न, छिन्न-भिन्न, अति संघट्ट से रहने वाली, क्रोधित, नायक से विमन, शत्रु से मिली हुई, दोष लगायी गयी, विषयग्रस्त, मित्रों द्वारा परित्यक्त,भारवाहनसाधनहीन, जनपद से रक्षाहीन, स्वामी रहित, भिन्नकूट, दुष्यपार्ष्णिग्राह,मूढ़ (अंध) अर्थात् कार्य करने में असमर्थ। कामन्दक का यह कहना है कि सेना को उक्त व्यसनों से मुक्त करना चाहिए।

कामन्दक के राजतंत्र संबंधी विचार का सारांश यह है कि राज्य के सभी अंगों मे समग्रता स्थापित रहे। स्वामी (राजा) प्रजा को धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति करा उसके मोक्ष-मार्ग को सुगम करता रहे। राजा आत्मसम्पत्वान् हो।

19.10 उपयोगी पुस्तकें

कामन्दकीय नीतिसार- (हाभारतान्तर्गत) स्वर्गीय विद्यावारिथ पं. ज्वालाप्रसाद जी मिश्र (टीकाकार), खेमराज श्री कृष्णदास, 91/109, खेमराज श्री कृष्णदास मार्ग, 6वीं खेरवाड़ी,बैंकरोड कार्नर, मुंबई-400004

19.11 संबंधित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(1) कामन्दक के अनुसार राज्य के कितने अंग हैं?

(2) आत्मसम्पद के अन्तर्गत, राजपद के लिए प्रमुख योग्यताएँ कौन कौन सी वांछनीय समझी जाती हैं?

(3) राज्य की चतुरसूत्री आर्थिक व्यवस्था क्या है?

(4) चर के प्रमुख गुण क्या हैं?

(5) सेना के कितने अंग हैं ?

लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) कामन्दक द्वारा प्रतिपादित 'सप्तांग राज्य' पर टिप्पणी लिखिए।

(2) राजा के संबंध में कामन्दक के विचारों की विवेचना कीजिए।

(3) कामन्दक-नीति में प्रस्तुत राजा के दायित्वों का वर्णन कीजिए।

(4) कोष के संबंध में कामन्दक के विचारों का विवेचन कीजिए।

(5) सेना के संबंध में कामन्दक के विचारों पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) कामन्दक के अनुसार राज्य का प्रथम अंग है :

(a) राष्ट्र (b) कोश (c) स्वामी (d) बल

(2) कामन्दक के अनुसार राजा :

(a) आत्मसम्पत्वान् हो

(b) धर्मवान् हो

(c) बलवान् हो

(d) अर्थवान् हो

(3) कामन्दक के अनुसार राज्य की रक्षा होती है :

(a) अर्थ को गुप्त रखने से

(b) धर्म को गुप्त रखने से

(c) मंत्र को गुप्त रखने से

(d) काम को गुप्त रखने से

(4) राज्य के समस्त क्रियाचक्र की नाभि :

(a) सेना है (b) अमात्य है (c) चर है (d) कोष है

(5) कामन्दक के अनुसार बल मुख्य है :

(a) तीन (b) चार (c) पाँच (d) छह

19.12 संबंधित प्रश्न

1. (c) 2. (a) 3. (c) 4. (d) 5. (d)

इकाई 20 : कामन्दक के अन्तर्राज्यसम्बन्धी विचार

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य

20.1 प्रस्तावना

20.2 विषय परिचय

20.3 मण्डल सिद्धान्त

20.4 मंत्र संबंधी विचार

20.5 उपाय संबंधी विचार

20.6 युद्ध संबंधी विचार

20.7 उपयोगी पुस्तकें

20.8 सम्बन्धित प्रश्न

20.9 प्रश्नोत्तर

20.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप जानेंगे-

- कामन्दक द्वारा प्रेषित मण्डल संबंधी सिद्धान्त।
- कामन्दक के युद्ध संचालन पर विचार।

20.1 प्रस्तावना

कामन्दक-नीति के रचनाकाल में भारत छोटे-बड़े अनेक राज्यों में विभक्त था। इन राज्यों में परस्पर किस प्रकार के सम्बन्ध होने चाहिए, इस विषय पर कामन्दक ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। कामन्दक के इन विचारों से ऐसा ज्ञात होता है कि इन सम्बन्धों की स्थापना में मण्डल-सिद्धान्त की प्रमुख भूमिका है।

20.2 विषय परिचय

कामन्दक ने विविध राजमण्डलों की व्याख्या कर उनके विशेष लक्षणों का उल्लेख किया है। प्राचीन भारत के अन्य राजशास्त्र प्रणेताओं ने मण्डल के विविध रूपों का वर्णन इतना स्पष्ट नहीं किया है जितना कामन्दक ने।

20.3 मण्डल-सिद्धान्त

कामन्दक के मण्डल-सिद्धान्त के अनुसार, राज्यों की चार श्रेणियाँ हैं-- (1) विजिगीषु, (2) शत्रु, (3) मध्यम, (4) उदासीन। अत: राजा की भी चार श्रेणियाँ हुई। कामन्दकनीति सर्ग 8 का श्लोक 20 विजिगीषु, अरि, मध्यम और उदासीन, इन चार श्रेणियों में राजाओं को परिगतिणत करता है और उन्हें मण्डल की मूल प्रकृति मानता है।

कामन्दकनीति सर्ग 8 का श्लोक 6 विजिगीषु के संबंध में यह कहता है कि अपनी प्रकृतियों

(आत्म, दण्ड, कोषादि) से सम्पन्न, महाउत्साहवान्, परिश्रमशील, विजय की कामना करने वाले राजा को विद्वानों ने विजिगीषु की उपाधि दी है। कामन्दकनीति सर्ग 8 का श्लोक 7 से 12 विजिगीषु राजा के वांछनीय गुणों की चर्चा करते हुए यह कहता है कि कुलीनता, वृद्धजनों की सेवा, उत्साह, स्थूल-लक्ष्यता, चितज्ञता, बुद्धिमत्ता, प्रगल्भता, अदीर्घसूत्रता, अक्षुद्रता, नम्रता, स्वप्रधानता, देशकालज्ञता, दृढ़ता, सर्वक्लेशसहनशीलता, सर्व विषयों का यथार्थज्ञान, दक्षता, मंत्रगोपनीयता, आशा का भंग न करना, सूरता, भक्तिज्ञता, कृतज्ञता, शरणागत-पालन, सहनशीलता, चपलता-त्याग, शास्त्रानुसार कार्य करने की प्रवृत्ति, कार्यकुशलता, दूरदर्शिता, श्रम-सहनशीलता, धार्मिकता, क्रूर जनों से रहित होना, प्रजा की उन्नति से तत्परता आदि सभी गुण विजिगीषु राजा में होने चाहिए। इन गुणों के अतिरिक्त कामन्दकनीति सर्ग 8 का श्लोक 12 और 13 विजिगीषु राजा को प्रतापी होना अनिवार्य बताता है।

अरिराजा दो प्रकार का होता है एक सहज अरि और दूसरा कार्यज अरि। कामन्दकनीति सर्ग 8 के श्लोक 56 के अनुसार अपने ही कुल में उत्पन्न सहज (स्वाभाविक) तथा अरिकार्य से उत्पन्न हुआ अरि होता है।

मित्र के संबंध में कामन्दकनीति का श्लोक 74 यह बताता है कि औरस, कृतसम्बन्ध, वंश-क्रमागत और व्यसनरक्षित ये चार प्रकार के मित्र राजा होते हैं। माता-पिता के सम्बन्ध के आधार पर जो मित्र होते हैं वे औरस हैं। विवाहादि सम्बन्ध स्थापित कर बनाया गया मित्र कृतसम्बन्ध मित्र होता है। परम्परा से चला आया हुआ मित्र-वंश में उत्पन्न मित्र वंशक्रमागत मित्र होता है। संकटमोचन पर बनाये गये मित्र को व्यसनरक्षित मित्र कहते हैं। कामन्दक नीति अध्याय 4 का श्लोक 75 यह कहता है कि पवित्रता, त्याग, शूरता, सुख–दुःख में समानता, अनुराग, दक्षता, सत्यता आदि सुहृदों के गुण होते हैं।

मध्यम राजा के संबंध में कामन्दकनीति सर्ग 8 का श्लोक 18 यह कहता है कि विजिगीषु और उसके अरि, इन दोनों राजाओं की राजसीमा पर स्थित राज्य का शक्तिशाली राजा, जो इन दोनों राजाओं पर एक साथ अथवा पृथक्-पृथक् अनुग्रह अथवा विग्रह में समर्थ हो, मध्यम राजा कहलाता है।

उदीसीन राजा विजिगीषु, अरि और मध्यम – इन तीनों राजाओं की संगठित शक्ति से भी अधिक शक्तिशाली होता है। उदासीन राजा इन तीनों प्रकार के राजाओं पर पृथक्-पृथक् एवं उनके संगठित होने पर भी अनुग्रह एवं विग्रह में समर्थ होता है। ऐसा कामन्दकनीति सर्ग 8 के श्लोक 19 का कहना है।

इन चार प्रकार के राजाओं के अतिरिक्त चार प्रकार के अन्य राजा भी बतलाए गए हैं जो कि इस प्रकार हैं–

(1) पार्ष्णिग्राह

(2) आक्रन्द

(3) पार्ष्णिग्राहसार

(4) आक्रन्दसार

विजिगीषु द्वारा विजय-यात्रा करने के उपरान्त उसके राज्य से सटा हुआ पृष्ठ भाग में स्थित राज्य का जो राजा उसके राज्य का मर्दन करता है अथवा उस पर आक्रमण करता है वह पार्ष्णिग्राह कहलाता है।

विजिगीषु राजा के पृष्ठ में स्थित पार्ष्णिग्राह राजा के पृष्ठ में उसके (पार्ष्णिग्राह के) राज्य से सटे हुए राज्य का राजा आक्रन्द नाम से सम्बोधित होता है।

आक्रन्द राजा के पृष्ठ में उसके राज्य की सीमा से सम्बद्ध सीमा वाले राज्य का राजा पार्ष्णिग्राहसार होता है। पार्ष्णिग्राहसार के पृष्ठ में उसकी राज्य सीमा से सम्बद्ध सीमा वाले राज्य का राजा

आक्रन्दसार के नाम से सम्बोधित होता है। यह आक्रन्द का प्रकृतिमित्र और पार्ष्णिग्राहसार का प्रकृतिशत्रु होता है।

कामन्दकनीति सर्ग 8 का श्लोक 2 यह कहता है कि राजा को विशुद्ध मण्डल में विचरण करना चाहिए। विशुद्ध मण्डल में विचरण करता हुआ राजा रथी के समान शोभित होता है परन्तु अशुद्ध मण्डल में गमन करने से वह रथचक्र में फँसे हुए के समान विदीर्ण हो जाता है।

कामन्दकनीति सर्ग 8 का श्लोक 3 यह कहता है कि चूँकि अखण्ड मण्डलवाले चन्द्रमा के समान विजयाकांक्षी राजा सभी प्राणियों से शोभित होता है इसलिए विजिगीषु को सम्पूर्ण मण्डलयुक्त रहना चाहिए।

कामन्दक ने राजमण्डलों के अनेक प्रकार बतलाए हैं जो कि इस प्रकार हैं–

(1) त्रिकमण्डल

(2) चतुष्कमण्डल

(3) षट्कमण्डल

(4) अष्टकमण्डल

(5) दशकमण्डल

(6) द्वादशकमण्डल

(7) षट्विंशत्कमण्डल

(8) प्रकृतिमण्डल

(9) अष्टादशकमण्डल

(10) अष्टोत्तरशत प्रकृति मण्डल

(11) चतु: पञ्चाशत्क मण्डल

(12) चतुर्विंशति त्रिशत मण्डल

(13) षट्त्रिंशत्क प्रकृति मण्डल

(14) एक विंशत्क प्रकृति मण्डल

(15) अड़तालीस प्रकृतियों का मण्डल

(16) षष्टिमण्डल

(17) त्रिंशत्कमण्डल

कामन्दकनीति सर्ग 8 का श्लोक 31 विजिगीषु, अरि और मध्यम इन तीन राजाओं के मण्डल को त्रिकमण्डल की संज्ञा प्रदान करता है। त्रिकमण्डल का निर्माण तीन राजाओं द्वारा होता है। अरि से तात्पर्य उस राजा से है, जिसके विरुद्ध विजिगीषु विजयकामना से आक्रमण करता है।

कामन्दकनीति सर्ग 8 का श्लोक 20 विजिगीषु, अरि, मध्यम और उदासीन राजाओं के मण्डल को चतुष्कमण्डल की संज्ञा प्रदान करता है।

कामन्दकनीति सर्ग 8 का श्लोक 21 यह कहता है कि विजिगीषु, अरि, मित्र, पार्ष्णिग्राह मध्यम और उदासीन इन छह राजाओं के द्वारा षट्कमण्डल की रचना होती है।

कामन्दकनीति सर्ग 8 के श्लोक 34 के अनुसार विजिगीषु, अरि, मध्यम और उदासीन और उनके पृथक-पृथक मित्र-इन आठ राजाओं का अष्टकमण्डल बनता है।

कामन्दकनीति सर्ग 8 का श्लोक 35 यह बतलाता है कि विजिगीषु, उसका अरि, मित्र, अरिमित्र, मित्र-मित्र, अरि मित्र-मित्र, पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहसार और आक्रन्दसार इन दस राजाओं से

दशकमण्डल का निर्माण होता है।

कामन्दकनीति सर्ग 18 श्लोक 12 के अनुसार विजिगीषु, अरि, मध्यम और उदासीन-मण्डल की ये चार मूल प्रकृतियाँ - उनमें से प्रत्येक का एक-एक मित्र अर्थात् चार मित्र राजा और अरि (जिस राजा पर आक्रमण किया गया है) तथा पार्ष्णिग्राह– इस प्रकार इन बारह राजाओं से द्वादशकमण्डल का निर्माण होता है।

कामन्दकनीति सर्ग 8 का श्लोक 23 यह बताता है कि द्वादशकमण्डल के बारह राजाओं में प्रत्येक राजा के अरि और मित्र अर्थात् बारह मित्र राजा और बारह अरि राजा कुल चौबीस राजा हुए। इनमें मध्यम और उदासीन दो को मिलाकर कुल छब्बीस राजाओं को मिलाकर छब्बीस राजाओं का एक मण्डल षट्विंशत्कमण्डल का निर्माण करता है।

कामन्दकनीति सर्ग 8 का श्लोक 25 द्वादशकमण्डल के बारह राजा और उन बारह राजाओं में प्रत्येक की पाँच-पाँच शाखा प्रकृतियाँ (अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष और दण्ड) अर्थात् सब मिलाकर बहत्तर प्रकृतियों से निर्मित मण्डल प्रकृति मण्डल की उपाधि प्राप्त करता है।

कामन्दकनीति सर्ग 8के श्लोक 25 के अनुसार द्वादशकमण्डल के बारह राजा और विजिगीषु और अरि तथा उन दोनों में प्रत्येक का एक-एक शत्रु एवं मित्र अर्थात् दो शत्रु राजा और दो मित्र राजा मिलकर अठारह राजाओं का अष्टादशकमण्डल बनाते हैं।

कामन्दकनीति सर्ग 8 के श्लोक 27 के अनुसार अष्टादशकमण्डल के अठारह राजा और उनमें प्रत्येक राजा की पाँच-पाँच प्रकृतियाँ (अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, दण्ड और कोष) और इस प्रकार कुल एक सौ आठ प्रकृतियों से अष्टोत्तरशत प्रकृतिमण्डल का निर्माण होता है।

कामन्दकनीति सर्ग 8 का श्लोक 28 यहँ बतलाता है कि अष्टादशकमण्डल के अठारह राजा और उनमें प्रत्येक के पृथक्-पृथक् शत्रु और मित्र (अठारह राजा + उनके अठारह शत्रु + अठारह मित्र= चौवन राजा) कुल चौवन राजाओं का चतु:पञ्चाशत्कमण्डल का निर्माण करते हैं। कामन्दकनीति सर्ग 8 के श्लोक 29 के अनुसार चतु:पञ्चाशत्कमण्डल के चौवन राजा और उनमें से प्रत्येक की पृथक्-पृथक् पाँच-पाँच प्रकृतियाँ (अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष और दण्ड) अर्थात् चौवन राजप्रकृतियाँ और उनकी दो सौ सत्तर शाखा प्रकृतियाँ मिलकर तीन सौ चौबीस प्रकृतियों का चतुर्विशतित्रिशतमण्डल बनाते हैं।

कामन्दकनीति सर्ग 8 के श्लोक 32 के अनुसार षट्कमण्डल के छह राजा और उनमें से प्रत्येक की पाँच-पांच प्रकृतियाँ, इस प्रकार छह राजप्रकृतियाँ और तीस शाखा प्रकृतियाँ मिलकर छत्तीस प्रकृतियाँ षट्त्रिशत्कप्रकृतिमण्डल का निर्माण करती हैं।

कामन्दकनीति सर्ग 8 का श्लोक 33 तीन मूल प्रकृतियों (विजिगीषु, अरि और मध्यम) और प्रत्येक की पृथक्-पृथक् छह-छह प्रकृतियों (अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोश, दण्ड और सुहृद्) से मिलकर बने इक्कीस प्रकृतियों वाले मण्डल को एकविंशत्कप्रकृतिमण्डल कहता है।

कामन्दकनीति सर्ग 8 से श्लोक 34 के अनुसार चार राजा (विजिगीषु, अरि, मध्यम और उदासीन) और इनमें से प्रत्येक का एक-एक मित्र राजा, ये आठ मूल प्रकृतियाँ और उनमें प्रत्येक की पाँच-पाँच शाखा प्रकृतियाँ, कुल अड़तालीस प्रकृतियों का मण्डल बनाती हैं।

कामन्दकनीति सर्ग 8 के श्लोक 36 के अनुसार दशक मण्डल के दश राजा और उनमें प्रत्येक की पाँच-पाँच शाखा प्रकृतियाँ अर्थात् दश मूल प्रकृतियाँ और पचास शाखा प्रकृतियाँ कुल साठ प्रकृतियों का षष्टिमण्डल बनता है।

कामन्दकनीति सर्ग 8 के श्लोक 37 तथा 38 के अनुसार विजिगीषु, उसके आगे तथा पीछे के राजा (पार्ष्णिग्राह और अरि) और उसका शत्रु (जिसके विरुद्ध आक्रमण किया गया है) एवं मित्र– ये पाँच मूल प्रकृतियाँ और इन पाँचों राजाओं की पृथक्-पृथक् पाँच-पाँच शाखा प्रकृतियाँ (अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष और दण्ड) ये सब मिलकर तीस प्रकृतियों का त्रिशत्कमण्डल बनाती हैं।

इस प्रकार कामन्दक ने विविध राजमण्डलों की व्याख्या कर उनके विशेष लक्षणों का सुस्पष्ट वर्णन प्रस्तुत किया है। ऐसा प्राचीन भारत के अन्य राजशास्त्रप्रणेताओं में हमें कहीं भी नहीं दिखता।

20.4 मंत्र संबंधी विचार

कामन्दक ने मंत्र को राज्य का मूल माना है। यह मंत्र षाड्गुणी है। षाड्गुण्य मंत्र के छह गुण इस प्रकार हैं–

(1) सन्धि

(2) विग्रह

(3) यान

(4) आसन

(5) द्वैधीभाव

(6) आश्रय

कामन्दकनीति सर्ग 9 श्लोक 1 के अनुसार जब राजा बली शत्रु से आक्रान्त हो जाए और उससे बचने का अन्य कोई उपाय दृष्टिगोचर न हो तो ऐसी परिस्थिति में राजा को सन्धि गुण का आश्रय लेना चाहिए।

कामन्दक के पूर्व सन्धिज्ञाताओं ने सन्धि के सोलह भेद किए किन्तु कामन्दक ने सन्धि के बीस भेद बतलाए हैं जो कि इस प्रकार हैं–

(1) कपाल सन्धि

(2) उपहार सन्धि

(3) सन्तान सन्धि

(4) संगत सन्धि

(5) उपन्यास सन्धि

(6) प्रतिकार सन्धि

(7) संयोग सन्धि

(8) पुरुषान्तर सन्धि

(9) अदृष्ट पुरुष सन्धि

(10) आदिष्ट सन्धि

(11) आत्मामिष सन्धि

(12) उपग्रह सन्धि

(13) परिक्रय सन्धि

(14) परिदूषण सन्धि

(15) उच्छिन्न सन्धि

(16) स्कन्धोपनेय सन्धि

(17) उपकार सन्धि

(18) मैत्र्य सन्धि

(19) सम्बन्ध सन्धि और

(20) भेंट सन्धि

कामन्दकनीति सर्ग 9 के श्लोक 35 के अनुसार समान शक्तिवाले राजाओं के मध्य जो सन्धि की जाती है वह कपाल सन्धि कहलाती है। श्लोक 5 के अनुसार द्रव्यदान के आधार पर, दो राजाओं के मध्य जो सन्धि की जाती है वह उपहार सन्धि कहलाती है। श्लोक 6 के अनुसार कन्यादान करके जो सन्धि की जाती है वह सन्तान सन्धि कहलाती है। श्लोक 6 के अनुसार ही सज्जन राजाओं के मध्य मित्रता स्थापित करने के हेतु जो सन्धि की जाती है वह संगत संधि कहलाती है। श्लोक 9 के अनुसार किसी श्रेष्ठ कार्य के संपादन हेतु जो सन्धि की जाती है वह उपन्यास सन्धि कहलाती है। प्रतिकार-सन्धि के दो रूप हैं। श्लोक 10 के अनुसार उपकार के बदले में उपकार की कामना हेतु जो सन्धि की जाती है, उसे प्रतिकार-सन्धि का प्रथम रूप कहा जाता है। श्लोक 11 के अनुसार, "मैं इसका उपकार करता हूँ, यह भी मेरा उपकार करेगा" इस कामना से जो सन्धि की जाती है, वह प्रतिकार - सन्धि का द्वितीय रूप कहा जाता है। श्लोक 12 के अनुसार किसी अर्थविशेष को समक्ष रखकर विधिवत् गमन करते हुए, मार्ग में जो सन्धि होती है वह संयोग-सन्धि कहलाती है।

श्लोक 13 के अनुसार जब दो राजाओं में इस प्रतिज्ञा के आधार पर सन्धि होती है कि उन दोनों के मुख्य योद्धाओं के द्वारा उनके परस्पर कार्य सिद्ध होते रहेंगे तो इस प्रकार की संधि पुरुषान्तर संधि कहलाती है। श्लोक 14 के अनुसार जब बिजिगीषु राजा के साथ हीनबल शत्रु राजा इस आधार पर सन्धि कर लेता है कि हीनबल राजा अकेले ही शत्रुराजा के कार्य सम्पादन हेतु अपनी सेना के साथ गमन करता रहेगा तो इस प्रकार की सन्धि अदृष्ट-पुरुष संधि कहलाती है। श्लोक 3 के अनुसार अदृष्ट-पुरुष संधि अदृष्टनरसन्धि के नाम से भी संबोधित है। श्लोक 15 के अनुसार कुछ भूभाग देने की प्रतिज्ञा के आधार पर जो सन्धि की जाती है वह आदिष्ट सन्धि कहलाती है। श्लोक 16 के अनुसार राजा और उसी के सेना के मध्य जो सन्धि की जाती है वह आत्मामिष सन्धि कहलाती है। इस सन्धि के अनुसार हीनबल राजा को स्वयं अपनी सेना के साथ शत्रुराजा की सेना में उसकी सहायतार्थ उपस्थित होना पड़ता है। श्लोक 16 के अनुसार ही जब प्राणरक्षा के निमित्त सर्वस्वदान कर सन्धि की जाती है वह उपग्रह सन्धि कहलाती है। श्लोक 17 के अनुसार कोष के कुछ अंश अथवा सम्पूर्ण कोष के दान द्वारा अन्य प्रकृतियों (कोष के अतिरिक्त राजा, मंत्री आदि अन्य छह प्रकृतियों) की रक्षा के निमित्त जो सन्धि की जाती है, वह परिक्रय सन्धि कहलाती है। श्लोक 18 के अनुसार जिस सन्धि में हीनबल राजा अपनी भूमि की सम्पूर्ण उपज अपने बली शत्रु के निमित्त प्रदान कर देने की प्रतिज्ञा (अपनी भूमि को विजयी शत्रुराजा से मुक्त कराने के लिए) की जाती है, वह परिदूषण सन्धि कहलाती है। श्लोक 18 के ही अनुसार जो सारभूमि प्रदान करने की प्रतिज्ञा के आधार पर सन्धि की जाती है, वह उच्छिन्न सन्धि कहलाती है। श्लोक 19 के अनुसार थोड़े फल आदि थाली मे रखकर और उसे कन्धे पर धारण कर भृत्यजन राजा के समक्ष भेंट प्रस्तुत करें, तो इस प्रकार जो सन्धि दो राजाओं के मध्य होती है, वह स्कन्धोपनेय सन्धि कहलाती है। श्लोक 20 के अनुसार एक दूसरे के उपकार में संलग्न उपकार सन्धि, परस्पर मित्रभाव की स्थापना करते रहने की प्रतिज्ञा से आबद्ध होकर की जाने वाली सन्धि मैत्र सन्धि, परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर की जाने वाली सन्धि सम्बन्ध सन्धि और उपयुक्त भेंट प्रस्तुत कर की जाने वाली सन्धि भेंट सन्धि कहलाती है। श्लोक 21 के अनुसार भेंट सन्धि श्रेष्ठ है क्योंकि बली आक्रमणकारी राजा लोभ की निवृत्ति हुए बिना लौट नहीं सकता। श्लोक 22 के अनुसार ऐसी स्थिति में भेंट प्रदान करने के अतिरिक्त सन्धि का अन्य कोई साधन होता ही नहीं।

कान्दकनीति सर्ग 9 के श्लोक 43 से श्लोक 52 तक सन्धि योग्य व्यक्तियों की चर्चा है। इसमें सात प्रकार के व्यक्तियों को सन्धि के योग्य बतलाया गया है–

(1) सत्यवादी

(2) आर्यपुरुष

(3) अनार्य

(4) बन्धुओं से सम्पन्न

(5) बलवान्

(6) धार्मिक और

(7) अनेक युद्धविजयी

कामन्दकनीति सर्ग 9 के श्लोक 23 से श्लोक 27 तक सन्धि के अयोग्य व्यक्तियों की चर्चा है। इसमें बीस प्रकार के व्यक्तियों को सन्धि के अयोग्य बतलाया गया है–

(1) बालक

(2) वृद्ध

(3) दीर्घकालीन रोगी

(4) जाति से बहिष्कृत

(5) भीरु

(6) दूसरों को भीरु बनाने वाला

(7) लोभी

(8) लुब्धजन

(9) विरक्त प्रकृति (जिस राजा के मंत्री, सुहृद् आदि प्रकृतियाँ विरक्त हो गयी हैं)

(10) अति व्यसनग्रस्त

(11) अनेक चित्त से मंत्र-सम्मत्ति करने वाला

(12) देवब्राह्मण निन्दक

(13) दैव से हत

(14) प्रारब्ध के ही आश्रय रहने वाला

(15) दुर्भिक्ष व्यसनग्रस्त

(16) व्यसनग्रस्त सेनावाला

(17) देशहीन

(18) बहुशत्रुवाला

(19) समय पर प्रतिज्ञा भंग कर देने वाला और

(20) सत्य धर्म से रहित।

इनसे सन्धि नहीं करनी चाहिए। इनसे विग्रह करना ही उचित होगा।

कामन्दकनीति सर्ग 10 का श्लोक 17 विग्रह गुण की व्याख्या करते हुए कहता है कि क्रोध धारण किए हुए, क्रोध से ही सन्तप्त चित्तवाले दो व्यक्तियों का परस्पर अपकार में संलग्न होना विग्रह कहलाता है। कामन्दकनीति श्लोक 73 से श्लोक 75 तक विग्रह के निषेध की चर्चा करते हुए कहता है कि विग्रह से क्षय, व्यय आदि दोष उत्पन्न होते हैं। इसलिए विग्रह गुण का आश्रय नहीं लेना चाहिए, अपना शरीर, बल, सुहृद्वर्ग और धन एक निमेष में पराए हो जाते है और वह बारम्बार व्याकुल होते हैं। इसलिए बुद्धिमान् पुरुष को अतिविग्रह नहीं करना चाहिए। अपने सुहृद, अपना धन, राज्य, आत्मा और यश– ये सभी युद्ध में तराजू में तौले जाते हैं। किधर पलड़ा भारी हो जाय किसी को ज्ञात नहीं। ऐसी परिस्थिति में युद्ध करने की मूर्खता किसी को भी नहीं करनी

चाहिए। इसके अतिरिक्त बली के साथ कभी भी युद्ध नहीं करना चाहिए। कामन्दकनीति सर्ग 9 का श्लोक 49 यह कहता है कि 'बली के साथ (निर्बल को) युद्ध करना चाहिए, ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं है। मेघ पवन के प्रतिकूल कभी नहीं चलते। किन्तु कामन्दकनीति सर्ग 15 का श्लोक 2 व्यसनग्रस्त राजा पर आक्रमण करने की अनुमति देता है। परन्तु श्लोक 3 ऐसे आक्रमण की अनुमति तभी देता है जब कि आक्रमण के लिए उत्सुक राजा पराक्रम में बढ़ा-चढ़ा हो। कामन्दकनीति सर्ग 10 के श्लोक 26 के अनुसार जब बुद्धिमान राजा अपने बल (सैन्य बल) को हृष्ट-पुष्ट देखे और शत्रु के बल को इसके विपरीत देखे तब विग्रह गुण का आश्रय लेना उचित होगा। श्लोक 27 के अनुसार जब अपना प्रकृतिमण्डल सम्पन्न एवं अनुरक्त हो और शत्रु का प्रकृतिमण्डल इसके विपरीत हो, तब विग्रहगुण का आश्रय लेना उचित होगा।

कामन्दक ने सोलह प्रकार के विग्रह का निषेध किया है–

(1) जिस विग्रह से अल्प फल की प्राप्ति हो,

(2) जिस विग्रह से कुछ भी फल प्राप्त न हो,

(3) जिस विग्रह में फल सन्दिग्ध हो,

(4) सन्दिग्ध फल की प्राप्ति होने में,

(5) वर्तमान काल में दोषों को प्रकट करने वाला विग्रह हो

(6) शत्रु के बल-वीर्य से अज्ञात होने वाले,

(7) दुष्ट के बहकाने से होने वाले,

(8) दूसरे के निमित्त किए जाने वाले,

(9) स्त्री के निमित्त होने वाले,

(10) दीर्घकाल से श्रेष्ठ ब्राह्मणों से बैर साधने से,

(11) अकाल में होने वाले,

(12) दैवयुक्त होने से,

(13) बल से मित्र को उच्छिन्न करने वाले,

(14) वर्तमान काल मे फल की प्राप्ति न देखने से,

(15) आगामी काल में फल की प्राप्ति न होने वाले और

(16) वर्तमान काल में निष्फल होने वाले।

कामन्दकनीति सर्ग 10 के श्लोक 22 से 25 तक मान्य विग्रह की चर्चा की गयी है। श्लोक 22 के अनुसार जो कार्य 'वर्तमान और भविष्य दोनों कालों में शुरू हों उन्हीं कार्यों के सम्पादन हेतु विग्रह किया जा सकता है।' श्लोक 23 के अनुसार इस प्रकार के कार्य करने वाले की निन्दा नहीं होती। श्लोक 24 के अनुसार जो कार्य श्रेष्ठ और दोनों लोगों में कल्याणकारी हो विद्वान् पुरुष को उसी कार्य का आरम्भ करना चाहिए। अर्थलोलुप बनकर केवल इसी लोक के उपयोगी कार्य का अनुष्ठान नहीं करना चाहिए। श्लोक 25 के अनुसार लोकविरुद्ध कार्य करने वालों का दूर से ही त्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार साधु-कल्याणकारी एवं शास्त्रप्रमाण के अनुकूल कार्य करना चाहिए।

इस प्रकार कामन्दक ने उसी परिस्थिति में विग्रह मान्य घोषित किया है जिसमें विग्रह वर्तमान और भविष्य दोनों कालों में शुभ हो। जिस विग्रह के द्वारा इस लोक और परलोक दोनों का कल्याण होता हो उसी का करना मान्य होगा। लोभ के वशीभूत होकर विग्रह का आश्रय लिया जाना उचित नहीं है।

कामन्दकनीति सर्ग 10 का श्लोक 28 श्लोक 29 विग्रह-फल की चर्चा करता है। विग्रह के तीन फल बतलाए गए हैं–

(1) भूमि,

(2) मित्र,

(3) सुवर्ण।

श्लोक 28 के अनुसार जब विग्रह से इन फलों की प्राप्ति होना निश्चय हो, ऐसी दशा में ही विग्रह करना उचित होगा। श्लोक 29 के अनुसार संसार में धन महान् पदार्थ है, धन की अपेक्षा मित्र का स्थान अधिक महत्वपूर्ण है और भूमि-लाभ मित्र-लाभ से भी श्रेष्ट होता है। भूमि से ऐश्वर्य और ऐश्वर्य से भी बन्धु और सुहृद्गण का लाभ श्रेष्ठ होता है।

सन्धि और विग्रह के पश्चात् कामन्दक ने यान के संबंध में कामन्दकनीति सर्ग 11 के श्लोक 1 के माध्यम से यह कहा है कि बल और वीर्य में उत्कृष्ट, विजयाभिलाषी, जयशील, प्रकृति के, गुणों में अनुरक्त राजा की यात्रा यान कहलाती है।

कामन्दकनीति सर्ग 11 का श्लोक 2 यान के पाँच भेदो का उल्लेख करता है–

(1) विग्रह्ययान

(2) संधाययान

(3) सम्भूययान

(4) प्रसंगयान

(5) उपेक्षायान

कामन्दकनीति सर्ग 11 का श्लोक 3 यह कहता है कि जब कोई राजा अपने शत्रुओं पर अपने बलसहित दमन करने के निमित्त गमन करता है तो इस प्रकार के गमन को विग्रह्ययान कहा जाता है। श्लोक 5 के अनुसार अपने राज्य के पृष्ठ में स्थित शत्रु राजा (पार्ष्णिग्राह) से सन्धि करने के उपरान्त शत्रुराजाओं पर विजय की अभिलाषा से गमन करना संधाययान कहलाता है। श्लोक 7 के अनुसार जब कोई राजा अपने युद्ध निपुण, शक्ति और शौर्य सम्पन्न सामन्तों को साथ लेकर शत्रु पर आक्रमण हेतु गमन करता है तो इस प्रकार के प्रयाण को सम्भूययान कहा जाता है। श्लोक 9 के अनुसार किसी कार्यवश कहीं जा रहा हो, उस बीच में किसी कारण से अन्य किसी राजा पर आक्रमण कर दिया जाए तो इस प्रकार के आक्रमण को प्रेसंगयान कहा जाता है। श्लोक 10 के अनुसार जब कोई बलवान् राजा शत्रु पर आक्रमण करता है और इस आक्रमण का फल विपरीत होता है तो उसकी उपेक्षा को उपेक्षायान कहा जाता है।

कामन्दकनीति सर्ग 11 का श्लोक 13 आसन के संबंध में यह बताता है कि युद्ध के कारण शत्रु और जयशील की परस्पर सामर्थ्य नष्ट होती हो तो उसको नष्ट न करके मौन बैठ रहना आसन कहलाता है। श्लोक 13 भी आसन के पाँच भेद बताता है-

(1) विग्रह्यासन,

(2) सन्धायासन,

(3) सम्भूयासन,

(4) प्रसंगासन और

(5) उपेक्षासन।

कामन्दकनीति सर्ग 11 का श्लोक 14 विग्रह्यासन को दो रुप प्रस्तुत करता है प्रथम रूप में दो राजा एक दूसरे के विरुद्ध आक्रमण हेतु स्थित होते हैं और द्वितीय रूप में शत्रु से विग्रह कर मौन बैठे रहते हैं। श्लोक 17 के अनुसार जब विजयाभिलाषी राजा और उसका शत्रु राजा दोनों युद्ध में क्षीण हो जाएं तो ऐसी परिस्थिति में उन दोनों के मौन बैठ रहने को सन्धायासन कहा जाता है। श्लोक 19 के अनुसार उदासीन और मध्यम राजाओं में अपनी समानता की शंका से मिलकर जो समुत्थान

करना है वह सम्भूयासन कहलाता है। श्लोक 21 के अनुसार अन्य स्थान को गमन की इच्छा से अन्यत्र गमन कर (आक्रमण कर) मौन बैठे रहना प्रसंगासन कहलाता है। श्लोक 22 के अनुसार शत्रु को अधिक शक्तिशाली समझकर उसकी उपेक्षा कर स्थित हो रहना उपेक्षासन कहलाता है।

कामन्दकनीति सर्ग 11 का श्लोक 24 द्वैधीभाव का विचार प्रस्तुत करता हुआ यह कहता है कि यह वह स्थिति है जिसमें राजा शत्रुओं के मध्य वाणी द्वारा आत्मसमर्पण करता हुआ काक के नेत्र के समान कभी किसी ओर और कभी किसी ओर देखने की वृत्ति धारण करता है और उनमें किसी का भी विश्वास नहीं करता है। श्लोक 27 द्वैधीभाव गुण के दो भेद करता है प्रथम स्वतंत्र द्वैधीभाव और द्वितीय परतंत्र द्वैधीभाव।

कामन्दकनीति सर्ग 11 का श्लोक 28 आश्रय की चर्चा करते हुए यह कहता है कि जब बलवान शत्रु उच्छेद कर रहा हो और प्रतीकार का कोई उपाय न दीख पड़े तो ऐसी परिस्थिति में कुलीन, चरित्रवान, सत्यशील, बलवान् आर्य राजा का आश्रय ग्रहण करना, आश्रय गुण को प्राप्त होना है। कामन्दकनीति सर्ग 11 के श्लोक 29 के अनुसार अपने आश्रयदाता राजा के दर्शन में प्रीति प्रदर्शित करना, नित्य उसके भाव में भावित रहना और उसके कार्य सम्पादन हेतु सदैव कटिबद्ध रहना आश्रित राजा के वृत्त के लक्षण हैं।

20.5 उपाय संबंधी विचार

राजा की सफलता के निमित्त षाड्गुण्य मंत्र के साथ-साथ कामन्दक ने उपायों का भी विधान किया है। कामन्दकनीति सर्ग 11 के श्लोक 4 और श्लोक 5 के अनुसार ये उपाय सात हैं–

(1) साम,

(2) दाम,

(3) भेद,

(4) दण्ड,

(5) माया,

(6) उपेक्षा और

(7) इन्द्रजाल।

कामन्दकनीति सर्ग 17 का श्लोक 4 और 5 शत्रु अथवा बिगड़े हुए मित्र को समझा-बुझा कर अपने अनुकूल करने को साम उपाय बतलाता है। साम उपाय के पाँच भेद हैं–

(1) परस्पर उपकारों का कीर्तन,

(2) परस्पर गुण-कार्य की प्रशंसा,

(3) परस्पर सम्बन्ध का आख्यान,

(4) भविष्य के कार्यों का प्रकाश करना और

(5) मनोहर, मीठी और साधु वाणी में "मैं तुम्हारा हूँ" ऐसा कहकर स्वार्पण कर देना।

श्लोक 16 के अनुसार जिस वाणी से दूसरे को उद्वेग न हो वह साम वाणी कहलाती है। साम वाणी सरल, सत्य, प्रिय स्तुतिवाली होती है।

कामन्दकनीति सर्ग 17 का श्लोक 6 और श्लोक 7 दान उपाय की चर्चा करता है। श्लोक 6 के अनुसार शत्रु अथवा बिगड़े हुए मित्र को शान्त करने के निमित्त आश्वासनपूर्ण वचन, भूमि, धन-धान्य आदि के दान का आश्रय लिया जाना दान उपाय कहलाता है। श्लोक 7 के अनुसार दान उपाय के भी पाँच भेद हैं–

(1) अपने शत्रु अथवा बिगड़े हुए मित्र का जो धन-धान्य, द्रव्य आदि देय हैं, उनको ज्यों का त्यों उसे लौटा देना,

(2) अपना जो धन-धान्य अथवा अपनी जो भूमि आदि शत्रु के अधिकार में आ गयी है, उसके दान का अनुमोदन करना,

(3) पूर्व में न दिए हुए अपने द्रव्य अथवा अपनी भूमि आदि का प्रदान,

(4) राज्य से उस शत्रु राजा द्वारा स्वयं धन-धान्य, भूमि आदि ग्रहण कर लेना और

(5) शत्रु से लूट में प्राप्त हुए धन-धान्य आदि का छोड़ देना अथवा जो कुछ कर ग्रहण किया जाता है, उसमें कुछ छोड़ देना।

कामन्दकनीति सर्ग 17 का श्लोक 19 यह बताता है कि जिस उपाय के अपनाने से मित्र अथवा शत्रु राजा में भेद उत्पन्न हो जाय, भेद उपाय कहलाता है। भेद उपाय तीन प्रकार का है–

(1) स्नेह और राग दूर कर देने के साधन अपनाना अर्थात् शत्रु के स्नेही एवं उसके प्रति राग रखने वालों में भेद उत्पन्न करने का प्रयास किया जाता है,

(2) शत्रु में संघर्ष उत्पन्न करना अर्थात् शत्रु को अपनी वास्तविक स्थिति का बोध न होने पाए और वह तथा उसके सहायक अपनी विजय ही समझते रहें, पराजय के कारणों का उन्हें बोध न होने पाए, और

(3) शत्रु के समक्ष तर्जना प्रस्तुत कर शत्रु एवं उसके सहायकों में भय उत्पन्न करना।

कामन्दकनीति सर्ग 17 का श्लोक 17 भेद योग्य पुरुषों के लक्षणों की चर्चा करता हुआ कहता है कि जिस पुरुष को अपनी दी हुई सामग्री अथवा वस्तु का मूल्य नहीं मिला, लोभी, मानी और तिरस्कृत पुरुष, क्रोधी, किसी कारण कुपित पुरुष और तुम्हारे कारण मेरा काम बिगड़ गया, ऐसा कहने वाला– ऐसे पुरुष भेद योग्य होते हैं। श्लोक 8 यह कहता है कि इनका भेद शत्रु को विकलांग कर देने वाला होता है।

कामन्दकनीति सर्ग सर्ग 17 का श्लोक 9 यह बतलाता है कि शत्रु के द्वारा किए जाने वाले अपकार के हेतु उसे दण्डित करने के लिए साधनों का अपनाना दण्डोपाय है। दण्डोपाय के तीन भेद हैं–

(1) शत्रु का वध कर देना,

(2) उसका धन हरण कर लेना और

(3) विशेष शारीरिक विशेष कष्ट देना।

श्लोक 10 के अनुसार दण्ड प्रयोग दो प्रकार का है–

(1) प्रकाशदण्ड और

(2) अप्रकाशदण्ड।

जहाँ प्रकाशदण्ड प्रकट दण्ड है वहाँ अप्रकाशदण्ड गुप्त दण्ड है। प्रजाद्वेषी पुरुषों और शत्रु पर प्रकाश रूप से अर्थात् प्रकट रूप से दण्ड - प्रयोग करना चाहिए। जिन पुरुषों के दण्डित करने से प्रजा उत्तेजित होती है उनको अप्रकाश दण्ड अर्थात् गुप्त दण्ड देना चाहिए। गुप्त दण्ड विष, शस्त्र प्रयोग अथवा विषयुक्त लेपन आदि के द्वारा गुप-चुप रूप से देना चाहिए।

कामन्दकनीति सर्ग 17 का श्लोक 53 तथा श्लोक 54 माया उपाय की चर्चा करते हुए यह कहता है कि इच्छानुसार रूप धारण कर लेना, शस्त्रास्त्र, अश्म या जल की वर्षा करना, अन्धकार में लीन हो जाना माया उपाय कहलाता है।

कामन्दकनीति सर्ग 17 का श्लोक 56 उपेक्षा उपाय की चर्चा करते हुए यह कहता है कि किसी के द्वारा उपकार किए जाने पर भी, विशेष परिस्थिति में उसी की ओर जान-बूझ कर आँखें मीच लेना और मौन रहना उपेक्षा उपाय कहलाता है। उपेक्षा उपाय को स्पष्ट करते हुए कामन्दक ने राजा

विराट का दृष्टान्त दिया है। यह दृष्टान्त इस प्रकार है– "जो अकार्य में व्यस्त था, विषय के कारण जो अन्धा हो रहा था, ऐसे कीचक का वध देखकर विराट ने उपेक्षा की थी।" श्लोक 55 उपेक्षा के तीन भेदों की चर्चा करता है–

(1) अन्याय में उपेक्षा करना,

(2) व्यसन में उपेक्षा करना और

(3) युद्ध में प्रवृत्त हुए का निवारण न करना।

कामन्दकनीति सर्ग 17 का श्लोक 58 तथा 59 इन्द्रजाल की चर्चा करते हुए यह कहता है कि मेघ, अन्धकार , वृष्टि, अग्नि, पर्वत तथा अद्भुत दर्शन और ध्वजापताकासंयुक्त दूर स्थित सेना का दर्शन, छिन्न-भिन्न-पाटित और संस्कृत वस्तु का दर्शन करना इन्द्रजाल कहलाता है। श्लोक 59 के अनुसार इन्द्रजाल के उपाय का आश्रय शत्रु को भयभीत करने के लिए लिया जाता है।

कामन्दक ने उपर्युक्त उपायों के सम्यक् प्रयोग पर बड़ा बल दिया है। कामन्दकक नीति सर्ग 11 का श्लोक 46 यह कहता है कि उपाय से तो मतवाले हाथियों के मस्तक पर भी चरण रख दिया जाता है। श्लोक 47 के अनुसार लोहा अभेद्य होता है परन्तु उपाय से वह भी गला दिया जाता है। श्लोक 49 के अनुसार जल अग्नि को बुझा देता है परन्तु उपाय द्वारा उस अग्नि से ही जल सुखा दिया जाता है। कामन्दकनीति सर्ग 17 के श्लोक 63 के अनुसार राजनयिक को ये सातों उपाय शत्रु की सेना अथवा अपने द्रोहियों में आवश्यकतानुसार प्रयोग करने चाहिए। यदि इन उपायों का आश्रय लिए बिना प्रयाण (युद्ध हेतु गमन) किया जाय तो उसकी चेष्टा अन्धे पुरुष के समान होगी! श्लोक 64 के अनुसार इन उपायों का सम्यक् प्रयोग करने से अवश्य ही सम्पदा बुद्धिमानों के वश में हो जाती है और उनके विधिवत् प्रयोग में राजा को उदारता एवं अर्थसिद्धिवाले फल की प्राप्ति होती है।

20.6 युद्ध संबंधी विचार

कामन्दकनीति सर्ग 17 का श्लोक 54 युद्ध के तीन भेदों की चर्चा करता है–

(1) प्रकाश युद्ध

(2) कूट युद्ध

(3) तूष्णी युद्ध

कामन्दक का मत है कि जब देश-काल अपने अनुकूल हो और शत्रु की प्रकृतियों (अमात्य, कोष, दण्डादि) और उस (शत्रु) में भेद अथवा भिन्न मत हो, ऐसी परिस्थिति में प्रकाशयुद्ध का आश्रय लेना उचित होगा। इसके विरुद्ध परिस्थिति होने पर कूटयुद्ध अथवा तूष्णी युद्ध का आश्रय लिया जाना चाहिए। छल-कपट द्वारा भय खड़ा करना, दुर्गों को ढहाना, लूट-मार करना, अग्निदाह करना, प्रमाद और व्यसनग्रस्त शत्रु पर आक्रमण करना, एक स्थान पर युद्ध रोककर दूसरे स्थान पर छल से मार-काट मचाना कूटयुद्ध के लक्षण हैं। विष एवं औषधिप्रयोग, गुप्त पुरुषों द्वारा वध करना, अथवा भेद लेना तूष्णी युद्ध के लक्षण होते हैं। कामन्दकनीति सर्ग 18 का श्लोक 64, 65 और 66 यह कहता है कि थके हुए तथा रात्रि में सोए हुए शत्रु के सैनिकों का वध कर देना एवं सूर्य के सम्मुख अथवा आँधी के सम्मुख मिची आँखों वाली शत्रुसेना का वध कूटयुद्ध के अन्तर्गत विधि विहित है। कामन्दकनीति सर्ग 18 श्लोक 69 के अनुसार कूटयुद्ध द्वारा शत्रु का वध कर देने से अधर्म अथवा नरक की प्राप्ति नहीं होती। देखिए विश्वासपूर्वक सोयी हुई पाण्डवों की सेना को द्रोणपुत्र ने मार डाला था।

कामन्दकनीति सर्ग 15 का श्लोक 60 यह कहता है कि जिस समय जनता सम्पत्तिसम्पन्न हो, खेतों में धान्य का आधिक्य हो, जल और कीचरहित होने से मार्ग स्वच्छ हो, आम बौरा रहे हों, बनों में शोभा हो रही हो उस समय राजा को शत्रु के राज्य में विजय-कामना से गमन करना चाहिए।

इसके अतिरिक्ति कामन्दकनीति सर्ग 15 का श्लोक 2 और 3 यह आदेश भी देता है कि जिस समय शत्रु व्यसनग्रस्त हो और राजा स्वयं पराक्रम में बढ़ा-चढ़ा हो, ऐसी परिस्थिति में शत्रु पर आक्रमण करना चाहिए। श्लोक 40 के अनुसार मरुभूमि में जल गिरने के समय; अनुपदेश, जलवाले देश, कक्षदेश, दुर्गम देश अथवा दुर्ग– इन पर ग्रीष्म ऋतु में आक्रमण करना चाहिए। मिश्रित देशों पर अपनी सुविधा एवं अनुकूलता को देखकर आक्रमण करना चाहिए।

कामन्दकनीति सर्ग 15 का श्लोक 6 तीन प्रकार के मार्गों की चर्चा करता है

(1) सम मार्ग,

(2) विषम मार्ग और

(3) निम्न मार्ग।

श्लोक 39 के अनुसार समभूमि में अश्वों से तथा विषम भूमि एवं सजल और पर्वतों के स्थान पर हाथियों द्वारा आक्रमण करना चाहिए।

कामन्दकनीति सर्ग 18 का श्लोक 67 ऐसे सात छत्रों (रुंधों) का उल्लेख करता है जिनके कारण मार्ग में आँखों के समक्ष रुंध आ जाता है और सैनिकों की दृष्टि अवरुद्ध सी हो जाती है। इसलिए कामन्दक ने इन्हें शत्रुरूप छत्र बतलाया है। कामन्दकनीति सर्ग 18 के श्लोक 67 के अनुसार ये सप्त छत्र इस प्रकार हैं–

(1) कुहरा,

(2) अन्धकार,

(3) गोधूलि (पशुखुर से उठी धूल)

(4) मेघ,

(5) पर्वत,

(6) वन और

(7) नदी।

कामन्दकनीति सर्ग 8 का श्लोक 57 चार प्रकार के शत्रुवृत्त की चर्चा करता है–

(1) उच्छेदन,

(2) अपचयन,

(3) समय पर पीड़ा देना और

(4) कर्षण।

कामन्दकनीति सर्ग 18 का श्लोक 58, 59 और 60 शत्रु द्वारा नाश किए जाने को उच्छेदन, शत्रु द्वारा-धन-धान्य, द्रव्य, यान आदि के हरण को अपचयन, समय पर शत्रु द्वारा प्रकृतियों का पीड़न किये जाने को पीड़न, कोष और दण्ड से रहित कर देना, महामात्य का वध कर देने को कर्षण कहता है।

कामन्दकनीति सर्ग 8 का श्लोक 65 यह कहता है कि यदि शत्रु का उच्छेदन करने से दूसरे शत्रु के उठ खड़े हो जाने की आशंका हो तो उस शत्रु का उच्छेदन नहीं करना चाहिए, अपितु उसे स्वगोचर (नजरबन्द) रखने की व्यवस्था करनी चाहिए।

इस प्रकार कामन्दक का अन्तरराज्यसम्बन्ध सम्बन्धी विचार मण्डल सिद्धान्त पर आधारित होकर छह गुणों तथा सात उपायों द्वारा कथित के बारे में एक सुस्पष्ट अवधारणा प्रस्तुत करता है। युद्ध के बारे में कामन्दक की व्याख्या सारगर्भित है।

20.7 उपयोगी पुस्तकें

कामन्दकीय नीतिसार–(महाभारतान्तर्गत) स्वर्गीय विद्यावारिथ पं० ज्वालाप्रसाद जी मिश्र (टीकाकार), खेमराज श्री कृष्णदास, 91/109, खेमराज श्री कृष्णदास मार्ग, 6वीं खेरवाड़ी, बैंकरोड कार्नर, मुंबई-400004

20.8 संबंधित प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) कामन्दक के अनुसार राजा की चार श्रेणियाँ कौन-कौन सी हैं ?

(2) षाड्गुण्य मंत्र के छह गुण कौन-कौन से हैं ?

(3) कामन्दक ने किन-किन उपायों की चर्चा की है ?

(4) दण्डोपाय क्या है ?

(5) कामन्दक ने युद्ध के किन-किन भेदों का वर्णन किया है ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(1) कामन्दक द्वारा प्रतिपादित 'मण्डल सिद्धान्त' पर टिप्पणी लिखिए।

(2) विजिगीषु के संबंध में कामन्दक के विचारों की विवेचना कीजिए।

(3) कामन्दकनीति में प्रस्तुत षाड्गुण्य मंत्र के छह गुणों की व्याख्या कीजिए।

(4) उपाय के संबंध में कामन्दक के विचारों का विवेचन कीजिए।

(5) युद्ध के संबंध में कामन्दक के विचारों पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) कामन्दक के मण्डल सिद्धान्त के अनुसार राज्यों की श्रेणियाँ हैं :

(a) एक (b) दो (c) तीन (d) चार

(2) अपनी प्रकृतियों से सम्पन्न, महाउत्साहवान्, परिश्रमशील, विजय की कामना वाले राजा को विद्वानों ने :

(a) विजिगीषु की उपाधि दी है

(b) आक्रन्द की उपाधि दी है

(c) आक्रन्दसार की उपाधि दी है

(d) पार्ष्णिग्राह की उपाधि दी है

(3) मंत्र के गुण है :

(a) तीन (b) चार (c) पाँच (d) छह

(4) शत्रु अथवा बिगडे हुए मित्र को समझा-बुझा कर अपने अनुकूल करना :

(a) साम कहलाता है

(b) दाम कहलाता है

(c) भेद कहलाता है

(d) दण्ड कहलाता है

(5) युद्ध के तीन भेदों की चर्चा करता है :

(a) कामन्दकनीति सर्ग 17 का श्लोक 54

(b) कान्दकनीति सर्ग 17 का श्लोक 55

(c) कामन्दकनीति सर्ग 17 का श्लोकं 56

(d) कामन्दकनीति सर्ग 17 का श्लोक 57

20.9 प्रश्नोत्तर

1. (d) 2. (a) 3. (d) 4. (a) 5. (a)